श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ
संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी
श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली।—

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भंवरीलाल जी जैन पाण्डया,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्डया,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	ज्वालापुर
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	जगाधरी
१३	,,	सेठ गैंदामल दगडू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	,,	मंत्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सा
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन संघी,	जयपुर
२२	,,	मंत्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्डया,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, जैन	गिरिडीह
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर

२७	श्रीमान्	सुखवीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर,	कानपुर
३०	,,	मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,,	संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमक की मंडी,	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,,	झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मोल्हड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३७	,, ❀	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन बजाज,	गया
३८	,, ❀	बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	झूमरीतिलैया
३९	,, ❀	इन्द्रजीत जी जैन, वकील स्वरूपनगर,	कानपुर
४०	,, ❀	सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,	जयपुर
४१	,, ❀	बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
४२	,, ❀	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४३	,, ×	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
४४	,, ×	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला
४५	,, ×	बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला

नोटः— जिन नामोंके पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिनके नामके पहले × ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान , जो मैं हूं वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान , वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान , अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान , बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन , मोह राग रुप दुख की खान ।
निजको निज परको पर जान , फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम , विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम , आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम , मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम , 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

•••०O•••

समयसार प्रवचन पंद्रहवां भाग

संसारी जीवोंकी स्थिति—जब तक प्राणी रागद्वेषकी कठिन तरंगोंसे ताड़ित हुए दुःखी हो रहे हैं और ऐसी स्थितिमें उनके दुःख मिटानेकी कोशिश तो होती है, किन्तु बाह्यदृष्टिको रख कर कोशिश होती है कि मुझे यह पीड़ा इसने दी है, इसका मैं विनाश करूं और जिसने मुझे ये विषय सुख पहुंचाये हैं उससे मैं प्रीति करूं। इस दृष्टिको रखकर बाहरमें खोजकी जा रही है। यह पता नहीं है कि वास्तवमें मेरा सुखदायी कौन है और मेरा दुःखदायी कौन है ? यद्यपि सभी जीव एक स्वरूप हैं, मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। प्रत्येक जीवसे कल्पनामें सम्बन्धित परिजन अत्यन्त जुदे हैं, वहां उनके भावोंके अनुसार परिणमन होता है। कोई किसीमें कुछ अपनी कला नहीं सौंप सकते हैं, फिर भी अपनी कल्पनासे जिसे अपने सुखका कारण माना उसमें राग करने लगा और जिसे अपने दुःखका कारण माना उससे विरोध करने लगा।

गुरु द्वारा भ्रान्तिनिवारण का यत्नः—आचार्य देव यहां समझाते हैं कि अरे भव्य पुरुषों ! जरा तत्त्वदृष्टि बनाओ, रागद्वेषको उत्पन्न करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। सर्व द्रव्योंकी जो अवस्था बनती है वह उस ही द्रव्यके अन्दर विलसित होती है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अन्य समस्त पदार्थोंसे अत्यन्त भिन्न सत्त्व रखता है। एकका दूसरेके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसही रहस्यको पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव प्रकट कर रहे हैं।

अण्णदवियेण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ।
तम्हाउ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

सिद्धान्त और भ्रमका कारण—अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुण का न तो उत्पाद किया जाता है और न विघात किया जाता है, क्योंकि समस्त द्रव्य अपने अपने भावसे ही उत्पन्न होते हैं। लोगोंको भ्रम इस कारण हो जाता है कि एक द्रव्यके विभाव परिणमनमें परद्रव्य निमित्त-भूत है, सो हुआ तो वह बहिरङ्ग निमित्तभूत, क्योंकि अन्य द्रव्यके द्वारा उपादानरूप अन्य द्रव्यका गुण नहीं उत्पन्न किया जाता है और न मेटा जाता, किन्तु इतने मात्र सम्बन्धसे आगे बढ़कर कर्तृत्वका भ्रम कर लिया जाता है। जैसे घड़ेके बनानेमें कुम्हार बहिरङ्ग कारण है, तो बहिरङ्ग

कारण कुम्हारके द्वारा व इन चाकादिकके द्वारा मिट्टीमें कोई गुण पैदा नहीं किया जाता है। मिट्टीका स्वरूप, मिट्टीका गुण किसी अन्य द्रव्यके द्वारा नहीं डाला जाता है। ये बहिरङ्ग निमित्तभूत है अर्थात कुम्हार अपने गुण मिट्टीमें डालकर मिट्टीरूप बन जाय, ऐसा तो नहीं है। फिर मात्र निमित्त सम्बन्धसे आगे बढ़कर लोग कर्तृत्वका भ्रम कर डालते हैं।

परके द्वारा परके घातका अभाव—चेतनका अचेतन रूपसे गुणघात या गुणोत्पत्ति नहीं होती। अचेतनका चेतनरूपसे गुणोत्पाद अथवा गुणविघात नहीं होता, क्योंकि सभी द्रव्य अपने भावसे उत्पन्न होते हैं। जैसे वहां कुम्हार अपने भावसे परिणमन कर रहा है, चक्र चीवरादिक अपनी परिणतिसे परिणमन कर रहे हैं और उस स्थितिमें मिट्टी अपने आपकी परिणतिसे बढ़ रही है, उसमें आकार बन जाता है, घट बन जाता है। यहां निमित्तनैमित्तिक भावका निषेध नहीं है, किन्तु कर्तृकर्म-भाव एक दूसरेका रंच भी नहीं है। और इस वस्तुस्वातंत्र्यकी दृष्टिसे देखा जाय तो प्रत्येक निमित्त उदासीन है, बाहर-बाहर ही लोटता है, कोई प्रेरक नहीं है, पर निमित्तकी क्रियाकी विशेषतावोंपर दृष्टि दी जाती है तो कोई निमित्त प्रेरक मालूम होता है, कोई निमित्त उदासीन मालूम होता है, पर जहां कार्यका प्रसंग है, परिणमनको देखा जा रहा है, वहां प्रत्येक द्रव्य उपादानसे बाहर ही रहता है, और वह चाहे कोई भी क्रिया हो, उनकी क्रियावोंका उपादानमें स्पर्श नहीं होता। इस कारण सब निमित्त उदासीन निमित्त हैं।

विघातव्य विभाव—जितने भी कार्य होते हैं वे उपादान कारणके सदृश होते हैं। मिट्टीमें जो कुछ बना वह मिट्टीकी तरह बना या कुम्हारकी तरह बना ? मिट्टीकी तरह बना। इससे यह सिद्ध है कि पंचेन्द्रियके विषय रूपसे उपस्थित ये शब्द रूपादिक केवल बहिरङ्ग निमित्तभूत हैं, उनका आश्रय पाकर, लक्ष्य करके अज्ञानसे जीवके रागादिक उत्पन्न होते हैं तो भी वे रागादिक जीवस्वरूप ही हैं, शब्दादिक रूप नहीं हैं; चेतनस्वरूप हैं, अचेतन नहीं हो जाते। यह बात इस लिए समझायी जा रही है कि कोई नवीन शिष्य जिसके धर्मकी धुनि तो आयी कि मैं धर्म करूं किन्तु धर्मका मर्म नहीं समझा है, वह तो नहीं जानता मुख्यतासे कि मेरे चित् में ही रागादिक उत्पन्न होते हैं और ये रागादिक ही मुझे पीड़ा देते हैं, मुझे इन रागादिकोंका विजय करना है ऐसा तो नहीं जानते, किन्तु यों सोचते हैं कि ये बाह्य शब्द रूपादिक, परिजन आदिक विभावोंको उत्पन्न करते हैं, इस लिए उनका घात करें, उनका विग्रह करें, वियोग करें। क्यों यह चित्तमें नहीं आता कि मैं अपने आत्मामें उत्पन्न हुए रागादिकका विनाश करूं ?

परमार्थविरोधकी विघातव्यता—किसी पुरुष पर गुस्सा आ जाता है तो यह भावना तो बनती है कि मैं परका विनाश कर डालूं, पर यह भावना नहीं उत्पन्न होती है कि दूसरा पुरुष मुझे अपना विरोधी चाहे मान डाले, पर मैं न विरोधी मानूं। यह जो विभाव है वह बड़ा मलिन और अहितकारी है। मैं इस विभावका विनाश करूं, ऐसा अपने आपपर जो दयाभाव नहीं लाता है उसको यह समझाया गया है कि अन्य द्रव्यका गुण अन्य द्रव्यमें नहीं पाया जाता है, इसी कारण अन्य द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणका विघात अथवा उत्पाद नहीं होता है। तू बाहर संग्रह विग्रह मत कर किन्तु निर्विकल्प समाधिका अनुराग करके भेदविज्ञानके बलसे उन बाह्य पदार्थोंको अपने से न्याराजानो। अपने आपमें ही रागादिक भावोंको दुःखका कारण मान कर इनको दूर करो।

व्यामोह वृष्टि—भैया—यह अज्ञानी जीव कुत्ते जैसी दृष्टि बनाए हुए है। जैसे कुत्तेको कोई लाठी मारे तो वह लाठीको मुंहसे चबाता है। इसमें इतनी अकल नहीं दौड़ती कि मैं इस लाठी मारने वाले पर हमला करूं इसी तरह इस अज्ञानी जीवको ये भाव कर्म पीड़ित करते हैं ये रागादिक परिणाम इसमें कष्ट उत्पन्न करते हैं, ऐसा यह उन कष्टोंके बहिरङ्ग कारण आश्रयभूत बाह्य पदार्थोंका तो संग्रह विग्रह करता है, किन्तु यह नहीं जानता कि मेरे पर आक्रमण करने वाला तो मेरा अज्ञान भाव भाव है। ये दूसरे मनुष्य जो मुझसे अत्यन्त पृथक् हैं ये मेरेमें क्या करते हैं ऐसा न जानकर अपने आपमें अज्ञान बुद्धिसे परका संग्रह विग्रह करके वासना बना डालता है।

भोगव्यामोहवृष्टि—इस अज्ञानी जीवके भोगके सम्बन्धमें भी कुत्ते जैसी दृष्टि है। जैसे श्वान कहीं से सूखी हड्डी पा ले तो उस हड्डीको मुँह में दबाकर एकान्तमें पहुंचता है और उस हड्डीको खूब चबाता है। उसके चबाने से कुत्तेकी दाढ़में से खून निकलता है, उस खूनका कुछ स्वाद भी आता है तो वह मानता है कि मुझे इस हड्डीसे सुख मिल रहा है और लोभसे उस हड्डीको वह एकान्तमें ले जाकर चबाता है, उसे सुरक्षित रखता है और कर रहा है अपने मसूड़ोंपर प्रहार। कोई दूसरा कुत्ता आ जाय तो वहगुर्राता है, यह मेरी हड्डी न छीन ले। इसी तरह संसारके जीव पाते तो हैं अपने आनन्द गुणके परिणमनमें सुख, चाहे वह विकार परिणमन सही, किन्तु मानते हैं कि मुझे यह सुख अमुक विषयसे आया। सो विषयभूत बाह्य पदार्थोंका वह संचय करता है, उनकी वृद्धि करता है और परदृष्टि कर करके हैरान होता है। यह है अज्ञानी जीवकी वृत्ति। उनके सम्बोधनके लिए पहिले जो कुछ वर्णन किया गया था उस ही के

समर्थनके रूपमें यह कहा जा रहा है कि अन्य द्रव्योंके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणका उत्पाद अथवा विघात नहीं होता। इसलिए क्यों तू परके संचय और विग्रहमें लगा हुआ है ?

कर्ता कर्मकी अभिन्नता—भैया ! व्यवहारमें तो यह भेद कर दिया जाता है कि अमुक निमित्तने अमुक उपादानमें देखो यह कार्य किया ना, यह व्यवहारसे तो भेद हो जाता है, पर उसका अर्थ भी परमार्थसे अविरोध करता हुआ होना चाहिए। निश्चयसे देखा जाय तो जो कर्ता है वह ही कर्म होता है। कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं हैं। जीवमें जो रागादिक होते हैं उनको परद्रव्य उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं। जीवमें रागादिकोंको परद्रव्य उत्पन्न कर सकें ऐसी रंच शंका न करना, क्योंकि अन्य द्रव्योंके द्वारा अन्य द्रव्योंके गुणका उत्पाद अथवा विघात किया ही नहीं जा सकता। सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं।

निमित्त स्वभावसे उपादानका अनुवाद—अच्छा बताओ भैया ! मिट्टी का घड़ा बन गया तो क्या वह मिट्टी कुम्हारके स्वभावसे घड़ारूप उत्पन्न हुई ? मिट्टीके स्वभावसे ही घड़ारूप बना अर्थात् उस घड़ेमें मिट्टीके स्वरूप की तन्मयता है या कुम्हारके स्वरूपकी तन्मयता है ? यदि वह मिट्टी कुम्हार के स्वभावसे घड़ा रूप बन जाय तो बतावो घड़ा किस आकारका बनना चाहिये ? जैसा फैलफुट कुम्हार है, ऊटपटांग हाथ फैलाए हुए, जैसा वह कुम्हार अपने निर्माणके प्रसंगमें जिस आकारका है उस आकारका घड़ा बनना चाहिए और फिर इतनी ही बात नहीं है, उसमें ज्ञान भी आनी चाहिए, क्योंकि कुम्हारके स्वभावसे घड़ा बना है ना। फिर तो खेलके बिच्छू न बनेंगे, बिच्छू बनेंगे और दौड़ने लगेंगे, क्योंकि बनाने वाले आदमीके स्वभावसे वे सब उत्पन्न हो गए, किन्तु ऐसा तो नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्यके स्वभावसे अन्य द्रव्यके परिणमनका उत्पाद नहीं देखा जाता है। ऐसी बात है ना। ध्यानमें आया ना ? हां। तब ऐसा मानो कि घड़ा कुम्हारके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होता, वह घड़ा मिट्टीके स्वभावसे ही उत्पन्न होता है, क्योंकि अपने ही स्वभावसे द्रव्यके परिणमनका उत्पाद देखा जाता है। कोई भी पदार्थ अपने स्वभावका उल्लंघन नहीं कर सकता।

भैया ! बहुतसे लोग तो बड़ी अवस्थामें और वृद्धावस्थामें यह सोच कर दु:खी होते हैं कि मैंने तो इतना परिश्रम करके पढ़ाया लिखाया इस बेटेको और इतना धन सौंपा है, धनी बनाया है और आज यह हमारी बात नहीं मानता। इसका दु:ख ज्यादा है, बेटोंका दु:ख कम है। तो यह दु:ख उनको मूढ़तासे होता है। यह पक्की बात है कि नहीं ? पक्की बात

है, क्योंकि बापने उस बेटेको नहीं पढ़ाया और न ही धनी बनाया, किन्तु पुत्रके पुण्यका उदय था जिससे यह बाप चाकर बन कर निमित्त बना था। अब कोई चाकर जो राजाका सेवक हो और वह अभिमान करे कि मैंने देखो राजाको इतनी तो सुविधाएं दीं, इतनी तो राजाकी मैं सेवा करता हूं और यह मेरी ओर निहारता तक भी नहीं है तो वह सब अज्ञानता है। यदि वह यह बुद्धि रखे कि मैं तो एक अमूर्त ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूं। यह तो केवल अपने भाव कर सकता है। इसने सारी जिन्दगी भर केवल अपना परिणाम ही किया। इसके अतिरिक्त किसी अन्य चीज में उसका कुछ कर्तृत्व नहीं होता, ऐसी बुद्धि रहे तो वृद्धावस्थामें क्लेश नहीं रह सकते हैं।

प्राकृतिक व्यवस्था और ज्ञानभावनाका फल--लोग सोचेंगे कि बड़ा उलटा काम हो गया, यह आदमी पैदा होते ही बूढ़ा बनता, इसके बाद बनता बच्चा और मरते समय रहता जवान, तो क्योंजी, यह प्रस्ताव आपको मंजूर है ना ? मंजूर होगा, पर ऐसा नहीं होता कि पहिले पैदा हो तो बूढ़ा हो, फिर मरते समय जवान रहे, ऐसा नहीं होता। यह तो बूढ़ा होकर मरता है। अब बूढ़ा होकर मरते समय वे बातें ज्यादा उपभोगमें आती हैं जिन बातोंमें अपनी सारी जिन्दगी बितायी। तो यदि ज्ञानभावनामें जिन्दगी व्यतीत हुई है तो वृद्धावस्थामें ज्ञानभावना बढ़ेगी और मोहवासनामें जिन्दगी बितायी है तो वृद्धावस्थामें मोहवासना बढ़ेगी। अब बताओ मोहवासनामें ही मरकर कौनसा वैभव लूट लोगे ? और ज्ञानभावना सहित मरण हो तो ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि अगला भव सम्पन्न और धार्मिक मिलेगा।

निजस्वभावकी अनुल्लंघनीयता—भैया ! अपने-अपने स्वभावका कोई द्रव्य उल्लंघन नहीं करता है। इस कारण जैसे कुम्हार घड़ेको उत्पन्न करने वाला नहीं है इसही प्रकार ये बाह्य पदार्थ शब्दादिक जीवके रागादिकोंको नहीं उत्पन्न करते, किन्तु जैसे मिट्टी कुम्हारके स्वभावसे घड़ा रूप नहीं बनी है, अपने ही स्वभावसे घड़ा रूप बनी है, इसी प्रकार यह जीव विषयोंके स्वभावको छूता हुआ अपनी ही विभाव प्रकृतिसे रागादिक रूप बनता है, किसी दूसरेपर सुधार बिगाड़का ऐहसान देना कोरा व्यामोह है। प्रत्येक दुःखमें अपने अपराधकी दृष्टि जानी चाहिए। दूसरेके अपराधसे कोई दूसरा दुःखी नहीं होता, परन्तु जैसे अपनी आंखका टेंट अपनेको नहीं दीखता दूसरेके आँखकी छोटीसी फूली भी खूब दीखती है, इसही प्रकार इस मोही जीवको अपने आपका अपराध नहीं दिखता है और दूसरेका अपराध हो अथवा न हो, अपनी भावनाके अनुसार वे दूसरेके

दोष दीखा करते हैं। पर यह निर्णय रखना कि मुझे जो भी क्लेश होता है वह मेरे ही अपराधसे होता है। दूसरेके अपराधसे नहीं होता है।

निमित्तसे पृथक् उपादानका परिणमन—जब मैं दुःखी होता हूं तब यह मैं आत्मपदार्थ अन्य द्रव्यके स्वभावको न छूता हुआ केवल अपने ही परिणमनमें तन्मय होता हुआ दुखी हुआ करता हूं। इसी प्रकार समस्त द्रव्य अपने ही परिणमन पर्यायसे उत्पन्न होते हैं, उनके विषयमें जरा विचार तो करिये। क्या ये पदार्थ निमित्तभूत परद्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न होते हैं या अपने ही स्वभावसे उत्पन्न होते हैं? किसी मनुष्यने मान लो इस अंगुलीको टेढ़ी कर दिया तो यह अंगुली अपने परिणमनसे टेढ़ी हुई है या दूसरेके परिणमनसे टेढ़ी हुई है। प्रत्येक पदार्थ अपने ही भावोंसे अपना परिणमन किया करता है। तो जब निमित्तभूत उस द्रव्यके स्वभाव से उत्पन्न नहीं होता है तो अब यह दृष्टि लावो कि यह मैं आत्मा परद्रव्य का निमित्त मात्र पाकर अपनी ही अज्ञान कल्पनासे अपने आपमें अपने को दुःखी किया करता हूं। दूसरा कोई दुःखी नहीं करता।

अज्ञानवृत्ति, निर्णय और शिक्षा—भैया! जरा बच्चोंके रिसानेको तो देखा करो, वे किसी मूल मुद्दे पर नहीं रिसाया करते हैं, वे तो जो मनमें अटपट आया उसीमें रिसाया करते हैं। इसी तरह ये अज्ञानी मोही अटपट जिसका कोई आत्मासे सम्बन्ध नहीं, ऐसी परवस्तुवोंकी घटनावोंमें रूसा करते हैं, राग किया करते हैं। परवस्तुके स्वभावमें देखो, उनकी स्वतंत्रता निरखो। किसी द्रव्यके द्वारा किसी अन्य द्रव्यके गुणका न उत्पाद होता है और न विघात होता है। यदि निमित्तभूत परद्रव्यमें स्वभावसे यह उपादान उत्पन्न होने लगे तो निमित्तभूत परद्रव्यके आकारमें ही इसका परिणमन होगा किन्तु ऐसा देखा ही नहीं जा रहा है। इससे यह मानना कि प्रत्येक पदार्थ निमित्तभूत परद्रव्यके स्वभावसे उत्पन्न नहीं होते, किन्तु अपने ही स्वभावसे उत्पन्न होते हैं। इससे यह शिक्षा लेनी है कि मेरा मैं ही निर्माता हूं, ज्ञान भावनामें रहूं तो ज्ञानमय सृष्टि होगी और अज्ञान भावनामें रहूं तो अज्ञानमय सृष्टि होगी। अपना कुछ ध्यान न जाना, दूसरोंके पीछे अपना विघात करना, आकुलता करना—ये सब अज्ञानमय सृष्टियां हैं। परका तो कुछ किया नहीं जा सकता। यह तो मात्र अपने आपकी सृष्टि रचता हुआ चला जाता है। अब कुछ विराम लें, इन झगड़ों को कम करके अपनी ओर दृष्टि दें और अपने स्वरूपमें विश्राम पायें।

वस्तुगत निर्णय—लोकमें जितने भी पदार्थ हैं वे परिपूर्ण सत् हैं। सत्का लक्षण बताया है—उत्पादव्ययध्रौव्य युक्तं सत्। जो उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे सहित हो उसे सत् कहते हैं। पदार्थमें स्वयं ऐसी प्रकृति पड़ी है

कि वे प्रति समय उत्पन्न होते हैं और पूर्व पर्यायोंका उनमें विलय होता है फिर भी वे शाश्वत ध्रुव रहा करते हैं। जब पदार्थका ही इस प्रकारका स्वभाव है तो उसमें कोई दूसरा क्या करे ? प्रत्येक पदार्थ जो विभावरूप परिणत हो रहे हैं वे निमित्तभूत परद्रव्यको छूते नहीं, उनका निमित्त मात्र पाकर अपने आपके परिणमनसे परिणमते हैं। इससे यह निर्णय करना कि परद्रव्य जीवके रागादिक भावोंका उत्पादक नहीं है। जब कोई परद्रव्य मेरे रागादिक भावोंका उत्पादक नहीं है फिर मैं किसके लिए क्रोध करूँ ? जितने जो कुछ भी रागद्वेष उत्पन्न होते हैं उनमें दूसरोंका रंच दूषण नहीं है। यह स्वयं ही वहां अपराधी है इस कारण दुःखी होता है।

मिथ्या आशयकी क्लेशोत्पादकता—जिसकी ऐसी दृष्टि है कि दूसरे मुझे दुःखी करते हैं उसकी दृष्टि मिथ्या है। परद्रव्य परजीवको किसी भी प्रकारसे दुःखी नहीं करता। हां दुःखी होनेका आश्रयभूत हो सकता है, परन्तु जीव तो मेरे दुःखादिकमें निमित्त भी नहीं होते। मेरे दुःख आदिक परिणमनोंमें कर्मोंका उदय निमित्त है और ये बाह्यविषय कल्पनाके आश्रयभूत हैं, ज्ञेय हैं। परपदार्थ तो सदा ज्ञेय ही रह पाते हैं किन्तु उनमें जब यह जीव कल्पना करके अपनेमें इष्ट और अनिष्ट भाव बनाता है तो यह दुःखी होता है। तो यह जीव स्वयं ही अपराधी होता है और वहां अज्ञान का प्रसार होता है। सो कहते हैं कि यह अज्ञानभाव अस्तको प्राप्त हो और यह मैं तो बोध मात्र हूं। जो जीव रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यको ही निमित्त मानता है उसके शुद्ध ज्ञान विधुर हो गया है, जुदा हो गया है। अतएव उनकी बुद्धि अंध है, वे मोहवाहिनी को कभी नहीं तैर सकते।

विकल्पोंकी अपनायत—भैया ! यह बात निश्चित हो चुकी है कि आत्माका दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण अचेतन विषय कर्म और शरीरमें नहीं हैं, बाह्य वस्तुओंकी ओर दृष्टि देकर केवल अपना घात ही किया जा रहा है। जो लोग परकी ओर ही दृष्टि रखकर धर्मबुद्धिसे परका त्याग करते हैं वे भी अपना बचाव नहीं कर पाते हैं। उनका वहां भी घात हो रहा है। कोई परद्रव्यको अपनानेका विकल्प करता है और उस विकल्प को अपनाता है तो कोई परद्रव्यकी तैयारी करनेका विकल्प करता है और उस विकल्पको अपनाता है। परवस्तु तो आत्मामें थी ही नहीं, फिर दूर ही क्या होगी ? केवल अपनाने का भाव करता था। सो पहिले परवस्तुको अपना माननेके विकल्पको अपनाता था, अब परवस्तुके त्यागके विकल्पको अपनाता व चीज जहांकी तहां रही। थोड़ा बाहरी क्षेत्रका अन्तर पड़ा है।

उक्त कथनसे शिक्षण—यहां उन मुग्ध पुरुषोंको समझाया जा रहा है कि मर्मकी बात तो समझो बाह्य वस्तुवोंका घात नहीं करना है, किन्तु

अपने चित्तमें रहने वाले रागादिक विकल्प दूर करने हैं। इन शब्दादिक विषयोंमें तेरा गुण या अवगुण नहीं है। तू उन विषयोंकी ओर क्यों आसक्त होता है या परवस्तुके संचय और विघातका विकल्प करता है? इस शिक्षाको विशेष वर्णनके साथ समझानेके लिए आचार्यदेव कहते हैं।

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति विविहाणि।
ताणि सुणिऊण तूसदि रूसदि अहं पुणो भणिदो ॥३७३॥

पौद्गलिक वचनोंमें रोष तोष क्यों—निन्दाके और स्तवनके वचन ये पुद्गलरूप हैं, ये नाना प्रकारके पुद्गल परिणमते हैं, उनको सुनकर तू ऐसा मानता है कि यह बात मुझको कही गयी है और ऐसा मानकर तू रुष्ट होता है या तुष्ट होता है। बात तो बातकी जगह है, अन्य पुरुष अन्य पुरुषकी जगह है, यह सुनने वाला अपनी जगह है, किसीका किसीसे मेल नहीं है, फिर भी यह अज्ञानी जीव ऐसा विकल्प बनाता है कि यह मुझको कहा गया है अतः इन विकल्पोंके कारण रुष्ट होता है, तुष्ट होता है। यह ऐब प्रायः सब मनुष्योंके घर कर गया है, विशेष क्लेश और है ही किस बातका? अमुकने यों बोल दिया, अमुकने यों कह दिया।

मलिनाशय व वचनविवाद—भैया! पड़ौसियोंमें क्यों बात नहीं बनती है, उनका कुछ धन पैसेके लेन देनका हिसाब तो है नहीं किन्तु एक वचनों का झगड़ा है और हो भी और बातोंका झगड़ा तो वे गौण हैं। न कुछ हैं और बातोंका झगड़ा मुख्य हो जाता है, इसने ऐसा कह क्यों लिया? हम तो तब गम खायेंगे जब इसका खपरा भी बिकवा लेंगे, ऐसी हठ बन जाती है। वह केवल बात बातका ही विवाद है। यह मूढ़ जीव समझता है कि मुझको कहा गया है। क्यों समझता है ऐसा कि इसके अन्दर चोर पड़ा हुआ है, अपराध पड़ा है, इस कारण मानता है कि इसने मेरी प्रशंसा कर दी और इसने मेरी निन्दा कर दी।

भीतरका चोर—एक छोटी सी कथानक है कि दो चोर कहीं चोरी करने जा रहे थे। एक नये आदमी ने रास्तेमें पूछा कि कहां जा रहे हो? कहा चोरी करने। इससे क्या होगा? दो मिनटमें ही पराया माल अपना हो जायेगा। मुझे भी संगमें ले लो। अब तीसरा भी साथ हो गया, पर उसे चोरी करनेकी कला मालूम न थी। सो तीनों घुस गए एक बुड्ढेके घरके बीचमें। उस बुड्ढेकी आवाज सुनकर दो चोर तो तुरन्त भाग गए। इस तीसरे ने भागनेकी जगह न देखी तो ऊपर एक न्यारी पड़ी थी उस पर जाकर बैठ गया गया। बुड्ढे ने हल्ला मार दिया। पड़ौसके लोग इकट्ठे हो गए। पूछते हैं लोग कि वे चोर कहांसे आए, कोई पूछता कि क्या गया? कोई पूछता कि कब मालूम पड़ा कि चोर आए हैं, कोई

पूछता कि कहांसे निकल गए ? तो जैसे किसी त्यागी पुरुषसे कम अकल वाले लोग पूछा करते हैं कहांसे आये महाराज, आपका घर कहां है, आपकी शादी हुई कि नहीं, कितने दिन रहेंगे, कब जायेंगे, व्यर्थकी वातें पूछते हैं। अरे त्यागीसे तो इतनी वात पूछो कि जितनी वात दूसरोंसे पूछनेमें न मालूम पड़े। अगर किसी और भाईसे पूछने पर मालूम पड़ जाय कि महाराज कहांसे आये तो महाराजसे पूछनेकी क्या जरूरत है ? तो जैसे अटपट वहुतसे प्रश्नोंका तांता लग जाता है इसी प्रकार उस बूढ़ेसे लोग व्यर्थकी वातें पूछें। सो वह खीझ गया और बोला कि हम क्या जाने, इसको ऊपर वाला जाने। उसका मतलव था ऊपर वाला याने भगवान। अव वह म्यारी पर वैठा हुआ तीसरा नया चोर कहता है कि हूं ? ऊपर वाला ही क्यों जाने और जो दो साथमें आए थे वे क्यों न जानें ? वह पकड़ गया।

प्रवृत्तिमें निजवासनाकी प्रेरणा—तो जैसे उस बूढ़ेने कहा और उसने माना कि मुझे कहा, इसी तरह यह मनुष्य प्रशंसा करता है तो वह कहता है और कुछ, और यह मानता है कि मेरी प्रशंसा की, सो खुश होता है अथवा ऐसा सोचता है कि मेरी निन्दाकी सो दुःखी होता है। लोग किसीको कुछ नहीं कहते, वे तो अपने कपायकी वात कहते हैं। जैसे विवाह में छटांक भर वताशोंके खातिर स्त्रियां सारी रात वड़ी तेजीसे गीत गाती हैं, इतना परिश्रम करती हैं कि पसीने से लथपथ हो जाती हैं, मेरा दुलहा वना जैसे राम, ऐसा गाती हैं। कोई बुड्ढू दूलहा हो तो कहो वह समझ जाय कि मेरी प्रशंसा स्त्रियां कर रही हैं तो कहीं वह गलेका गुञ्ज उतार कर दे दे। पर वे स्त्रियां कुछ नहीं कर रही हैं। वे तो छटांक आध पाव वताशोंके खातिर इतना परिश्रम कर रही हैं। कहीं दूलहा घोड़ेसे गिर जाय और उसकी टांग टूट जाय तो उन स्त्रियोंकी वलासे। सो यहां कोई किसीकी प्रशंसा निन्दा नहीं करता है, पर सभी अपनी-अपनी कल्पनासे अपना भाव लगाते फिरते हैं। क्या कहा इसने, इसको समझता कोई नहीं है। जिसने प्रशंसा की उसमें कपाय है, स्वार्थ है, कृतज्ञता है, कुछ वात है इसलिए अपनी कपाय प्रकट की है। मुझे कुछ नहीं कहा, ऐसा यथार्थ कोई नहीं समझता है। लोग तो अपने-अपने भावोंके अनुसार उसका मतलव लगा वैठते हैं।

वहिरोंका मनमाना अर्थ—एक वकरी चराने वाला गड़रिया छोटी छोटी पहाड़ियोंपर वकरी चरा रहा था। दोपहरके १२ वजे उसे घर रोटी खाने जाना था। एक मुसाफिर आता हुआ उसे मिला। सो वकरी वाला उस मुसाफिरसे वोला कि ऐ मुसाफिर, तू दो घंटेके लिए हमारी वकरियां देखे

रहू, मैं घरसे रोटी खा आऊँ। मुसाफिर था बहिरा और भाग्यसे वह बकरी चराने वाला भी बहिरा था। सो वह कुछ सेंस समझ गया कि घर रोटी खाने जानेको कहता है, सो वह बकरी ताकने बैठ गया। दो घंटेके बादमें वह आ गया। सोचता है कि मुसाफिरने मेरी बड़ी खिदमत की। अब इसके एवजमें हमें क्या देना चाहिए? कोई ज्यादा सेवा तो की नहीं, दो घंटे बैठा ही रहा सो एक टांग टूटी बकरी थी कहा कि इसे दे दूं। टूटी टांग वाली बकरीका कान पकड़ कर मुसाफिरको देने लगा कि यह ले लो, तो मुसाफिरने जाना कि यह बकरी वाला कह रहा है कि तुमने हमारी बकरी की टांग क्यों तोड़ी? तो मुसाफिर बोला कि वाहरे वाह, हमने दो घंटे तुम्हारी बकरियां ताकीं और फिर भी हमसे कहते हो कि बकरीकी टांग क्यों तोड़ी। बकरी वाला भी बहिरा था, सो उसने समझा कि यह कह रहा है कि मैं टूटी टांग वाली बकरी क्यों लूँ, मैं तो अच्छी बकरी लूँगा तो बकरी वाला बोला कि वाह अच्छी बकरी देने लायक श्रम तुमने नहीं किया हम तो लूली ही बकरी देंगे। दोनोंमें झगड़ा होने लगा। तो कहा अच्छा चलो दूसरेके पास न्याय करा लो। सो दोनों चले।

उन दोनोंको याने गड़रिया व पथिक को रास्तेमें एक मिला घुड़सवार। भाग्यसे घुड़सवार भी बहिरा था। सो दोनों ने अपनी-अपनी फरियाद की। मुसाफिर बोला कि दो घंटे तो हमने इसकी बकरी ताकी और यह कहता है कि तुमने हमारी बकरी की टांग तोड़ दी। तो बकरी वाला कहता है कि आखिर दो घंटे बैठा ही तो रहा, इसे मैं अच्छी बकरी कैसे दे दूं? तो घुड़सवारने यह समझा कि ये कहते हैं कि तुम यह घोड़ा चुरा लाये हो। तो वह कहता है कि भगवानकी कसम! घोड़ा हमारा खरीदा हुवा भी नहीं है, मेरी घरकी घोड़ीसे ही पैदा हुआ यह बछेड़ा है, मैंने नहीं चुराया है। भगवानकी कसम तो सस्ती होती है, जल्दीमें हर एक कोई बोल देता है। अब तीनोंमें लड़ाई होने लगी। तो तीनों बोले कि चलो चौथेके यहां निपटारा करें।

अब वे तीनों गये गाँव। सो एक पटेलके पास पहुंचे। क्योंकि गाँव का मुखिया पटेल होता है। तीनोंने अपनी-अपनी फरियाद शुरू की। भाग्यसे वह पटेल भी बहिरा था, उसी दिन उसके घर लड़ाई हो गयी थी। सो तीनोंने अपनी-अपनी बात कही। पटेलने यह जाना कि हमारे घरमें लड़ाई हो गई है सो ये सुलह करा रहे हैं। सो पटेल डंडा उठाकर बोला कि यह तो हमारे घरका मामला है, तुम लोग फैसला करने वाले कौन होते हो? सो जैसे बहिरे लोग दूसरेकी बात तो ठीक-ठीक सुन नहीं सकते और कल्पनासे अर्थ लगाकर अपनी चेष्टा करते हैं, इसी प्रकार यह अज्ञानी

जीव दूसरेकी बात सही तो सुन नहीं पाते कि ये क्या कह रहे हैं ? यह बात ठीक तौरसे अज्ञानियोंको सुनाई नहीं देती है और अपनी कल्पनाके अनुसार वे अर्थ लगा बैठते हैं। की तो दूसरे ने है निन्दा और मान बैठते हैं कि प्रशंसा की है।

प्रशंसाके भेषमें निन्दाकी अगवानी--जैसे कोई कहता है कि फलां सेठ साहबका क्या कहना है, उनके चार लड़के हैं—एक मास्टर है, एक डाक्टर है, एक कलक्टर है और एक मिनिस्टर है। ऐसा सुनकर सेठजी खुश होते हैं कि इसने मेरी प्रशंसा की और की गई है इसमें सेठ जी की निन्दा कि सेठ जी के लड़के तो इतने ओहदों पर हैं और सेठ जी कोरे बुद्धू हैं। इसी तरह किसी ने कहा कि देखो फलाँ सेठ जी की हवेली कितनी सुन्दर है। इसको सुनकर सेठ प्रसन्न होता है कि इसने हमारी प्रशंसा की और हो गई इसमें निन्दा याने ये जनाब ऐसे तीव्र मिथ्यादृष्टि हैं कि इनके मकानकी कर्तृत्वबुद्धि लगी है, ये यह मानते हैं कि मैंने मकान बनवाया, सो वे तो बेवकूफीका समर्थन करने आए हैं लेकिन मानते हैं कि इन्होंने मेरी स्तुति की है अथवा कोई किसी प्रकार स्तुति करे, उसमें दूसरेने केवल अपने आपमें बसी हुई कषायको ही प्रकट किया है और कुछ नहीं किया। इसी तरह ये अज्ञानी जीव मानते हैं कि इसने मेरी निन्दा की है। अरे दूसरेने निन्दा नहीं की है, या तो प्रशंसा की है या ठीक रास्ते पर लानेके लिए शिक्षा दिया है, किन्तु यह अज्ञानी जीव अपनी कल्पनाके अनुसार अर्थ लगाकर रुष्ट होते हैं।

संसारके अयोग्य—किसी ने अगर कह दिया कि तू नालायक है तो इसे सुनकर तो उसे धन्यवाद देना चाहिए। क्योंकि वह तो कह रहा है कि हम जैसे बेवकूफोंकी गोष्ठीके लायक तू नहीं है। तू तो तपस्वी, मोक्षमार्गी है, तू हम जैसे मोही लोगोंके बीचमें रहने लायक नहीं। ऐसे नालायक तो मोक्षमार्गी जीव होते हैं वे यहाँ रहने लायक नहीं हैं। यहाँसे चलकर मोक्षमें विराजते हैं। पर यहाँ तो उसका अर्थ यह लगाते हैं कि मेरी निन्दा की अथवा किसी बातको बोलकर कुछ अपराध भी बताता हो कोई तो वहाँ केवल यह शिक्षा दे रहा है, तुम्हारा छीन क्या लिया ?

निन्दककी उपकारशीलता—भैया ! दूसरेकी निन्दा करने वाले ने दूसरेकी तो की नरकसे रक्षा और खुद उसके एवजमें वह नरकमें चला जानेको, अपने को दुर्गतिमें भेजनेको तैयार हो गया, सो यह उसका कितना बड़ा उपकार है, पर उसको सुनकर ये अज्ञानी व्यामोही जीव ऐसा अर्थ लगाते हैं कि यह मुझको कहा गया है और ऐसा जानकर किसी बात पर रुष्ट होते हैं और किसी बात पर संतुष्ट हो जाते हैं, किन्तु ऐसा

करना अज्ञानका ही विपाक है। अरे उन परद्रव्योंमें, उन शब्दादिके विषयोंमें तेरा कुछ भी नहीं है। उन विषयोंके खातिर तू अपना घात क्यों कर रहा है? तू अपने स्वरूप को देख और स्वरूपमें ही रमनेका यत्न करके अपने अमूल्य समयको सफल कर।

पोग्गलदव्वं सद्दत्त परिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो।
तम्हाण तुमं भणिदो किंचिवि किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥

भाषावर्गणाके स्कंध—जब कि शब्दरूपसे परिणत हुए पुद्गल द्रव्य व उसके गुण भिन्न ही हैं तो उस शब्द द्वारा तुम नहीं कहे गये, फिर अज्ञानी बनकर क्यों रोष करते हो? लोकमें भाषावर्गणा जातिके पुद्गल द्रव्य हैं, उनका अनुकूल संयोग वियोग होने पर वे शब्दरूप परिणत हो जाते हैं। यदि मुँह कंठ ओठ जीभ जैसे लचकदार हैं उस तरहके कार्य कर सकने वाले कोई अंग बनाए जा सकते होते तो उसके प्रयोगसे भी ये शब्द निकाले जा सकते हैं। जैसे कि ये कंठ, तालु, ओंठ आदिके सम्बन्ध से और श्वासके सम्बन्धसे शब्द निकलते हैं, वे भाषावर्गणा जातिके शब्द हैं। जो पुद्गल स्कंध हैं, वे अपने आपमें हैं, अपनेमें परिणत होते हैं, उनमें तुम कुछ भी नहीं कहे गए, फिर क्यों कल्पना करते हो कि मुझे अमुकने यों कह दिया। अरे तुम्हें तो यहाँ कोई जानने वाला भी नहीं है, फिर तुम्हारे लिए कोई क्या कहे और ये शब्द तो अचेतन हैं, ये तो किसी को कहेंगे ही क्या? ये तो शब्द हैं।

शब्दोंका आशयवश अर्थ—जैसे इंजन चलता है तो उससे आवाज आती है, अभी यहींसे सुबह गाड़ी जाती है तो चलते हुएमें हमें ऐसी आवाज लगती है कि यह कहती है कि "हमका कत खुदको देखो" ऐसी आवाज निकलती हुई मालूम होती है। हम उस इंजनसे कोई और कुछ अर्थ लगाते हैं। बड़े इंजिनकी आवाजका अर्थ जबलपुरके लोग लगाते हैं कि जबलपुरके छै छै पैसे। तो जिसकी जैसी भावना है वैसा ही वह अर्थ निकाल लेता है। तो गाली देने वाले ने तो अपने भीतरकी पोल जाहिर की है। उसने तुम्हें कुछ नहीं कहा। उसमें जो वासना भरी है, कषाय भरी है उसको उगला है। तो तुम क्यों उन शब्दोंको सुनकर रोष करते हो? नामका संस्कार इन जीवोंमें ऐसा घना पड़ा हुआ है कि यद्यपि नाममें कुछ धरा नहीं है, वे अक्षर ही हैं, यहांके वहां जोड़ दिए गए हैं पर उसमें तो लोगोंको अपनी मूर्ति दिखायी देती है कि यह मैं हूं। मुझको अमुकने यों कह दिया। अरे वह बेचारा स्वयं संसारमें रुलने वाला अज्ञानी है, वह तो मुझ आत्मतत्वको जानता ही नहीं है। वह मुझे क्या कहे?

स्वरूपकी संभाल बिना सर्वत्र विपत्तियां—भैया ! अपने स्वरूपकी जब संभाल नहीं है तो चारों ओरसे संकट घिर जाते हैं, और अपने स्वरूपकी संभाल है तो कोई संकट नहीं है। जिसे आप कठिनसे कठिन परिस्थिति कहते हो, टोटा पड़ जाय, घर बिक जाय, घरका कोई इष्ट गुजर जाय, मित्रजन विपरीत हो जाएँ, रिश्तेदार मुँह न तकें, और और भी बातें लगा लें, जो भी खराबसे खराब परिस्थिति यहाँ मानी जाती है तो सबको लगालो। उस समय भी यदि इस जीवको सबसे निराले ज्ञानमात्र अपने स्वरूपकी खबर है तो वहां उड़दकी सफ़ेदी बराबर भी संकट नहीं है और बहुत अच्छीसे अच्छी स्थिति लगा लो, आमदनी भी है, लोगोंमें इज्जत भी है, मकान भी है, मित्र भी आते हैं, बन्धु भी लाला लाला कहकर अपनी जीभ सुखाते हैं और अच्छीसे अच्छी परिस्थिति मान लो, उसमें भी यदि ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वकी संभाल नहीं है तो बाहरमें कुछ भी सोचनेसे संकट न टल जायेंगे। इतना तो सोचते ही हैं कि अभी तो इतना ही हैं, इतना और होना चाहिए था। बस इतना ख्याल आया कि संकटोंमें पड़ गया। तो ये बाह्यपदार्थ, बाह्य शब्द, बाह्य परिणमन ये कुछ भी नहीं कहते हैं तुमको। तुम स्वयं अज्ञानी बनकर व्यर्थमें रोष करते हो और भी देखो—

असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं ॥३७५॥

शब्द व आत्माका परस्पर अनाग्रह—लोकके मंतव्यमें माने जाने वाले ये शुभ और अशुभ शब्द तुमको कुछ प्रेरणा नहीं करते कि तुम हमको सुनो, खाली क्यों बैठे हो ? और न यह आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर उन शब्दोंको सुननेके लिए उनको ग्रहण करता है या उनके पास पहुंचता है। शब्द शब्दमें परिणत होते हैं, जीव जीवपरिणाममें परिणत होता है, फिर क्यों यह अज्ञानता की जा रही है कि यह मान लिया कि इसने मुझे यों कहा। किसी से विरोध हो और वह भली भी बात कहे तो इसे ऐसा लगता है कि हमसे मजाक किया। तो यह तो जैसा अपना उपादान है उसके अनुसार इन बाह्य विषयोंमें कल्पना करता है और दुःखी होता है। जैसे यहाँ कमरेमें रहने वाली चीजें मान लो रात्रिके समय टेबुल, कुर्सी, मेज आदि ये सब पड़े हुए हैं तो क्या ये बिजलीके बल्बके साथ कभी लड़ाई करते हैं कि हम तो अंधेरेमें पड़े हैं तुम क्यों बेकार बैठे हो ? जलते क्यों नहीं हो ? किसी ने यदि ऐसी लड़ाई देखी हो तो बतलावो।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञेय ज्ञाताका परस्पर अनाग्रह—ये बाह्यपदार्थ इस दीपक को प्रकाशित करने के लिए कभी प्रेरणा नहीं करते और यह दीपक भी अपने स्थानसे च्युत होकर इन मेज, कुर्सी आदिकको प्रकाशित करने के

लिए नहीं आता है। क्या कभी देखा है कि यह वल्व कभी किसी पदार्थसे कहता हो कि अब उठो, अब मैं जल गया हूं, अंधेरा अब नहीं रह गया है? लोक व्यवहारमें जैसे कि कुछ दिखता है कि अमुक पुरुषने अमुक पुरुषको हाथ पकड़कर झंकोर कर कहा कि तुम यह काम करो। जैसे यहां दूसरेको कोई प्रेरणा करता है इसी प्रकार मेज, कुर्सी आदिक दीपकको कभी प्रेरणा करता है क्या कि उठो अब उजेला हो गया है? और जैसे व्यवहारमें ऐसा मालूम होता है कि चुम्बक पत्थरके कारण खिंची हुई लोहे की सूइयां जैसे अपना स्थान छोड़कर चुम्बकके पास पहुंच जाती हैं इस तरह दीपक अपना स्थान छोड़कर प्रकाश्य पदार्थोंकी तरफ नहीं पहुंचता है। क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही ऐसा दृढ़तम है कि किसी पदार्थ का स्वभाव किसी दूसरेके द्वारा उत्पन्न नहीं किया जा सकता। कोई किसी दूसरेको उत्पन्न नहीं कर सकता।

ज्ञेयज्ञातृत्व सम्बन्धमें विकारका अनवकाश—तब फिर भैया! जैसे यहां यह बात है कि चाहे मेज कुर्सी पड़े हों, तो जब दीपक या बिजली जलती है तो वे अपने स्वरूपसे प्रकाशमान् होते रहते हैं। और चाहे बहुत सी चीजें पड़ी हों तो यह दीपक अपने ही स्वरूपसे प्रकाशमान् होता है। अब यह एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी बात है कि अपने ही स्वरूपसे प्रकाशमान् इस दीपकका निमित्त पाकर ये मेज कुर्सी आदिक पदार्थ प्रकाश में आ गए। जो आज अच्छे बने हैं जिनकी शकल सूरत ठीक है, सुहावने हैं या असुहावने हैं यह सब उन पदार्थोंकी परिणतिसे उनका आकार है। कहीं प्रकाशमें आ जानेसे ये प्रकाश्य पदार्थ उस दीपकमें कोई विकार नहीं उत्पन्न करते। गोल घड़ेको दीपकने प्रकाशित कर दिया तो क्या दीपक भी उसकी तरह गोल बन गया या काली मेजके वल्वको प्रकाशित करदें तो क्या वल्व काला बन गया? ये प्रकाश्य पदार्थ प्रकाशकमें रंच भी विकार नहीं कर सकते। इस ही प्रकार ये कर्णमें आए हुए शब्द इस आत्मा के द्वारा ज्ञेय ही तो हुए, आत्मामें ये विकार कैसे कर देंगे?

विकारोंका कारण अज्ञानभाव—यह आत्माकी स्वयकी कलाकी ओर से कहा जा रहा है। इन शब्दोंने इस आत्मासे यह जबरदस्ती नहीं की कि तू हमें सुन और सुन करके गड़बड़ बन जा, ऐसी प्रेरणा नहीं की, और यह आत्मा भी अपने ज्ञानस्वरूपको छोड़कर शब्दमें घुलमिल नहीं गया, किन्तु ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि आत्मामें ज्ञानप्रकाशका निमित्त पाकर ये विषय ज्ञेय बन गए। अब ज्ञेय बनते हुए ये विषय इस ज्ञानके विकारके लिए कल्पित नहीं हैं, विकार नहीं कर सकते, फिर भी जो विकार हो रहे हैं वे इस जीवके अज्ञानभावके कारण हो रहे हैं। कोई

दूसरा पदार्थ हमारी समझमें आया इसलिए विकार बन गया ऐसा नहीं है।

आशयके अनुसार गुणदोषग्राहिता—एक बार एक राजाने मंत्रीसे कहा कि मंत्री यह तो बतावो कि मेरे राज्यमें गुणग्राही कितने हैं और दोषग्राही कितने हैं? मंत्री बोला कि महाराज आपके राज्यमें सभी तो गुणग्राही हैं और सभी दोषग्राही हैं। राजा बोला यह कैसे? जो गुणग्राही है वह दोषग्राही कैसे हो सकता है और जो दोषग्राही है वह गुणग्राही कैसे हो सकता है। मंत्रीने कहा अच्छा हम आपको एक हफ्तेमें इस बातको समझा देंगे। मंत्रीने एकसे ही २ चित्र बनवाये, मान लो किसी पुरुषके वे दोनों चित्र बड़े सुन्दर सुडौल, सुहावने थे। पहिले दिन एक चित्रको घंटाघरके पास रख दिया और एक सूचना लिख दी कि जिस मनुष्यको इसमें जो दोष दिखता हो उसपर निशान लगा दे और नीचे अपने हस्ताक्षर कर दे। देखने वाले पहुंचे, सूचना पढ़ी। देखने लगे कि इसमें क्या दोष है? किसी ने देखा कि इसकी नाक ठीक नहीं बनी, निशान लगा दिया और अपने हस्ताक्षर कर दिये। इसकी आँख ठीक नहीं बनी है, निशान लगा दिया और अपने हस्ताक्षर कर दिये। इसकी एड़ी ठीक नहीं बनी है, निशान लगा दिया और अपने हस्ताक्षर कर दिये। इस तरह से वह पूरा चित्र भर गया।

अभावके बाद गुणग्राहिताकी प्राकृतिकता—तीन दिनके बादमें दूसरा चित्र टांग दिया, सूचना लिख दी कि इस चित्रमें जिसको जहाँ पर जो भाग अच्छा लगता हो वह उस जगह निशान लगादे और अपने हस्ताक्षर कर दे। देखा कि ये आँखें इसकी बड़ी सुन्दर हैं, निशान लगा दिया और हस्ताक्षर कर दिये। नाक इसकी बड़ी सुन्दर है, एड़ियां इसकी बड़ी सुन्दर हैं, निशान लगा दिया और अपने हस्ताक्षर कर दिये। इस तरह से वह भी सारा चित्र भर गया। ७ वें दिन कहा महाराज देखो यह ही पुरुष इस अंगका दोषग्राही है और यह ही पुरुष इस अंगका गुणग्राही है। राजाने सोचा कि यह मामला क्या है? मंत्री ने कहा कि महाराज जिसका दोष देखनेका आशय होता है उसे गुण भी दोष दीखा करते हैं और जिसका गुण देखनेका आशय है उसे गुण ही गुण दीखते हैं।

कषायमें हैरानी—भैया! जगतमें यही तो हैरानी है। जब तक कोई अपने बीचमें है तब तक उसके गुण देखनेकी ओर किसीकी दृष्टि ही नहीं जाती है और जब वह गुजर जाता है तब उसके गुण समझमें आते हैं। देखलो जब गांधी जी जिन्दा थे तब उनके जीवनकालमें लोग कितनी ही बातें कहा करते थे, यह ऐसा करते हैं तो यह नुकसान होता है, इससे यह नुकसान होता है, यह यों गलती करते हैं। ऐसी ही बातें नेहरूके प्रति

भी हैं। जब तक जिन्दा थे लोग दसों ही बातें कहते थे— यह ये गल्ती कर रहे हैं। पर जब वह गुजर गए तब लोगोंको पता चला कि ओह विश्वभरमें नेतृत्व था नेहरूका, विश्व भरमें नेतृत्व था गांधीका। नेहरू भारतके ही नहीं बल्कि अन्य देशोंके भी मार्गदर्शक थे। तो जब दोष ग्रहण करनेका उदय होता है तो दोष देखनेमें आते हैं और जब गुण ग्रहण करने का उदय होता है तो गुण देखनेमें आते हैं।

बेमेल सगाई—ये शब्द हमें प्रेरणा नहीं करते कि तुम क्यों खाली बैठे हो, और यह आत्मा भी उन शब्दोंको सुननेके लिए नहीं जाता, किन्तु आत्माके साथ ज्ञान ज्ञेयका सम्बन्ध है, फिर क्यों यह जीव अज्ञानी बन कर उन शब्दोंके खातिर रोष व तोष करता है। देखो यह अध्यात्मका चरणानुयोग ही भरा हुआ है। क्यों उन विषयोंमें अपना घात करते हो ? इस विषयको बहुत लम्बे समयसे बताया जा रहा है कि तुम्हारा कोई सम्बन्ध ही जब इन विषयोंसे नहीं है तो क्यों उनसे सगाई करते हो ? सगाई मायने स्वकीयता, स्व मान लेना। सगाई स्व शब्दसे बनी है। अपना मान लिया। अभी शादी नहीं हुई। सगाईका अर्थ है परवस्तुको अपनी मान लेना और शादीका अर्थ है खुश होना। शादी शब्द विषादसे निकला है। शादी मायने दुःख, विशाद मायने दुःख। शादीका नाम विषाद है। तो यह मोही जीव सभी वस्तुवोंके साथ सगाई भी किए है और शादी भी किए है अर्थात् इन्हें अपना भी मानता है और दुःखी भी होता जाता है।

धर्मपालनके सही ढंगकी हितकारिता—ये पदार्थ तुम पर कुछ जबरदस्ती नहीं कर रहे हैं कि तुम मुझको सुनो ही और न यह आत्मा उन विषयोंमें दौड़ता है। यह तो अपने ज्ञानस्वभावके कारण जाननहार रहा करता है। लेकिन कितने खेदकी बात है कि यह अज्ञानी जीव विषयोंको भूलता नहीं है। विषयोंकी यह करतूत नहीं है, यह अज्ञान की करतूत है। जितनी कलह है, विवाद है, खेद है वह सब अज्ञानकी करतूत है। ज्ञानकी कला तो शांति है। दिन रातके २४ घंटोंमें यह गृहस्थ पुरुष कैसा विकल्पों में ही पड़ा रहता है, अपने स्वरूपकी दृष्टि छोड़कर बाह्य अर्थोंमें कितना लगा रहता है ? यदि यह २ मिनट भी यथार्थ ढंगसे धर्म करे तो इसको शेष समयमें भी मूलमें निराकुलता बनी रह सकती है। पर जिस दो मिनट में धर्मपालन करे, पूरी ईमानदारीसे करे केवलज्ञान स्वभावके लिए ही लट्टू होकर, उसके ही रुचिया बनकर उसमें झुके। कुछ समयके लिए सभी बाह्य पदार्थ एक समान बाह्य बन जायें, वहां फिर यह वासना न रखें कि मेरे फलाने अमुक हैं। ऐसी दृढ़ भावनासे यदि ज्ञानकी उपासना की जा सकती

है तो समझ लीजिए कि मुझे शांतिका मार्ग मिल गया और आगे भी शांति रह सकेगी।

शब्दविषयविरक्तिके उपदेशकी प्राथमिकताका कारण—भैया! यहां पांच विषयोंमें सबसे पहिले शब्दको क्यों लिया? ये शब्द सबसे अधिक विषयों में ले जाया करते हैं। अभी यहां बैठे हैं और सड़क पर अगल बगल जो गड़बड़ी मच रही है लो वह सुननेमें आ गयी। नाककी बात तो तब है कि जब नाक सांस लेवें तो विषय आयेगा सूँघनेमें। पलक खोलकर देखने की मनमें आये तो रूप दिखनेमें आयेगा। कोई चीज मुँहसे खावें तो उसका रस मालूम होगा, किसी वस्तुको छुवें स्पर्श करें तो वह ठंडा या गरम मालूम होगी। पर ये शब्द तो चारों ओरसे कानोंमें घुस पड़ते हैं। उन शब्दोंको अपनेसे अलग बनाए रहना, उनके बहकावेमें न आना इसके लिए बड़ा उद्यम करना पड़ता है। बड़ी एकाग्रता हो तब शब्द सुनाई न दें, थोड़ीसी एकाग्रतामें यह संयम नहीं बन पाता है, इसलिए सबसे पहिले शब्दकी खबर ली है और ये जितने विवाद और कलह बनते हैं, उनमें ये शब्द अगवानीके लिए पहिले तैयार रहते हैं। झगड़ा बनता हो, मनमोटाव होना हो तो सबसे पहिले ये शब्द स्वागताध्यक्षका काम करते हैं विवाद करने में, हमको दुःखी करने में ये शब्द पहिले स्वागत करने वाले हैं। हे आत्मन्! ये शब्द शब्दकी जगह हैं, इनको सुनकर तू क्यों अपनेमें रोष व तोष करता है?

शब्दोंसे आत्मामें अकिञ्चित्करता—यहां विषयोंसे अलग हो जानेके उपदेशमें वस्तुस्वरूपके ज्ञानके माध्यमको यहां बताया जा रहा है कि निन्दा और स्तुतिके वचन ये तो भाषावर्गणा योग्य पुद्गल नाना प्रकारसे परिणमे जा रहे हैं। ज्ञानी तो ध्रुव कारणसमयसार और पर्यायरूप कारणसमयसार—इन दोनोंको जानकर निश्चय मोक्षमार्गको व निश्चय-मोक्षमार्गके कारणभूत व्यवहार मोक्षमार्गको जानकर निश्चय तत्त्वकी रुचिसे इष्ट अनिष्ट विषयोंमें रागद्वेष नहीं करता है। अज्ञानी जीव ही गाली सुनकर मनमें खेद लाते हैं और स्तवन सुनकर फूले नहीं समाते हैं, अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होते हैं, वे तो शब्द पुद्गलके गुण हैं अर्थात् परिणमन हैं, उनसे जीवमें क्या जाता है?

शब्दानाकर्षणके उपदेशका उपसंहार—उस अज्ञानी जीवको, जो कि कारणसमयसारके बोधसे शून्य है, समझाया गया है कि यह तो परका परिणमन है, उनको सुनकर तू रोष क्यों करता है? वे तुम्हें कुछ नहीं कहते हैं। ये शब्द तुम्हें प्रेरणा नहीं करते कि मुझको सुनो। तो कोई पूछता है कि कानमें तो ये आ [illegible]

पर भी आत्मा अपने ही स्वरूपमें है, वे पौद्गलिक शब्द अपने ही स्वरूप में हैं। यदि ज्ञानस्वभावका उपयोग दृढ़तर हो जाय तो वह तो मालूम ही नहीं पड़ सकता। यह आत्मा उन शब्दोंमें लगने के लिए अपने स्वरूपसे नहीं चिगता है, इसलिए शब्दादिक विषयोंमें आसक्ति करना, हर्ष विषाद करना यह ज्ञानीका कर्तव्य नहीं है।

इसी प्रकार रूपके सम्बन्धमें भी अब कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं।

असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥३७६॥

रूप और ज्ञाताका परस्पर अनाग्रह—ये अशुभ और शुभरूप तुमको यह नहीं कहते कि मुझको देखो और न यह आत्मा ही चक्षुके विषयको प्राप्त रूपको देखनेके लिए, ग्रहण करने के लिए अपने स्वरूपसे निकलकर बाहर जाता है। यह रूप पुद्गल द्रव्यके रूप शक्तिका परिणमन है। वह अपनेमें अवश होकर किसी न किसी रूपमें प्रकट बना ही रहा करता है और यह आत्मा अपने ही स्वरूपमें रहता हुआ अपनी ही ज्ञानशक्तिसे अपना परिणमन कर रहा है। उस समय उसके इस परिणमनमें जो विषय है वह आश्रय मात्र है, सम्बन्ध कुछ नहीं है। पुद्गलका जब यह गुणरूप पर्याय इस आत्मासे भिन्न ही है तो इस रूपमें तो इसका कुछ भी आग्रह नहीं किया, हैरान नहीं किया। यह ही ज्ञानभावसे हटकर अपनी अटपट कल्पनाओंसे हैरान हुआ करता है।

दुर्लभ अवसरके लाभकी ओर—देखो भैया! इस अनन्त कालमें हम आप इन एकेन्द्रिय विकलत्रय आदि अनेक कुयोनियोंमें रहे। अनन्तकाल तो बिना आँखके ही व्यतीत हुआ। निगोद एकेन्द्रिय जीव है, पृथ्वी जल आदिक एकेन्द्रिय जीव हैं, कीड़े मकौडे दो इन्द्रिय तीनइन्द्रिय हैं, इनके भी आँखें नहीं और चारइन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रियके भी आंखें हुई तो केवल अपने विषय मात्रमें ही उसका उपयोग रहा। इन आंखोंका मिलना कितना दुष्कर है और संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य होकर इन आँखोंका तो मूल्य और अधिक बढ़ गया। चाहे इनसे अशुभदर्शन करें, चाहें शुभदर्शन करें। इन इन्द्रियोंका सदुपयोग करते हुए अपने आत्महितकी दृष्टिसे विषय कषाय आदिक विभावपरिणामोंके आधीन न होकर यदि निर्मोहताकी वृत्ति बनाएँ तो इनका यह जन्म सफल है।

पशु और मनुष्योंमें अन्तर्दिग्दर्शन—भैया! विषय ही जिसका उद्देश्य है, ऐसे मनुष्यमें और पशुपक्षियोंमें कोई अन्तर नहीं रहता है। हां इतनी बात अवश्य है कि इसकी गांठमें लाल बँधा है पर पता नहीं है, सो उपयोग

नहीं कर सकता। जैसे कंजूस धनी पुरुष अपने धनका कुछ आराम नहीं पा सकता और न उसकी लोकमें प्रतिष्ठा रहती है पर चूँकि वह कंजूस भले ही हो, पर है तो धनी। कदाचित् उसका भाव बदल जाय तो उस धनका पूर्ण सदुपयोग कर सकता है। इस ही प्रकार यह मनुष्य भव एक अमूल्य मनका भव है। यद्यपि यह जीव अभी विषय कषायोंमें व्यग्र है, कंजूस है, आत्मनिधिका सदुपयोग नहीं कर सकता, पर है तो निधि। कभी इसका भाव बदले, विषयकषायोंसे मोड़ खाये, अपने हितकी भावना आए तो सदुपयोग हो सकता है। भावी कालकी सम्भावनाकी अपेक्षा पशुवोंसे मनुष्य कुछ श्रेष्ठ हैं पर वर्तमानमें जो इसकी करतूत है उसको देखकर समानता सोची जाय तो पशुवोंसे और मनुष्योंमें कोई खास विशेषता नहीं है।

अध्रुव चीजके सदुपयोगका विवेक—विवेकी वह है कि अध्रुव चीजका ऐसा उपयोग करे कि जिससे ध्रुव तत्त्वके मिलनेमें बाधाएँ न आएँ। तन, मन, धन और वचन ये चारों अध्रुव हैं। जो पुरुष इन चारोंके कंजूस होते हैं, अपना तन भी परकी सेवामें लगाना नहीं चाहते, अपना मन भी परकेगुण चिंतनमें लगाना नहीं चाहते, अपना अध्रुव धन भी परसेवामें लगानेका भाव भी नहीं करते, अपने वचनोंका भी दूसरे जीवोंको सुख देने लायक प्रयोग नहीं करते, ऐसे अध्रुव समागम भी कंजूसजन न तो अपने में शांति लाभ ले पाते हैं और न परके लिए कुछ इष्ट बन पाते हैं। ये सब इन्द्रियां अध्रुव हैं। पाया है इन्हें तो इनका सदुपयोग करो।

मात्र रूपज्ञातृत्वमें विकारका अनवकाश—यह रूप न तो आत्माको प्रेरित करता है कि मुझे देखो और न यह आत्मा रूपकी ओर जाता है, किन्तु यह तो अपने ज्ञानबलसे जाननेका कार्य किया करता है। इस प्रकार स्वरूपको जानते हुए इस आत्माके ज्ञानविषयमें यह नानापरिणत रूप आ जायें तो आ जायें, इन रूपोंके आनेसे ये विकार तो नहीं होने चाहिये। जैसे दीपक कमरेमें रखी हुई सभी वस्तुवोंके प्रति उदासीन है तो अपने परिणमनसे परिणमता है, अब चाहे परपदार्थ प्रकाशित हो जायें तो हो जायें। ये वस्तुवें सभी अपने-अपनेमें ही जलती हैं। मात्र उनमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, इतने पर भी यदि रागद्वेष होता है तो यह सब अज्ञानका प्रताप है। ज्ञानमात्र निज स्वरूपके ज्ञानमें कोई विडम्बना नहीं है। इस अज्ञानभावका परिहार करके सर्वविशुद्ध सहज स्वरूपको निहारें तो यही अंतःपुरुषार्थ दृढ़तम होकर मोक्षके रूपमें परिणत होगा।

प्रकट भिन्नतामें भी अनुरागकी मूढ़ता—भैया! रूपके प्रसंगमें शिक्षाकी बात तो कुछ सुगम हो रही है। शब्द तो इन कानोंमें ठोकर लगाते हैं, पर

यह कोई रूप इन आंखोंमें ठोकर मारता है क्या ? नहीं। जैसे कोई जोरसे बोले तो कान भर जाते हैं, कानों पर आक्रमण होता है पर इस रूपने कभी आंखों पर आक्रमण किया क्या कि दौड़ कर आए और आंखमें घुस जायें। ये तो जहांके तहां पड़े हुए हैं और यहां शब्दोंके अनुरागसे कुछ कम अनुराग नहीं है रूपके देखनेमें। अपना काम कर रहे हैं और कोई सामने से निकले, प्रयोजन देखनेका कुछ नहीं है, मगर देखने ही लगते हैं। कुछ देखनेकी प्रकृति ऐसी पड़ी है कि परवस्तुको देखे बिना नहीं रहा जाता। कोई घरका बाबा मानलो इटावासे आया, अपनी पीठकी गठरी उतारकर आरामसे बैठ गया, तो बच्चे नहीं मानते, बताओ बब्बा इसमें क्या है ? है कुछ नहीं उनके कामकी चीज, पर देख लिया तो उन्हें शांति हो गयी। तो देखनेका भी शौक रहता है। यहांसे रेलगाड़ी रोज निकलती है और आप घूमते जा रहे हो रेलकी पटरीके नीचेसे तो आप उस रेलगाड़ी को देखने लगेंगे कि देखें तो इसमें कितने मालगाड़ीके डिब्बे लगे हैं। है प्रयोजन कुछ नहीं, पर देखनेकी ऐसी प्रकृति बनी है कि कुछ प्रयोजन न होने पर भी देखे बिना नहीं रहा जाता।

रूपमें इष्टानिष्टबुद्धिका कारण अज्ञानभाव—यहां रूप कोई आत्माको प्रेरणा नहीं करता और न यह आत्मा भी अपने स्वरूपसे भागकर उन रूपों में प्रवेश करता। एक ज्ञान ज्ञेयका सम्बन्ध है, निमित्तनैमित्तिक भाव है आ गए ज्ञानमें, पर इतने मात्रसे विकार तो नहीं आने चाहिएँ। जैसे दीपकने मेज कुर्सी घड़े इत्यादिको प्रकाशित कर दिया तो क्या दीपक मेज कुर्सी, घड़े रूप परिणम गया ? नहीं, तो फिर इस अपने आत्माको क्यों तुम विकाररूप परिणमाते हो ? मकानमें से एक ईंट खिसक जाय तो यहां आपके चित्तसे भी कुछ खिसक जाता है। जैसे किसी जगह घरमें आग लग जाय तो चित्तके एक कोनेमें भी आग लग जाती है। अरे भैया ! जैसे दीपक नाना प्रकारके पदार्थों को प्रकाशित करता है तो भी वह दीपक अपने ही रूप रहता है अन्य नाना द्रव्योंरूप नहीं परिणम जाता है, यों ही तुम ज्ञाताको भी विकृत नहीं होना चाहिये। होते हो तो इसमें अज्ञान ही कारण है।

अब यह बताते हैं कि जैसे रूपके विषयमें अज्ञान भावसे यह आत्मा लगता है इसी प्रकार घ्राणके विषयमें भी यह आत्मा अज्ञानसे लगता है।

असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मंति सोचेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं ॥३७७॥

गन्ध और ज्ञाताकी स्वतन्त्रता—ये अशुभ शुभ गंध इस आत्माको

यह प्रेरणा नहीं करते कि तुम मुझको सूँघो और न यह आत्मा अपने प्रदेशसे चिगकर घ्राणके विषयमें आए हुए गंधोंको सूँघनेके लिए निकलता है। अपने ही प्रदेशमें रहकर विषय विषयी परिणमन हो रहा है, लेकिन यह जीव अज्ञानवश कल्पना बनाकर अपनेमें रागद्वेष रूप विकार उत्पन्न करता है कितने प्रकारके गंध हैं, कितनी सुगंधोंके लिए यह जीव आसक्त रहता है ? अरे भाई चाहे कैसा ही गंध हो, है तो वह अजीवका ही परिणमन। उसमें तेरे आत्माका क्या जाता है ? तेरा दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण किसी परपदार्थमें नहीं है। इन विषयोंमें तेरा गुण परिणमन नहीं है, फिर उन विषयोंके निमित्त तू अपना घात क्यों करता है ?

गन्धका कुछ विवरण—गंध पुद्गलद्रव्यकी गंध शक्तिका परिणमन है। इन ५ विषयोंमें रूप विषय अप्राप्य है अर्थात् वह आंखके पास चिपटता नहीं है और कदाचित् कोई रूप आंखसे चिपट जाय तो उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता है। अपनी आंखमें लगे हुए अंजनको ये आंखें खुद नहीं देख सकतीं। दर्पण लेते हैं, दर्पण आंखकी छायारूप परिणमता है। उसे देखकर जानते हैं कि अंजन ज्यादा लगा, यह कारोंच लगी। और जब आँखें इतनी दूरकी चीजको देख लेती हैं तो आंखोंसे चिपटी हुई बातको ये आंखें क्यों नहीं देख पाती हैं ? नेत्र अप्राप्य अर्थको विषय करते हैं और बाकी चारइन्द्रिय प्राप्त अर्थको विषय करती हैं। शब्द कानमें आ पड़े तो चट जान जाते हैं। शब्द न आएँ तो उसका ज्ञान नहीं होता। यह गंध भी नाकमें प्रवेश कर जाती है तब ज्ञानमें आता है।

गंधका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश विस्तार—आप कहेंगे वाह फूल तो लगा है गुलाबके पेड़में, वह तो नाकमें नहीं आता। और उसका जो गंध परिणमन है वह उसमें ही है फिर यह जाना कैसे जाता है ? तो ऐसा होता है कि फूल गंधका निमित्त पाकर पासके पुद्गल स्कंध गंधरूप बन जाते हैं और उन पुद्गल स्कंधोंका निमित्त पाकर पासके स्कन्ध गन्धरूप परिणम जाते हैं। इस तरहसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें नाकके पासके परमाणु में गंध हो जाता है। किसी चीजकी गतिसे अधिक गति है निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धकी। बिजलीका बल्ब जिसका बटन दो मील पर लगा है बटन खोलते ही एक सेकेण्ड बाद जलने लगता है। तो बिजली वहां दौड़ कर नहीं जाती, किन्तु निमित्तनैमित्तिक परिणमनसे वहांका तार बिजली रूप परिणम कर उजेलेमें आ गया।

शब्दका भी निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश विस्तार— भैया ! शब्दोंकी भी ऐसी ही बात है। कोई मुखसे शब्द बोलता है तो ये ही शब्द आपके कान में नहीं पहुंचते। जैसे हम यहां बोल रहे हैं तो ये ही शब्द यदि कानमें

पहुंच गए तो ये एक पुरुषके कानमें शब्द जाएँ और बाकी १००, २००, ५०० आदमी तो सुननेसे वंचित रह जाएँ, उन्हें कुछ भी सुनाई न पड़े। यह शब्द ही स्वयं आपके कानमें नहीं जाते, पर इस शब्दपरिणमनका निमित्त पाकर पासमें जितनी भाषावर्गणावोंका मेटर है वह शब्दरूप परिणम जाता है और आपके कानके निकट जो पुद्गल स्कंध है, भाषा वर्गणा वह शब्दरूप परिणम कर आपके विषयमें आ रहा है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश जो गति है वह अति तीव्र होती है।

अज्ञानज विकार—यह गंध विषय न तो आत्माको प्रेरित करता है कि मुझे सूँघो, बेकार क्यों बैठे हो, और न यह आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर उन गंधोंको ग्रहण करनेके लिए डोलता फिरता है।, किन्तु विषय-विषयीका सम्बन्ध है, इसका ज्ञानमें गंधविषय आता है, पर इतने मात्रसे इस आत्मामें विकाररूप परिणति नहीं हो जाती। यह तो अपने आपके परिणमनकी कला है। फिर भी यह जीव उन सब शुभ अशुभ गंधोंको सूँघकर अपने में इष्ट अनिष्ट भाव लगाता है, रागद्वेष करता है, यह सब अज्ञानका प्रसाद है। ज्ञानी जीव तो अपने आपके सहज स्वरूपकी प्रतीति के बलसे अपने स्वरूपके दर्शनमें उत्सुक रहता है।

शुभाशुभसहिष्णुताका अभ्यास—ये विभाव यद्यपि इष्ट अनिष्ट भावको उत्पन्न करते हुए आते हैं तो भी मूलमें रुचि विषयोंमें नहीं है, आत्म-स्वरूपमें है। सो जिसके मूलमें रुचि होती है उसके ही अनुराग समझा जाता है। यह व्यवहारमोक्षमार्गके माध्यमसे निश्चय मोक्ष मार्गको आत्म-सात् करने का उद्यम बनाए रहता है। केवल यह अज्ञानी जीव ही अशुभ शुभ गंधोंको पाकर रोष और तोष करता है। अच्छी वास आए तो हाथमें छातीमें, मुँहमें सबमें फर्क आ जायेगा और बुरी गंध आ जाय तो नाक मरोड़ेंगे। कमसे कम अपने व्यवहारमें तो यह आदत बनावो कि जितनी दुर्गन्ध आप सह सकते हों सह लो और मुँह न बनावो जितना बन सके। यह भी एक विषयोंमें समभावकी प्रक्रिया है। यहां कुछ थोड़ी सी मलिन चीजोंको देखकर बार-बार नाक सिकोड़ना अपने आपकी मलिनताको व्यक्त करने वाली बात है। गंधोंमें भी रागद्वेष मत करो, ऐसा यहां आचार्य देवका उपदेश है।

असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं॥ ३७८॥

रस और ज्ञाताका परस्पर अनाग्रह—अशुभ और शुभ रस इस आत्मा को ऐसा आग्रह नहीं करता है कि तुम मेरे रसको ले लो और न यह आत्मा अपने स्वरूपसे चिगकर रसके ग्रहण करनेके लिए जाता है, किन्तु

यह आत्मा अपने आपके प्रदेशमें ठहरा हुआ मात्र जानता है और विकार भावमें अपने आपके विकल्पका स्वाद लेता है, किन्तु इस विषय को तो कुछ भी नहीं करता। जब तेरा दर्शन ज्ञान और चारित्र इन इन्द्रिय-विषयों में नहीं है तो फिर इन विषयोंके खातिर तू अपना घात क्यों कर रहा है ?

रसादि गुणोंका विवरण—रस पुद्गल द्रव्यके रसशक्तिका परिणमन है, जितने भी दृश्य दृष्ट होते हैं, परिणमन विदित होते हैं वे सब किसी न किसी शक्तिके होते हैं, कोई भी दशा दीखे तो वहाँ यह जानना चाहिए कि इस अवस्थाका स्रोतभूत आधार क्या है ? प्रत्येक परिणमनका आधार गुण होता है। पुद्गलमें व्यक्तरूपसे विदित होने वाले परिणमन रूपके परिणमन हैं, रसके गंधके और स्पर्शके परिणमन हैं। रूप नामक शक्तिके मूलमें ५ परिणमन हैं—काला, पीला, नीला, लाल और सफेद। इन ५ के अलावा और जितने विभिन्न रंग दिखाई देते हैं वे सब इन रंगोंके मेलसे बने हुए परिणमन हैं और इन रंगोंकी हीनाधिकता के तारतम्यरूप परिणमन हैं। रसशक्तिके मूलमें ५ परिणमन हैं—खट्टा, मीठा, कड़वा, चरपरा और कषायला। जितने भी स्वाद हैं और नाना प्रकारके विदित होते हैं वे इन स्वादोंके मेलके परिणमन हैं अथवा इन स्वादोंकी हीनाधिकता के तारतम्यसे परिणत हैं। गंधशक्तिके दो परिणमन होते हैं—सुगंध और दुर्गन्ध। स्पर्शशक्तिके मूलमें चार परिणमन हैं—चिकना, रूखा, गरम और ठंडा। पर पुद्गल परमाणुवोंके पुञ्जरूप पुद्गल स्कंधोंमें व्यावहारिकता बन गयी है इसलिए चार परिणमन और प्रकट हो जाते हैं हल्का, भारी, कड़ा और नरम। एक ही अणु है, वह न तो कड़ा है, न नरम है, न वह हल्का है, न भारी है। हल्का, भारी, कड़ा और नरम तब प्रकट होते हैं जब बहुतसे अणुवोंका पिंड पुद्गल स्कंधरूप होता है।

रसके लक्ष्यमें अज्ञानज विडम्बना—प्रकरणमें रसकी बात कही जा रही है कि यह रस आत्माको प्रेरित नहीं करता है कि तुम हमारा स्वाद लो—जैसे कि कोई देवदत्त नामक पुरुष यज्ञदत्तका हाथ पकड़ कर प्रेरणा किया करता दिखता है कि तुम अमुक काम करो, तुम्हें मेरी सिफारिस लिखना पड़ेगा, इस पर तुम हस्ताक्षर कर ही दो। जैसे अनेक कार्योंके लिए प्रेरणा करते हो, इस प्रकार इस आत्माको रसादिक प्रेरणा नहीं करते और जैसे कोई लोहेकी सुई चुम्बक पत्थरके पास खिंचती फिरती है इस तरहसे यह आत्मा इन विषयोंके निकट खिंचा-खिंचा फिरे, ऐसा भी नहीं है, उनको ग्रहण करनेके लिए जाय सो भी बात नहीं है, फिर भी ये अज्ञानी जन इन स्वादोंमें कैसा रोष व तोष करते हैं ? सागमें नमक ज्यादा गिर जाय तो थाली पटक देते हैं और यदि अच्छे स्वादिष्ट व्यञ्जन बनें

तो सारे संकट और विपत्ति भूलकर एक इसके स्वादमें ही मग्न हो जाते हैं। ऐसे रसके स्वादमें रोष और तोष इन जीवोंको क्यों आता है? इस कारण कि यह प्राणी निश्चय कारणसमयसारसे परिचित नहीं है। ज्ञानानन्दमय आत्मस्वभावकी इसे श्रद्धा नहीं है, सो अपने आनन्दको प्रकट करनेके लिए बाह्य विषयोंमें दृष्टि डालते हैं और उनमें अनुकूल प्रतिकूल कल्पनाएँ बनाकर संतोष और रोष करते हैं।

रसका मायाजाल—कहते हैं ना कि कोई अगर क्रोधमें है, तो भाई अभी न बोलो, अभी इसे खूब बढ़िया खिला दो रसीला, तो क्रोध करना तो दूर रहो और उसकी सेवा करनेका विचार बना लेगा। शांत हो गया क्रोध। भैया! यह पता नहीं चलता है कि कहांसे मीठा लग बैठता है। इस मुँहमें मिठास किस ओरसे आती है और कहांसे बढ़िया लगता है, अभी तक इसकी अच्छी तरह खोज नहीं कर पाये। कहते हैं कि इस जीभ की जो टुनक है आगेकी बस वह किसीसे छू जाय सो ही स्वाद आता है। जीभ निकाल कर कोई भी चीज बीचमें धर दें तो स्वाद रंच भी नहीं आता। कैसा सम्बन्ध है, क्या मतलब पड़ा है? यह अमूर्तिक ज्ञानानन्द-मय आत्मा उस रसके विकल्पमें ऐसा मिठासका अनुभव करता है कि जैसे मानो आत्मामें मिठास किया गया हो।

आत्मा द्वारा रसकी अग्राह्यता—अच्छा बताओ कोई आमका स्वाद ले सकता है क्या? कोई नहीं ले पाता है क्योंकि आमका स्वाद आममें है और आत्मा तो आकाशकी तरह अमूर्तिक है। तो जैसे आकाशमें आम बखेर दिये तो आकाशमें रस चिपकेगा क्या? नहीं। इसी तरह आकाश के मानिन्द यह आत्मा अमूर्त है। खूब रस मुँहसे चाटो पर आत्मामें रस चिपक सकता है क्या? तो रसको आत्मा ग्रहण नहीं करता किन्तु द्रव्येन्द्रिय और विषयका सम्बन्ध बनता है और ये द्रव्येन्द्रिय ज्ञान कराने के साधन हैं। सो इस रसना इन्द्रियसे तो खाली यह ज्ञान करता है, कि इसमें मीठा रस है, इसमें अमुक रस है, पर आत्मामें जो मोह भरा है, राग पड़ा है उस राग मोहके कारण यह आत्मा उसमें भला मानता है, यह बहुत उत्तम स्वाद है।

कारणसमयसारसुधारसस्वादका विलास—भैया! किसीकी आदत पड़ जाय किसी वस्तुके स्वाद लेनेकी तो बुढ़ापे तक भी नहीं छूटती, ऐसे भी बहुत लोग मिलेंगे। किसीको रबड़ी खानेका शौक है तो वह बुढ़ापे तक रबड़ी खाना नहीं छोड़ता है ऐसे भी लोग देखे जाते हैं। तो रसका स्वाद लेनेमें जो अनुरक्ति है वह केवल अपने ज्ञानानन्द स्वभावके रसके परिचय के बिना है। कैसा है यह कारणसमयसार ज्ञानानन्दस्वभाव कारणस्वभाव

ज्ञान कि जिसका आश्रय लेनेसे कार्यसमयसार प्रकट होता है, शुद्धपर्याय व्यक्त होती है, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तशक्ति प्रकट होती है, उसका उपाय है शुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्वका श्रद्धान होना। ज्ञान हो और उस ही रूप उपयोगमें ग्रहण हो तो इस समाधिके बल से अनन्त चतुष्टय प्रकट होता है जो कि अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है।

आत्मस्वभावके परिचयरूप वैभवकी उत्कृष्टता—अपने आपके अन्तरमें अनादिनिधान अन्तःप्रकाशमान इस स्वभावका परिचय पा लेना, अत्यन्त दुर्लभ है। तीन लोकके समस्त वैभव भी इसके निकट आ जायें वे तुच्छ चीजें हैं। ज्ञानका आदर करो, वैभवका आदर न करो, क्योंकि वैभवसे तो वर्तमानमें इतना ही फायदा है कि भूखे प्यासे न रहें जिससे संतोषपूर्वक हमें आत्महितका मौका मिले। इतने प्रयोजनके अलावा और जो प्रयोजन बना डालना है—मेरी पोजीशन बढ़े, लोगोंमें मेरी इज्जत हो, तो ये सब उसकी उद्दण्डताएँ हैं। वैभव अधिक होनेसे इसको अशांति ही तो मिलनेका अवसर है, पर शांति प्रकट होना कठिन है। जिसके पास कम धन है वह इस हालतमें बड़ा प्रसन्न है, और कुछ धन बढ़ जाने पर फिर उसकी खेदजनक स्थिति हो जाती है, और जो आज संसारमें माने हुए करोड़पति, अरबपति हैं उनकी तो विचित्र हालत है आजके समयमें। चारों ओरसे चिंताएँ घेरे हैं। टैक्स, सरकारी मुकदमें, अन्य घटनाएँ, धन बढ़ाने सम्बन्धी कल्पनाएँ—ये सदा चिंताएँ उनके बनी रहती हैं।

कल्पित रोष तोषका कारण—ऐसी इन बाह्य व्यासक्तियोंसे इस ज्ञानानन्दस्वभावी अंतरतत्त्वकी दृष्टि ऐसे लोगोंको अत्यन्त दुर्लभ है। सो इस निश्चय कारणसमयसारके बिना यह जीव रसोंमें तोष और रोष करता है। ये रोष और तोष आत्माके विकार हैं। इन रोष और तोषोंको इन बाह्य विषयोंने उत्पन्न नहीं किया। ये तो अपने आपके स्थानमें अपनी परिणतिसे परिणमते हैं, किन्तु उनका निमित्त पाकर ज्ञान करके कल्पना बनाकर यह जीव खुद रोप और तोप करता है।

जैसे रसविषयक ज्ञानका इस ज्ञेयके साथ अज्ञानके कारण प्रसंग बन जाता है, इसी प्रकार स्पर्श परिणमनके साथ इस ज्ञाता ज्ञानरूप परिणमनके कारण एक प्रसंग बन जाता है।

असुहो सुहो व फासो ण तंभणइ फुससुमंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं ॥३७९॥

मात्र स्पर्शज्ञातृत्व आत्मविकारका अकारण—ये सुहावने और असुहावने स्पर्श, कभी ठंडे अच्छे लगते हैं, कभी गरम अच्छे लगते हैं, ये सभी स्पर्श इस आत्माको यह प्रेरणा नहीं करते हैं कि तुम मेरा स्पर्श करो ही करो,

और न कायके विषय भावको प्राप्त: स्पर्शका ग्रहण करने के लिए यह आत्मा अपने स्वरूप दुर्गसे निकलकर उन्हें ग्रहण करने जाता है किन्तु वस्तुका स्वभाव ऐसा है कि किसी परके द्वारा किसी परको उत्पन्न नहीं किया जा सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी ही स्वरूप कलाके कारण अपनेमें प्रकाशमान रहता है। बाह्यपदार्थ हों तो क्या, न हों तो क्या ? जैसे यह दीपक अपने स्वरूपसे प्रकाशमान् रहता है, इसी प्रकार यह ज्ञान अपने स्वरूपसे जाननहार रहा करता है। अब ज्ञेय पदार्थमें विचित्र परिणमन उन ज्ञेयोंके कारण ही है, वे ज्ञेय इस ज्ञानमें रंच भी विक्रिया करनेमें समर्थ नहीं हैं, फिर भी अज्ञानका ऐसा प्रसाद है कि विकार ही विकार अनादि कालसे चला आ रहा है।

आश्रयभूत वस्तु क्लेशका अकारण—भैया ! सम्यग्दर्शन होनेसे उस वस्तुस्वरूपकी महिमा अपने आपमें समाए तो ये विकार समाप्त हो सकेंगे। दुःख है तो केवल विकारभावका ही दुःख है। देखो नैमित्तिक चीज कोई इसकी नहीं है। धन कम हो गया, इसका कुछ दुःख नहीं है किन्तु तत्सम्बंधी ममताका विकल्प बन रहा है। यही दुःख है। बड़े तीर्थंकर चक्री ६–६ खण्डकी विभूतिको त्यागकर निर्ग्रन्थ अवस्थामें रहते हैं, उनके क्या कोई दुःख है ? यदि दुःख होता तो काहेको त्यागते अथवा भूलसे त्याग भी देते तो फिर घर चले आते, उनके तो बड़े स्वागतकी तैयारियां होतीं घरसे निकला हुआ बेटा अब घर आ रहा है।

आत्मस्वरूपके अवलम्बनकी महिमा—इस वैभवमें आनन्द नहीं है। आनन्द तो अपने आपके स्वरूपमें है। यह आत्मा तो दीपककी तरह उदासीन है। जैसे दिया जलता है तो जलता है, उसे यह फ़िकर नहीं है कि मैं इन पदार्थोंको प्रकाशित कर दूं, ऐसी उस दीपकको अपेक्षा नहीं है, इसी प्रकार इस ज्ञाता आत्माको कोई अपेक्षा नहीं है कि मैं दुनिया भरके पदार्थ जानूँ। इसका सहज ऐसा ही सम्बन्ध है कि सारा विश्व जाननेमें आ जाता है जब यह जीव जाननेके लिए फिरा करता है तब इसे ज्ञान होता नहीं और जब यह जीव जाननेकी तृष्णा छोड़ देता है तब इसके सारा विश्व ज्ञानमें आ जाता है। यह आत्मा स्वभावसे आनन्दनिधान है, पर निधि इसके तब प्रकट होती है जब निधिकी चाह न हो।

इच्छाकी अर्थकारिताका अभाव--संसारमें भी मनमानी नहीं चलती है। जब हम चाहते हैं तब चीज नहीं है, जब हम नहीं चाहते तो चीज सामने है। सबकी ऐसी हालत है। हम चाहें कि बड़े विश्वके ज्ञाता बन जायें तो नहीं बन सकते हैं। आज देशकी बागडोर संभालने वालोंमें परस्परमें कलह है, यह इसही से कलह है कि वे चाहते हैं कि मैं नेता

कहलाऊँ, मैं उच्च कहलाऊँ। ऐसी भावना होनेके कारण उनका बल क्षीण हो जाता है और उससे ऐसे कारनामें नहीं बन सकते हैं जो नेता कहलाने लायक बन सकें। जिसे अपनी सुध नहीं, अपनी पोजीशन नहीं चाही, केवल काम चाहा है और उन्नति की धुनि रखता है, अन्य किसी दूसरी चीजकी कुछ परवाह नहीं है, न धन संचय करता है, न यश फैलानेका भाव रखता है किन्तु एक धुनि लग गयी है कि मैं देशकी उन्नति करूँ, मैं अमुक कार्यको अच्छी तरह सम्पन्न करूँ, एक धुनि केवल लग गयी है उसके ही प्रतापसे वह नेता बन सकता है, पर शुरूसे ही और कुछ सोच ले तो नहीं बन सकता है।

सदाशयसे त्याग किये जानेका महत्त्व—धर्मकी लाइनमें त्यागी साधु बन जानेमें भी जिसके मूलमें यह आशय रहे कि हमारा सत्कार होगा, कमायी धमाईकी किल्लतसे छुट्टी मिलेगी ऐसा भीतरमें आशय रखकर कोई धर्ममार्गमें प्रवृत्ति करता है तो उसमें प्रगतिके लक्षण और भाव नहीं आ पाते हैं। जो पुरुष सम्पन्न होकर भी, किसी प्रकारका क्लेश नहीं है, सब व्यवस्था है, सम्पन्न होकर भी उसका त्याग करे, समर्थ होकर भी वैभवका त्याग करे तो उसके चित्तमें यह बात बनी रहती है कि जब हमने हजारों लाखोंकी सम्पदाका त्याग किया और धर्ममार्गमें कदम रखा है तो मुझे इन छोटी बातोंकी चाहसे क्या फायदा है ? यह उसमें विशद् ज्ञान बना रहता है। त्याग कहते ही इसको हैं कि अपने लिए लौकिक बातें कुछ न चाहियें, न यश, न धन, न आराम, न भोग और इतनी उत्सुकता बनी रहे कि मुझमें आत्मस्वभावका दर्शन बना रहे यही तत्त्वभूत है, यही मैं हूं, इसके अतिरिक्त और कुछ आकांक्षा नहीं है—इतनी लगनके साथ जो पुरुष त्यागमार्गमें बढ़ता है उसको सफलता मिलती है। इसी तरह जो देश में उन्नति करनेकी धुनि रखकर देशमें बढ़ते हैं वे प्रगतिके पात्र होते हैं।

निष्कामकर्मयोगकी विशेषता—भैया ! निष्कामकर्मयोगका बड़ा महत्त्व है। निष्काम कर्मयोग क्या है ? कामनारहित कार्य करना, उसके फलमें कुछ न चाहना। निष्काम कर्मयोगको और लोग भी कहते हैं और जैन सिद्धान्त भी कहता है पर फरक इतना आया कि जब अन्यत्र निष्काम कर्मयोगकी प्रधानता दी गयी, इससे ही मुक्ति है तो जैन सिद्धान्तमें निष्काम कर्मयोगको ढाल बतायी गयी। मुख्यता दी गयी है ज्ञानानुभूति की। दूसरी जगह कुछ काम करना, एक ईश्वरके नामपर करना, ईश्वरके लिए सौंपना वह काम, यह उद्देश्य बताया गया है। तो जैन सिद्धान्तमें विषय कषायसे बचनेके लिए निष्कामकर्मयोग करना यह बताया गया है तो निष्कामकर्मयोगमें जब कि अन्यत्र कर्मयोग की प्रधानता है। निष्काम

को धीरे बोलते हैं तो यहाँ कर्मयोगकी गौणता है और निष्कामको तेजी से बोलते हैं। कामनारहित वृत्ति होनी चाहिए।

ज्ञाताकी उदासीनता—यह आत्मा समस्त परपदार्थोंके प्रति उदासीन है। जो विषयोंके प्रति राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं वे सब अज्ञान हैं। हे आत्मन्! तेरे कोई गुण अचेतन विषयोंमें नहीं हैं, फिर उन अचेतन विषयोंमें तू क्या ढूँढ़ता है और उनके निमित्त क्या घात करता है? अपने आपको संभाल, अपने आपके गुणोंकी दृष्टिसे इन गुणोंकी रक्षा है और बाह्यपदार्थोंमें ऐसा करनेके द्वारसे इस आत्माका घात है। विषयकषायोंसे विराम लो और निर्विकल्प, निष्कषाय ज्ञानमात्र अहेतुक इस कारण-समयसारकी उपासना करो। जैसे किसीको क्रोध आता हो, दूसरे पर क्रोध करे, और अपना अपराध न विचार सके तो कोई तीसरा दृष्टसाक्षी पुरुष ही जानता है कि यह व्यर्थ ही क्रोध कर रहा है। इसी प्रकार विषयों के लोलुपी पुरुष अपने आपके अपराधको नहीं पहिचान सकते हैं। यह ज्ञानी संतोंकी वाणी ही कही जा रही है कि ये विषयकषायके लोलुपी अपने आपको भूलकर संसारगर्तमें गिर रहे हैं। अपनेको भूलकर यह जीव आप ही विकल्प करता है।

परमें आत्मभ्रमका कुफल—एक छोटा कथानक है कि एक जंगलमें एक शेर रहता था। वह प्रतिदिन बहुतसे जानवरोंको मार डालता था। सभी जानवरोंने सलाह की कि अपन लोग बारी-बारीसे उस सिंहके पास पहुंच जाया करेंगे जिससे सभी जीव निःशंक होकर तो रहेंगे। सो सभी जीव बारी-बारीसे उस सिंहके पास पहुंच जाते थे। इस तरह बहुत जानवर मारे गए। एक दिन एक लोमड़ीकी बारी आयी। सोचा कि अब तो मरना ही है सो कुछ अपनी कला खेलें, सो मान लो पहुंचना था ८ बजे और पहुंची १० बजे। सिंह गुस्सेसे भरा हुआ बैठा था। लोमड़ीसे गुस्से में आकर पूछा कि तू इतनी देर करके क्यों आयी? सो वह कहने लगी कि महाराज हमें रास्तेमें एक बहुत बड़ा मुकाबला करना पड़ा दूसरे सिंह से। मैंने बड़ी मिन्नत की कि अपने मालिकके पास हाजिरी दे आऊँ, फिर लौटकर आऊंगी तब खा लेना। इस तरहसे उस सिंहसे बचकर आयी हूं। दूसरे सिंहकी बात सुनकर उस सिंहको और क्रोध आ गया। बोला, कहां है वह दूसरा सिंह? वह लोमड़ी तो चाहती ही थी कि किसी तरह चले। सो लोमड़ी उसे एक कुवेंके पास ले गयी और बोली महाराज! यह देखो दूसरा सिंह आपके भयसे इस कुवेंमें घुस गया है। सिंहने झांककर देखा तो उसीकी परछाई उसे दिख गई। सिहने दहाड़ मारी तो प्रतिध्वनि हुई अब तो गुस्सेमें आकर वह सिंह उस कुवेंमें फांद गया और मर गया।

लोमड़ी चली आयी। इतना ही तो काम उसे करना था। तो जैसे भ्रम करके शेरने जान दे डाली, इसी प्रकार भ्रम करके ये जगत्के जीव इन विषयोंमें अपना घात किया करते हैं।

असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविपयमागयं तु गुणं ॥३८०॥
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसय मागयं दव्वं ॥३८१॥

पूर्वोक्त विषयोंके असम्बन्धका उपसंहार—पहिले कथनमें पंचेन्द्रियके सम्बन्धमें वर्णन किया था कि ये विषय अत्यन्त भिन्न परिणमन हैं। विषय आत्माको आग्रह नहीं करते कि तुम हमें सुनो, देखो, सूँघो, चखो या छुवो। और न यह आत्मा ही अपने प्रदेशसे चिगकर अपनी अंतःप्रक्रिया छोड़ कर इन विषयोंको ग्रहण करने के लिए जाता है क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि किसी परके द्वारा कोई परपदार्थ उत्पन्न नहीं किया जा सकता। वे विषय तो अपने परिणमनसे परिणमते हैं और यह आत्मा अपने स्वरूपसे परिणमता है और अपने-अपने स्वरूपसे परिणमती हुई स्थितिमें ये विषय ज्ञेय बनते हैं, यह ज्ञाता ज्ञाता बनता है, यहाँ तक तो कोई बात न थी पर जो रागद्वेषकी वृत्ति जग जाती है इससे बरबादी है, उसमें अज्ञान कारण है। इस प्रकार विषयोंके सम्बन्धमें निर्देश किया।

द्रव्य गुणका व ज्ञाताका परस्पर अनाग्रह—अब गुण और द्रव्यके सम्बन्धमें बताते हैं। यह जीव परगुणोंको और परद्रव्योंको जानता है और वहाँ गुण या द्रव्य कोई इस आत्मासे प्रेरणा नहीं करते—जैसे कोई किसी पुरुषका हाथ पकड़ कर कहे कि अमुक काम करो, इस तरह ये गुण और द्रव्य आत्मासे आग्रह नहीं करते हैं कि तुम मुझको जानो। जैसे ये घटपट आदिक दीपकको आग्रह नहीं करते कि मुझे प्रकाशित करो। और ऐसा भी नहीं है कि यह दीपक अपने स्वरूपसे आगे बढ़कर बाह्यपदार्थों को प्रकाशित करने चला जाय। इसी तरह यह भी नहीं है कि यह आत्मा अपने स्वरूपको छोड़कर, अपनी स्वरूपवृत्तिको छोड़कर अपने ही इस विकल्पात्मक ही सही परिणमनको तजकर बाह्यपदार्थ ग्रहण करनेके लिए जाय, ऐसा नहीं है।

परके द्वारा परके अङ्गीकरणका अभाव—देखो कितनी अद्भुत बात है कि भोजन कर रहे हैं, रस ले रहे हैं, बड़ा आनन्द मान रहे हैं, फिर भी वहाँ आत्मा अपने स्वरूपप्रवर्तनसे आगे कदम नहीं रख पाता कि रसको छू लेवे। रसको यह ग्रहण नहीं कर पाता, किन्तु भीतर अज्ञानस्वरूप हो

गया ना तो भी क्या हुआ ? इसकी प्रभुता तो देखो, ऐसी सामर्थ्यसे उस रसका स्वाद लेता है कि मानो वह परवस्तुको भोग रहा हो, किन्तु वहाँ, पर, परकी जगह है, आत्मा आत्माकी जगह है, कोई सम्बन्ध नहीं हो रहा है। यह जीव जब परवस्तुके गुणोंको जानता है तो वहाँ भी उन गुणोंने इसको यह आग्रह नहीं किया कि तुम खाली मत बैठो, हमको तुम जानो और न यह आत्मा दूसरे पदार्थोंके गुणोंको जाननेके लिए गया किन्तु वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि अपने आपमें अपनी योग्यतासे परिणम रहे परके द्वारा परका उत्पादन नहीं हो सकता। यह ज्ञाता आत्मा चूँकि ज्ञानस्वभावरूप है अतः जाने बिना रह नहीं सकता। वह तो जाना ही करेगा। अब जानते हुए कि स्थितिमें ये गुण ज्ञेय हो गए, यहां तक तो ठीक बात थी किन्तु जो रागद्वेष उत्पन्न हो जाते हैं वह सब अज्ञानकी महिमा है।

धर्मचर्चामें भी झगड़ा हो जानेका कारण—कोई द्रव्यानुयोग जैसे ज्ञान और वैराग्यके विषय वाली चर्चाकी जा रही हो। उस प्रसंगमें गुणोंके स्वरूपकी पद्धतिसे किसी समय कोई मतभेद हो जाय तो गुणों की चर्चा करते-करते कषाय जग जाती है, कलह हो जाती है, यह अज्ञानका परिणाम है। गुणोंके सम्बन्धमें जो जानकारी बतायी जा रही है, उस विकल्प में इस मोहीको आत्मीय बुद्धि हो गयी है, अब मेरा यदि यह मत स्थिर नहीं रह सकता तो हमारा ही नाश हो जायेगा, ऐसा अपने विकल्पोंमें आत्मसर्वस्वका जोड़ किया है यही तो राग और द्वेषका उत्पादक हुआ। रागद्वेष वृक्षकी शाखाकी तरह हैं और मोह जड़की तरह है। विभाव वृक्ष की शाखायें ये कषाय हैं और विभाव वृक्षकी जड़ मोह है। जैसे जड़ पानी मिट्टी आदिका आहार लेकर शाखावोंको पल्लवित बनाए रहती हैं, उन्हें मुरझाने नहीं देती, इसी प्रकार ये विभाव मोह भावके द्वारा परवस्तुवोंको अपनाकर इन रागद्वेषोंको पल्लवित बनाए रहते हैं, रागद्वेष को सूखने नहीं देते हैं। तो सब ऐबोंकी जड़ तो मूलमें मोहभाव है।

मोहोन्माद—भैया ! यह मोहका नशा ऐसा विचित्र है कि एक मिनट भी उतरता नहीं है। और नशा जो खाने पीनेसे बनते हैं वे कुछ समय को रहते फिर उतर जाते हैं, पर मोहका नशे कितना विचित्र है ? घर होगा तो घरमें मोहका नाच चलेगा और मंदिरमें होगा तो मंदिरमें मोह का नाच चलेगा। जायेगा कहाँ प्रक्रियांभेद हो गया। घरमें तो बिना मायाचारके सीधी बेवकूफी करके मोह किया जाता है और मोह जब बसा हुआ है तो मंदिरमें मायाचार करके अन्तरमें मोहका नाच कराया जाता है। घरमें तो सीधे ही प्रेमकी बात कह कर अपना कर मोह कर लिया

जाता है और मंदिरमें मोहीको मोहका रंग जिस पर चढ़ा है, बाहरमें, में ऐसा करना पड़ता है कि लोग जानें कि अब तो शायद यह घरमें ज्यादा दिन न रह सकेगा, इसे वैराग्य हो गया है, बड़े गान तानसे पूजन करता है, आँखें मींचकर बड़ी देर ध्यान लगाया जाता है। मोहका रंग जिसपर चढ़ा है उसकी बात कह रहे हैं। भगवानसे मोक्षकी प्रार्थना की जा रही है कि हे प्रभो ! मुझे इस कारागारसे निकाल दो लेकिन अन्तरमें मोहभाव ही पुष्ट किया जा रहा है। खबर घरकी है, वैभव और धन सम्पदाकी ही मनमें चाह लगी है, और यह नाटक भी वैभव बढ़े इसके लिए किया गया है। जहाँ यह वैभववृक्ष मोहकी जड़ द्वारा परपदार्थोंको आहृत करके इन रागद्वेष शाखावोंको पल्लवित किए रहते हैं।

विकल्पोंका अङ्गीकरण मूल व्यामोह—मोहका नशा जहाँ भी उतर जाता है, घरमें कोई समय उतरे; चाहे मंदिरमें उतरे, चाहे सफरमें उतरे तब उसे विश्राम मिलेगा, आनन्दका अनुभव होगा। तो गुण सम्बन्धी ज्ञान करके भी, चर्चा करके भी, जानकारी बनाकर भी विवाद उठता है, झगड़े हो जाते हैं, मनमुटाव हो जाता है, पार्टीबंदी बन जाती है, ये सब अज्ञानके ही नाच हैं। गुणविषयक ज्ञान करके उस ज्ञान-विकल्पमें आत्मसर्वस्वका जोड़कर लिया गया है, यह है मोहका रूप। जैसे कोई घरविषयक विकल्प करके उस विकल्पको अपनाता है तो वह लोकमें प्रकट मोही कहा जाता है, इसी प्रकार गुणद्रव्यविषयक अर्थ विकल्पमें आत्मीयता, ममता करके इतना ही मात्र मैं हूं, सहजज्ञान स्वरूपको भूल जाता है और इन परभावोंको अपनाता है वह भी मोही है।

सर्वप्रसंगोंमें स्वरूपकी परसे अतद्रूपता—वस्तुतः घर आदिक परसे कोई मोह कर ही नहीं सकता। कुटुम्ब परिवारमें मोह करनेकी किसी जीवमें ताकत नहीं है क्योंकि किसी परवस्तुमें मोह किया ही नहीं जा सकता है। मोही जीव तो परवस्तुविषयक कल्पनाएँ बना करके मोही बनते हैं। घरको अपना बना ही नहीं सकते। यदि मिथ्यादृष्टि अज्ञानीजन घर परिवारको अपना बना लें या इनमें मोह कर लें, इनमें अपना परिणमन कर लें तो ये तो भगवानसे भी कई गुणा शक्ति वाले हो गए। यह मोही अपना काम कर रहा है और परपदार्थ अपना काम कर रहे हैं। अनादि से लेकर अब तक यह जीव कुयोनियोंमें भटका, नाना उपद्रवोंमें ग्रस्त रहा लेकिन यह यह ही रहा। भले ही विकल्प किया पर यह विकल्परूप ही परिणमता हुआ रहा, परका कुछ नहीं किया।

परकीय गुण द्रव्यके साथ ज्ञाताका मात्र ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध—यह ज्ञाता गुणका भी कुछ नहीं करता, केवल ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धवश उन परकीय

गुणोंको जानता है और साथमें लगा हुआ हो विभाव परिणमन तो उनके सम्बन्धमें अपनत्वकी वुद्धि करता है। गुण कहते हैं द्रव्यके शक्तिभेदको और द्रव्य कहते हैं उन शक्तिके भेदात्मक पुञ्जको। द्रव्य गुण जैसे पवित्र तत्त्व जिनसे कोई बिगाड़ सम्भव नहीं है, हमारे प्रसंगको जो मलिन नहीं बनाते, ऐसे द्रव्यगुणके सम्बन्धमें भी यह जीव अज्ञानवश इष्ट और अनिष्ट बुद्धि करके अपनेमें विकार उत्पन्न करता है। जैसे कोई परिजन और वैभवमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि कर ही नहीं सकता, कैसा ही तीव्र मोह हो क्योंकि परवस्तुके द्वारा परवस्तुका उत्पाद नहीं किया जा सकता, किन्तु वाह्य विषयोंके सम्बन्धमें जो जानकारी की और असुहावने सुहावनेपन की अपनेमें तरंग की, उस ही में इष्ट और अनिष्ट बुद्धि है, परमार्थतः वाह्य पदार्थ कोई भी इष्ट अनिष्ट नहीं है। अपने ही परिणमनसे इष्ट और अनिष्ट माना करते हैं।

बाह्य पदार्थमें स्वयं इष्टत्व व अनिष्टत्वका अभाव—भैया! वाह्य पदार्थ कौन तो इष्ट है और कौन अनिष्ट है? कोई निर्णय दे सकता है क्या? बतावो नीमकी पत्ती इष्ट है कि अनिष्ट? आपको तो अनिष्ट है पर ऊँट को इष्ट है और आपको मिठाई इष्ट है या नहीं? इष्ट है, पर किसी पित्तकी बीमारी वालेको अनिष्ट है। उसे मिठाई खिलाई जाय तो वह फेंक देगा। तो किसी परपदार्थको आप इष्ट मान सकते हैं और किसीको अनिष्ट, पर वस्तुतः न कोई परवस्तु इष्ट है और न अनिष्ट है। जिसे कल्पनासे मान लिया कि यह मेरा मित्र है वह तो आपके लिए इष्ट हो गया और जिसे मान लिया कि विरोधी है वह आपके लिए अनिष्ट हो गया। यह ज्ञाता तो स्वरूपसे जानता है, स्वरूपसे जानते हुएके प्रसंगमें ये गुण और द्रव्य कमनीय और अकमनीय बनकर ज्ञानमें आ जाते हैं पर इतने मात्रसे ज्ञानमें विकार नहीं होना चाहिए था, किन्तु होता है विकार। इसमें कारण अज्ञानभाव है।

ज्ञेय और ज्ञाताकी स्वतन्त्रता—दीपक कैसा उदासीन होकर अपनी दो एक अंगुलकी ज्योतिमें टिमटिमाते हुए अपना काम करता है? यदि कमरे में कोई फूटे घटादिक धरे हों तो क्या दीपक उन्हें मना करेगा या रूठ जायेगा कि हमारे सामने फूटे घड़े मत धरो? वह तो उदासीन है। जो समक्ष आये वही प्रकाशित हो जायेगा। फूटा घड़ा प्रकाशित होनेसे कहीं दीपक नहीं फूट जाता। किन्तु यहां देखो तो मकान थोड़ासा गिरे तो यहाँ दिल गिर जाता है। मकानके किसी खूँटमें आग लगे तो यहाँ दिलके किसी खूँटमें आग लग जाती है। तो जैसा दीपकका और प्रकाशका परस्परमें प्रकाश्यप्रकाशक मात्र सम्बन्ध है, तैसा ही सम्बन्ध तो इस

ज्ञाताका और इन समस्त ज्ञेयोंका है। ये ज्ञेय ज्ञानमें आते हैं तो आने दो, स्वरूप परिणमन ही ऐसा है, पर यह ज्ञेय बाहर बाहर रहता हुआ ज्ञेयमें आता है। अन्तरमें मिलजुल करके ज्ञेयमें नहीं आता है। जानने मात्रके कारण इस ज्ञाताको विकृत नहीं बनना चाहिए, पर बन रहा है। यह आफत तो सामने ही दिख रही है। इस आपत्तिका कारण केवल अज्ञान भाव है।

स्वरूपविस्मृतिमें व्यर्थकी उद्दण्डता—वह अज्ञान भाव क्या है ? मैं ज्ञान मात्र हूं, मैं ज्ञानशक्ति मात्र हूं, असम्बद्ध हूं, अबद्ध हूं; अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे परिपूर्ण हूं, मुझमें किसी अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप प्रवेश नहीं और न होगा—ऐसा सबसे न्यारा और सदा अपने गुणोंमें समर्थ सत्त्व रखता हुआ स्वतंत्र हूं। ऐसे माने बिना जो हमारी स्थिति बनती है वह सब अज्ञानभाव है। क्या होगा इस व्यर्थकी उद्दण्डताका फल जिसमें न कुछ आता है, न कुछ जाता है, न इनसे मेरेको आगेकी कुछ सहूलियत मिलती है, कोरा श्रम ही श्रम है। बल्कि जितनी खुशामद अपने लड़केकी की जाती है उससे सोलहवाँ भाग भी खुशामद किसी दूसरे लड़के की करें तो व्यावहारिकतामें भी वह दूसरा लड़का बहुत अधिक मान लेगा और घरके लड़केकी खुशामद भी बहुत की जाती है, फिर भी ऐहसान मानना तो दूर रहा वह तो जानता है कि यह तो इनका काम ही था। यह तो अपना ही काम कर रहे हैं। जीवनमें भी जिससे कुछ नहीं मिलता, मृत्युके बाद तो साथ देंगे ही क्या ?

अज्ञानके त्यागमें ही भलाई—भैया ! यह यथार्थ बात समझनेके लिए कही जा रही है, जिनके लिए आप अपना तन, मन, धन, वचन अर्पित कर रहे हैं वे आपके लिए कुछ न होंगे। इस तन, मन, धन, वचन का उपयोग परके उपकारके लिए हो तो इनके पानेका कुछ लाभ भी है। यदि तन, मन, धन वचनका उपयोग केवल घरके चार जीवोंके लिए ही रहा तो इस ममतासे तो अपनी बरबादी ही है। इस अज्ञानमें रहकर कहां तक समय गुजारा जा सकेगा ? अनेक परिस्थितियां आयेंगी संयोगकी, वियोगकी, बीमारीकी, उनसे कौन बचा सकेगा ? यह तो सब दुःखोंका घर है। दुनिया दुःखोंका घर नहीं, यह जो अज्ञानका मंतव्य है वही दुःखोंका घर है। दुनियाके किसी भी पर सत्त्वसे मेरा कुछ बिगाड़ नहीं है।

उपयोगमें विश्वविकल्प भरनेसे बरबादी—जैसे पानीमें नाव तैरती है तो उससे कुछ नावका बिगाड़ नहीं है, पर नावमें पानी आ जाय तो उससे नावका बिगाड़ है। इसी तरह यह मेरा उपयोग लोकरूपी सागरमें तैर रहा है, इससे कुछ आत्माका बिगाड़ नहीं होता, पर इस उपयोग-नावमें

ये लोकके पदार्थ इष्ट अनिष्ट यह समस्त तरंगोंमय जलसमूह यदि प्रवेश कर जाय, भर जाय तो यह उपयोगकी नाव डूब जायेगी। डूबी ही है। जैसे डूबी हुई नाव जलके भीतर हिलती डुलती चक्कर खाती रहती है इसी तरह इस विश्वमें डूबा हुआ यह उपयोग यह आत्मा नीचे ही नीचे पड़ा हुआ चतुर्गतियोंमें ठोकर खाता हुआ क्लेश पा रहा है। उपयोगमें जो इसने अलावला भर रखा है—घरके कुटुम्बको, धन वैभवको जो इसने भर रखा है उससे यह डूब गया है और दुःखी हो रहा है।

शुद्धस्वरूपकी दृष्टि करके विश्वको उपयोगमें भरनेसे हानिका अभाव—कदाचित् यह स्वरूपदृष्टि करके सब जीवों को अपने चित्तमें भरले तो न डूबेगा। जैसे नावमें कहते हैं कि केवल एक भी पापी बैठा हो तो नाव डूब जाती है। ऐसे ही इस उपयोगमें जो पापी लोग बैठे हैं उनसे यह उपयोग डूब रहा है। बाकी आदमी जिन्हें आप गैर मानते हैं आपकी निगाहमें उनके साथ ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध रह सकता है। तो जब जो ज्ञेय मात्र रह सके वे आपके बाधक ज्ञेय नहीं हुए और जिनमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके ज्ञेय बनाया है, जिनका मन रखनेके लिए नाना चेष्टाएँ करते हैं, रूठ जायें तो मनाते हैं और शकल देखते रहते हैं कि यह खुश रहे। न जानें कितना बोझ यह लादे हुए अपने को उनके बोझसे डुबा रहे हैं। ये ज्ञेय, ज्ञेय ही रहते तो कोई बिगाड़ न था, पर जहाँ रागद्वेषमय अज्ञान भाव बना उससे ही यह जीव अपना घात किए जा रहा है।

ज्ञानी अज्ञानीकी दृष्टिसे सिद्धान्तविवेचनाकी पद्धति—पहिले बंधाधिकारमें यह बताया गया था कि रागद्वेषादिक परिणामोंका यह जीव कर्ता नहीं है किन्तु परद्रव्योंके द्वारा उत्पन्न होता है और स्फटिकका दृष्टान्त दिया गया था कि जैसे स्फटिकमें लालिमा स्फटिकसे नहीं उत्पन्न होती है किन्तु वह उपाधिभूत डांकके द्वारा उत्पन्न होता है, वहाँ तो यह बताया और यहाँ यह बतला रहे हैं कि रागादिक अपनी ही बुद्धिके दोषसे उत्पन्न होते हैं किसी परद्रव्यके द्वारा उत्पन्न नहीं होते विषयोंसे या कर्मोंसे या देहसे ये रागादिक उत्पन्न नहीं होते, ऐसी परस्पर विरोधकी बात कहनेमें मर्म क्या है? वहाँ रहस्य यह है कि बंधाधिकारमें ज्ञानी जीवकी मुख्यतासे बताया था कि इस आत्मामें रागादिक नहीं हैं। आत्माके स्वभावसे रागादिक नहीं होते हैं किन्तु उपाधि जैसे स्फटिकमें रंग उत्पन्न करदे, इसी प्रकार कर्म उपाधिके स्वभावसे ये रागादिक होते हैं। ऐसा कह कर शुद्ध चित्स्वरूपको एकदम दृष्टिमें ले जानेका प्रयोजन था और इस प्रकरणमें ज्ञानी जीवकी मुख्यतासे कह रहे हैं। जो अज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंमे ही अपने राग और सुख दुःख आदिकका कर्ता मानता है और

इसी बुद्धिके दोषसे अपना अपराध न मानकर दूसरे पदार्थका अपराध मानता है कि अमुक विषयके कारण ये मेरेमें सुख दुःख हुए, उस अज्ञानी जीवको सम्बोधने के लिये यहां यह बताया जा रहा है कि किसी विषय या देहादिकसे रागादिक उत्पन्न नहीं होते, ये तो अपनी बुद्धिके दोषसे हुए हैं।

ज्ञेय व ज्ञाताकी स्वतंत्र परिणति—भैया ! दर्शन, ज्ञान, चारित्र किसी अचेतन अर्थमें, देहमें नहीं है फिर उन विषयादिकके निमित्त क्या घात करते हैं। जो जीव अपने सुख दुःख रागद्वेषके होनेमें परवस्तुको ही कारण मानता है वह कभी मोहके संकटोंसे दूर नहीं हो सकता है। क्योंकि उसे अपने आपके शुद्धस्वरूपका बोध नहीं है। इस प्रसंगमें बात यों है कि जैसे बाह्य पदार्थ घट, पट, मेज कुर्सी आदिक, कहीं देवदत्त यज्ञदत्त को जैसे हाथ पकड़कर कार्य कराता है इस तरह ये बाह्यपदार्थ आत्मा पर जबर्दस्ती नहीं करता है। जैसे दीपक पर ये पदार्थ जबरदस्ती नहीं करते कि तुम हमको प्रकाशित करो और न यह दीपक ही उन बाह्यपदार्थोंमें प्रवेश कर ग्रहण करने के लिए जाता है। जैसेकि कोई सूई चुम्बक लोहेके प्रति उसे ग्रहण करनेके लिए जाती है, इस तरह यह उपयोग किसी बाह्य पदार्थको ग्रहण करनेके लिए नहीं जाता है।

वस्तुस्वभावकी अनुलंघ्यता—भैया ! वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि परके द्वारा पर उत्पन्न नहीं किया जा सकता। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध केवल है सो बाह्यपदार्थ घटपट आदिक हों तो न हों तो, ये बाह्यपदार्थ अपने स्वरूपसे ही प्रकाशमान् होते हैं और उन-उन घटादिककी विचित्रता से नाना प्रकारके सुन्दर-असुन्दर लम्बे चौड़े भद्दे वे पदार्थ इस दीपकमें विकार करनेके लिए नहीं आते हैं। इसी प्रकार ये बाह्य पदार्थ सब रूप, रस, गंध, स्पर्श गुण और द्रव्य ये आत्माको ऐसा आग्रह नहीं करते कि तुम मुझको सुनो, मुझे देखो, मुझे सूँघो, मुझे चखो, मुझे छुवो अथवा मुझे जानो, ऐसा आत्माको अपना ज्ञान कराने के लिए आग्रह नहीं करते और न यह आत्मा ही अपने स्थानसे च्युत होकर उन पदार्थोंको जाननेके लिए जाता है। वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि उनमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु किसी एकके द्वारा कोई दूसरा उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कुछ नहीं होता, यह ज्ञान तो अपने स्वरूपसे जाननमात्र होता है। ज्ञान तो जाननेका स्वभाव लिए हुए है, जो जानने में आ गया आ गया, ज्ञान तो अपने स्वरूपसे जाननहार रहता है। सो वस्तुके स्वभावसे नाना परिणमनको किए हुए ये बाह्य पदार्थ सुन्दर हों या असुन्दर हों, ये ज्ञानके विकारके लिए रंच भी नहीं हैं।

स्वभावके अपरिचयका महादोष—जैसे दीपक अत्यन्त उदासीन है,

इसी प्रकार यह आत्मा भी परके प्रति अत्यन्त उदासीन है, फिर भी जो रागद्वेष होते हैं वह सब अज्ञानका स्वरूप जंच रहा है। जो जीव निश्चय मोक्ष मार्गरूप निश्चय कारणसमयसारको नहीं जानता और व्यवहार मोक्षमार्गभूत व्यवहार कारणसमयसारको नहीं जानता वह अपनी बुद्धिके दोषसे रागद्वेषरूपसे परिणम रहा है। इसमें शब्दादिक विषयोंका कोई दूषण नहीं है, दूषण तो हमारा स्वयंका है।

बुद्धिगत दोषकी घातव्यता—एक कहावत है कि गधेसे न जीते तो कुम्हारीके कान मरोरे। एक कुम्हारको गधेने दोलत्ती मारी तो उसे गधेके कान मरोरने कठिन हो गये क्योंकि वह काटता भी था और लात मारने वाला भी था। सो गधे से न जीत सका तो उसने कुम्हारीके कान मरोर दिये। क्रोध तो भजाना ही था। अपनी बुद्धिका दोष तो दूर नहीं किया जा सकता और बाह्य पदार्थोंके संग्रह विग्रह करनेका यत्न किया जाता है, सो ये विषयगत पदार्थ आत्माको क्लेश नहीं पहुंचाते, राग नहीं पहुंचाते क्योंकि उन पदार्थोंमें अपना गुण है ही कुछ नहीं, फिर भी जो यह दुःख मच रहा है, इस पर आचार्यदेव खेद प्रकट करते हैं।

एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई विमूढो।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥

स्वमहिमाके अज्ञानमें परका आकर्षण—ऐसा जानकर भी यह मोही जीव शांतिभावको प्राप्त नहीं होता है और परके ग्रहण करनेका मन करता है क्योंकि आप जो कल्याणरूप है ऐसे निज सारतत्त्वको तो प्राप्त नहीं किया तो असारको ही ग्रहण करता है। छोटे लोगोंमें मट्ठा की खीर बासी भी हो तो भी वे लोग शादी वगैरहमें खाया करते हैं, तो जिसे उत्तम व्यञ्जनोंका स्वाद नहीं है उनको यही रुचता है। जिसको आत्मीय आनन्द का रस नहीं प्राप्त है उसे शांति नहीं प्राप्त हो सकती और सुखाभासमें ही वह आनन्द ढूँढ़नेकी व्यग्रता करता है। शुद्ध आत्माके सम्वेदनसे उत्पन्न हुए प्रकाशको जिसने नहीं पाया, सहज परम आनन्दस्वरूप शिव सुखको जिसने नहीं पाया, ऐसा जीव शब्दादिक विषयोंमें और गुणद्रव्योंकी चर्चा में आसक्त होता है वह उपशम भावको प्राप्त नहीं कर सकता।

परसे विकारके ग्रहणपरिहारका स्वभाव—यह ज्ञाता आत्मा अथवा यह ज्ञानस्वरूप बहुत महिमावान् है। अपने आपकी अतुल महिमाका ज्ञान नहीं है तो परको ओर उपयोग करके यह मोही जीव भिखारी, दीन और आकुलित होता है। स्वयं तो है आनन्दका भण्डार पर उपयोग इस आनन्दमय स्वभावको नहीं देखता। सो यह अपने आपमें रोता हुआ रहता है और बाहरी पदार्थोंकी ओर आकृष्ट बना रहता है। यह ज्ञान ज्ञेय पदार्थों

से विकारको प्राप्त नहीं होता। कोई चौकोर चीज जान ली तो ज्ञान चौकोर नहीं हो जाता। काला, नीला जान लिया तो ज्ञान काला नीला नहीं हो जाता। कैसा ही जान लें यह ज्ञान इष्ट अनिष्ट नहीं हो जाता, रागी द्वेषी नहीं हो जाता। यह ज्ञान तो ज्ञान स्वरूप ही है।

रागद्वेषका रूपक—रागद्वेष क्या बला है? इसके दो उत्तर दिए गए हैं। बंधाधिकारमें तो यह उत्तर है कि रागादिक प्रकृतिपरिणतकर्मोंके द्वारा जनित है। आत्मा तो शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है और यहाँ यह उत्तर दिया जा रहा है कि यह तो अपनी कुबुद्धिके होनेसे विगड़ा बना हुआ है। इसे परद्रव्य कुछ नहीं करते। जिन्हें अपने ज्ञानकी कला जगी है वे सब नयोंसे और सब वर्णनोंसे अपने स्वभावके आलम्बनकी ही शिक्षा लेते हैं। निमित्तनैमित्तिक भावसे आत्माके शुद्ध स्वभावकी स्वरक्षा जानते हैं। और ये रागादिक मेरे रंच भी नहीं हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं, इन परद्रव्यों से मेरा कोई वास्ता नहीं है, वहाँ पर भी इसने अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूपको निरखा और जहाँ केवल अपने आपकी दृष्टि करके देखा जाता है। ये रागादिक जो होते हैं मेरे स्वभाव नहीं हैं, फिर भी ये मेरी बुद्धिके दोषसे हुए हैं, दूसरेके कारण नहीं होते।

आश्रयकी अदृष्टिसे विकारोंका विनाश—अपने आपके अतिरिक्त अन्य समस्त पदार्थ तो मेरी ओर दृष्टि भी नहीं करते। सो इन रागद्वेषादिक विकारोंको खुराक न मिले तो फिर ये कब तक पनपेंगे? रागादिक विकारों की खुराक है परपदार्थोंकी ओर दृष्टि करना। जब निश्चयके स्वभावमें परपदार्थोंकी ओर दृष्टि ही नहीं जा रही है तो ये रागादिक भूखे रहकर मरेंगे ही। ये बढ़ नहीं सकते। निश्चयके आलम्बनसे इस तरह ज्ञानीने अपना कल्याण-बल पाया। इन बोध्य पदार्थोंसे यह ज्ञान किसी भी विक्रियाको प्राप्त नहीं होता। जैसे प्रकाश्य पदार्थोंसे यह दीपक विकारको प्राप्त नहीं होता। तो हे अज्ञान पीड़ित आत्माओ! वस्तुके स्वरूपके ज्ञान से अलग रहकर क्यों रागद्वेषरूप हो रहे हो और अपनी उदासीनताका क्यों परित्याग कर रहे हो? ज्ञानका स्वभाव तो ज्ञेयको जानना है। ज्ञेय को जानने मात्रसे ज्ञानमें विकार नहीं आते। ज्ञेयको जानकर भला बुरा मानकर राग और द्वेष करना यह सब अज्ञानसे होता है।

निजगृहविस्मरणसे भटकन—अपने आपका सही पता हो तो भटकना कैसे हो सकता है? अपने घरका पूरा पता हो तो कोई कैसे भटकेगा? बचपनमें एक घटना हुई, हम ९ वर्षकी उम्रके थे। सागरसे पढ़कर हम १ सालमें घर आए। एक साल तक घरका मुँह न देखा था, सो गाँवका कुछ बड़ी आयुका एक छात्र और साथमें पढ़ता था, उसके साथ आ गए।

तो गाँवके गोंयड़ेसे वह तो अलग हो गया। अब मैं अकेला रह गया। हम कहीं कुम्हारके घरमें घुसे, कहीं किसीके घरमें घुसे। भूल गए थे। तनिक शामका भी समय हो गया था। लोग हँसे, फिर कोई हमको घर ले गया। जब मैं घर पहुंचा उन्हें खबर मिली तो एकदम सब लोग जुड़ गये। यों ही अपने आपके घरका पता न रहे तो यह जीव डोलता फिरता है।

आत्माके अपरिचयमें पराशासे प्राणघात—अपने आत्माका घर है अपने ही गुणोंका पुञ्ज। उसका पता नहीं है तो दीन हीन भिखारी होकर परकी ओर निगाह रखकर घूमता फिरता है, मुझे इस चीजसे सुख होगा। जैसे हिरण रेतीली जमीनमें गर्मीके दिनोंमें दूरकी रेतको पानी जानकर दौड़ता है, वहाँ मुझे पानी मिलेगा, पर जब निकट पहुंचता है तो पानीका कहीं नाम नहीं, फिर गर्दन उठाकर दूर दृष्टि डालता है तो दूरकी रेत उसे पानी जैसी मालूम होती है, फिर वह दौड़ लगाता है। वहाँ पर भी पानी उसे नहीं मिलता है। इस तरह दौड़ लगा-लगाकर वह अपने प्राण पखेरू उड़ा देता है। इसी तरह यह संसारी जीव इतने लम्बे ताने पर दौड़ता रहता है। ओह, हजार हो जायें तो सुख मिलेगा, लाख हो जायें तो सुख मिलेगा। इस तरहसे तृष्णा बढ़ाकर वह इधर उधर दौड़ लगाता रहता है पर कहीं भी इसे सुख नहीं मिल पाता और अंतमें अपने प्राण उड़ा देता है।

कर्ममुक्तस्वरूपदर्शी—यह ज्ञानी जीव रागद्वेषके विभावोंसे मुक्त तेज वाला, व स्वभावको स्पर्श करने वाला है और चाहे पहिलेके किए गए ये कर्म हों, क्रिया मन, वचन, कायकी और चाहे आगामी कालमें प्रोग्राममें बनी हुई क्रियाएँ हों उन समस्त कर्मोंसे वह ज्ञानी दूर रहता है। गयेका शोक क्या, जो नहीं है उसका शोक क्या? वर्तमानमें जो ज्ञानी इन विभावोंसे मुक्त अपनेको ज्ञानज्योतिर्मय तक रहा है वह बीतेकी चिंताएँ क्या करेगा और भविष्यकी वाञ्छा क्या करेगा? यह ज्ञानी तो वर्तमान कालके उदयसे भी अपनेको भिन्न तक रहा है। पानी से भरे हुए हौजमें तेल गिर जाय तो वह तैल उस पानीसे मिल नहीं जाता, इसी तरह इस आनन्दमय आत्मामें ये विभाव पड़ गए हैं तो ये विभाव इस आत्मासे मिल नहीं जाते, ऐसा ज्ञानी तकता है।

ज्ञानीकी संभाल—भैया! मैं तो ध्रुव ज्ञानमात्र हूं—ऐसी भीतरमें पकड़ जिसकी हो जाय उसके लिए तीनों लोकका वैभव तृणवत् है अथवा काक बीट की तरह है। चक्रवर्ती की सम्पदा इन्द्र सरिखे भोग काकवीट-सम गिनते हैं सम्यग्दृष्टी लोग। यद्यपि यह जीव बोझसे लदा हुआ है, पर गृहस्थीके भारसे दबा हुआ है, अरे दबे हुएमें ही कुछ थोड़ासा चुपके

से सरक जाय तो वह बोझ जहाँ का तहाँ पड़ा रह जायेगा और यह आनन्द मुक्तिको पा लेगा। जैसे बालक लोग आपसमें हो हल्ला मचाते हैं। कोई लड़का किसी दूसरे को जबरदस्ती घोड़ा बनाकर उसकी पीठ पर बैठकर घूमता है। वह लड़का तनिक नीची कमर करके धीरेसे खिसक जाता है तो वह दूसरा लड़का जहाँका तहाँ ही रह जाता है। तो अपने इस उपयोग पृष्ठ पर बड़ा बोझ लदा है तो अपनी संभाल तब है जब कि धीरेसे सरक कर किसी समय बाहर निकल जायें, बस साराका सारा बोझ पड़ा रह जायेगा। स्वयंको फिर मुक्तिका आनन्द मिलेगा।

विविक्त ज्ञानस्वरूपकी दृष्टव्यता—इस ज्ञानीको दृढ़तर आलम्बन किए गए चारित्र वैभवका बल है। जिस बलके प्रसादसे इस ज्ञान चेतनाको ये ज्ञानीजन अनुभव करते हैं। जहाँ चमकती हुई चैतन्यज्योति सदा जागृत रहती है जिसने अपने ज्ञानरससे तीनों लोकको सींच डाला है ऐसे विज्ञानघनैकरस आत्मतत्त्वको देखो। इस ज्ञानचेतनाका ही अनुभव करो। इस वर्णनमें मूल बात यह कही गयी है कि वर्तमानमें जो विभाव आ पड़े हैं उन विभावोंको भी अस्वभाव जानकर उनसे विविक्त उपयोग बनाकर ज्ञानस्वरूपको निहारा करो। यही है सारे मलको जलाने वाली मुख्य ज्योति।

ज्ञानानुभूतिसे सकलसंकटसंहार—कैसे कर्म करते हैं, कैसे अनुभाग खिरता है, कैसे बंध मिटता है, कैसे शांति निकट आती है? सबका मूल उपाय एक यही है कि वर्तमानमें हो रहे विभावोंसे विविक्त इस ज्ञानस्वरूप आत्माको देखो और इसही ज्ञानस्वरूपमें रुचि करो, इसमें ही लीन होने का यत्न करो, अवश्य ही ऐसा अलौकिक आनन्द जगेगा जिस आनन्दके प्रतापसे भव-भवके संचित कर्मोंका इतना बड़ा ढेर यों जल जायेगा जैसे बड़े ढेरको जलानेमें अग्निका एक कण समर्थ होता है। मूलदृष्टि एक बना लो। हमें करना क्या है, हम पर बीत रही सारी बातोंको भूलकर अपने आपका जो सहज ज्ञान स्वरूप है उस रूप अपनेको मानते रहना है और बाहरकी फिक्र न करो। यह जगत असार और अशरण है। यहाँ अन्य किसी प्रकारसे पेश नहीं पा सकते। सबको भुलाकर अपने ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपको ही देखो।

अपराधमुक्त्युपायकी जिज्ञासा—शब्दादिक बाह्य विषयोंमें आत्माका दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण नहीं है, अतः उन विषयोंमें व विषयोंसे न तो हमारे गुणोंका उत्पाद होता है और न उनसे हमारे गुणोंका विघात होता है, फिर भी यह जीव पूर्वसंस्कारवश उन विषयोंमें लगकर अपना घात करता है। ऐसे इस अपराधसे बचनेका कोई उपाय है, इस अपराधको दूर

कर सकनेका कोई मार्ग है जिससे उन सब अपराधोंसे दूर होकर मोक्ष मार्गमें लग सकूँ और उनसे मुख मोड़ सकूँ, ऐसी जिज्ञासा होनो प्राकृतिक है। उस ही विषयमें कह रहे हैं कि हाँ हैं वे उपाय अपराधसे दूर होनेके। वे उपाय हैं प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना। उनमें से प्रतिक्रमणके सम्बन्धमें कहा जा रहा है।

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥३८३॥

जो पूर्वकृत कर्म हैं जिसके कि शुभ अशुभ आदि अनेक विस्तार विशेष हैं उनसे अपने आत्माको निवृत्त कर लेना सो प्रतिक्रमण है।

जीवकी विभावपरिणतिरूप कर्म—जगतके जीव तीन प्रकारके कामोंमें आसक्त हो रहे हैं। पूर्वकृतकर्मोंमें, भावकर्मोंमें और वर्तमान कर्मोंमें। यहाँ कर्म शब्द बार-बार प्रयुक्त होगा, उनमें से अधिक स्थानों पर तो जीव की परिणतिका अर्थ लेना क्योंकि जीवका वास्तविक कर्म जीवकी परिणति है। कर्म नाम भावकर्मका सीधा है और द्रव्यकर्ममें कर्म नाम उपचार से कहा गया है, क्योंकि क्रियते इति कर्म। जो किया जाय उसका नाम कर्म है। जो जीवके द्वारा किया जाय उसका नाम जीवकर्म है। इस मोही जीवका पूर्वकृत कर्मोंमें लगाव रहता है और वर्तमान कर्मोंसे लगाव रहता है और भावीकर्मोंमें भी लगाव रहता है।

पूर्वकृतकर्ममें कर्तृत्वबुद्धि—जैसे कोई लोग पहिले किए गए कामोंकी याद करके अब भी अपनी ऐंठ बगराते हैं और उन किए गए कर्मोंके सम्बन्धमें कोई विवाद आ जाय तो कलह करते हैं, उनमें भी आसक्ति रखते हैं। जैसे किसीके बाप दादाने कोई मंदिर बनवाया था सो अब चाहे अपन खुद गरीब हो गए हों पर यह ऐंठ बराबर रहती है कि मेरे दादा बाबा ने यह मंदिर बनवाया। यद्यपि दूसरेके किए गए कर्मोंमें इसकी आसक्ति नहीं होती, वहाँ भी अपने किए हुए कर्मोंमें आसक्ति है, पर उसके विषयका, आश्रयभूत पदार्थका कर्तृत्व बना हुआ है।

प्रतिक्रमण—पूर्वकृत कर्मोंसे निवृत्त होना इसका नाम है प्रतिक्रमण अथवा उन पूर्वकृत कर्मोंके कारण जो द्रव्यकर्मका बंधन हुआ था उनको आज निष्फल कर देना वह प्रतिक्रमण है। ये कर्म शुभ अशुभके भेदसे और मूल व उत्तर प्रकृति अर्थात् प्रकृतिके भेदसे अनेक प्रकारके हैं। उनसे अपने आत्माको निवृत्त करना है। वह कौनसा उपाय है जिससे यह आत्मा अपने किए हुए अपराधसे दूर हो सकता है? वह कर्तव्य है कारण समयसारमें स्थित होना अर्थात् ज्ञानस्वभावी जो कार्य समयसारका

उत्पादक है, जिस शक्तिकी व्यक्तियां केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनन्तसुख, अनन्तशक्ति आदि गुणविकासरूप होती हैं ऐसे कार्यसमयसारके उत्पादक कारणसमयसारमें स्थित होकर जो अपने आत्माको पूर्वकृत कर्मोंसे अलग कर देता हैं वह पुरुष साक्षात् प्रतिक्रमण है ।

उदाहरणपूर्वक प्रतिक्रमणकी चिन्मयताका समर्थन—जैसे धर्म, धर्म कहीं डोलता नाचता हुआ नहीं मिलेगा, किन्तु जो धर्मात्मा लोग हैं, धर्मका पालन करने वाले जीव हैं वे ही धर्म कहलाते हैं और जो शुद्ध आत्मा हो गए, धर्मका जिनके पूर्ण विकास हुआ है वे धर्म साक्षात् हैं ही । भगवानका नाम है धर्मकी मूर्ति । उसे अहिंसाकी मूर्ति कहो, सत्यकी मूर्ति कहो, धर्मकी मूर्ति कहो, ज्ञानकी मूर्ति कहो, वह प्रभु साक्षात् धर्म है इसी तरह प्रतिक्रमण कुछ अलग व्यवस्थित बात नहीं है किन्तु जो पूर्वकृत कर्मोंसे अपने आपको अलग कर देता है उस पुरुषका ही नाम प्रतिक्रमण है । यह प्रतिक्रमण बनता है कारणसमयसारमें स्थित होनेसे । कैसा है यह कारणसमयसार कि समतारस परिणामसे भरपूर है । ज्ञाता रहना या रागद्वेषरहित रहना, ये सब एक ही स्थितिके नामान्तर हैं ।

प्रतिक्रमणकी परिस्थिति—जब यह जीव इस लोककी और परलोककी आकांक्षाओंसे रहित बनता है, ख्याति पूजाकी चाहके विकल्पसे अत्यन्त विविक्त हो जाता है अन्य पदार्थोंके लाभकी वाञ्छासे, तृष्णासे दूर होता है, देखे गये, सुने गये, अनुभव किए गए सर्वप्रकारके भोगोंके स्मरणसे दूर होता है, सर्वप्रकारके बाह्य आलम्बनसे हटकर शुभ अशुभ संकल्पोंसे परे होता है उस समयकी स्थितिमें अनुभवे हुए इस कारणसमयसारमें स्थित होकर यह ज्ञानी संत पूर्वकृत परिणामोंसे अत्यन्त दूर हो जाता हैं ।

साक्षात् प्रतिक्रमणमयता—अपराध बहुत किया है । अपने आपके स्वभावदृष्टिसे अलग रहनेका नाम अपराध है । यह अपराध अनादिसे किया जा रहा हैं । इस अपराधसे दूर होनेकी स्थिति यह है कि संकल्प विकल्प रहित शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावात्मक तत्त्वके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और अनुभवन रूप जो अभेद रत्नत्रयरूप धर्म है उस धर्ममें अपने उपयोगको स्थित करना, सो जब ऐसा ज्ञान रस करि भरपूर समतारस करि परिपूर्ण कारणसमयसारमें स्थित होकर जो पुरुष पूर्वकृत कर्मोंसे अपने आत्माको निवृत्त कर लेता है वह पुरुष साक्षात् प्रतिक्रमणरूप है ।

व्यवहारप्रतिक्रमणका प्रयोजन—पंचेन्द्रियके विषयोंमें मनके विकल्पोंमें, शरीरमें अपना उपयोग लगाकर जो अपराध किया है उन अपराधोंसे

दूर होनेका उपाय प्रतिक्रमण है। अपराध बन जाने पर व्यवहारप्रतिक्रमण भी किया जाता है, उस व्यवहारप्रतिक्रमण का यह भाव है कि चरणानुयोग की पद्धतिसे अपराध सम्बन्धी मलिनता और पछतावे को दूर करके मैं अब इस योग्य बन जाऊँ कि निश्चयप्रतिक्रमणमें बढ़ सकूँ। व्यवहार धर्मका प्रयोजन निश्चय धर्ममें लगना है। इसी प्रकार व्यवहारप्रतिक्रमण का प्रयोजन निश्चयप्रतिक्रमणमें लगना है। जिस जीवको निश्चय प्रतिक्रमणकी खबर ही नहीं है ऐसा मोही जीव साधुव्रत लेकर भी, रोज-रोज कठिन प्रतिक्रमण प्रायश्चित तपस्या करके भी अपने आपकी काय को सुखा ले, फिर भी उसे कर्मनिर्जराका साधनभूत प्रतिक्रमण नहीं हो पाता, क्योंकि कर्मोंकी निर्जरा निश्चयप्रतिक्रमणके द्वारा होती है।

कर्मबन्धकी निमित्तनैमित्तिक योगता—ये कर्म बंधके उद्यमी हुए कार्माण पुद्गल सर्व अचेतन हैं इनको ज्ञान नहीं है जो यह देख सकें कि यह आत्मा कहाँ बैठा है, कहाँ कहाँ हिल रहा है? ये हाथ हिलायें तो मैं बँध जाऊँ, न हिलायें तो न बँधू इतनी समझदारी कर्मोंमें नहीं है। किन्तु जैसे अग्निका निमित्त पाकर बटलोहीका पानी गरम हो ही पड़ता है इसी प्रकार मिथ्यात्व रागद्वेषके लगावका सम्बन्ध पाकर ये कार्माणवर्गणाएँ बँध ही जाती हैं। उसमें कर्मोंकी कोई बेईमानी नहीं है। जैसे ये सब पुद्गल अचेतन कोई बेईमान नहीं हैं—घड़ीमें चाभी भर दें और उसके पेंच पुर्जे बिल्कुल व्यवस्थित हों तो वह ७ दिनों तक चलती रहेगी। आपको घड़ी की खबर रहे तो, न रहे तो। आप कभी गप्पोंमें लग जायेंगे तो घड़ी तो अपने आप चलती रहेगी। वह यह न देखेगी कि मेरे मालिकको काम करने जल्दी जाना है इसलिए थोड़ी देरको बंद हो जाऊँ। वह तो ईमानदारीसे अपना काम करेगी। ये सब अचेतन पदार्थ ईमानदारीसे अपना काम कर रहे हैं। जैसा इनका योग है जैसा इनका सुयोग है, उस प्रकार ये सब होते रहेंगे।

अपराधका सामर्थ्य और प्रतिक्रमण—भैया! बेईमानी पर उतारू तो यह समझदार आत्मा बन गया है। जिसमें ज्ञान है किन्तु साथमें भ्रम और विकार है, ऐसा पुरुष पदार्थ तो है किसी भाँति और प्रवृत्ति करता है किसी भांति। कितने अपराध कर डाले हैं जिनकी कोई गिनती नहीं है। एक सेकेण्डमें अनन्त अपराध हो जाते हैं। पर अनन्तकालके अपराधोंकी कहानी क्या कहें? उन सब अपराधोंसे दूर होने का एक ही सुगम उपाय है कि समस्त बाह्य पदार्थोंका आलम्बन हटाकर उपयोगको दूर करके संकल्प विकल्प रहित सहजज्ञान स्वभावमात्र अपने अंतस्तत्त्वके दर्शन करना उसहीमें उपयोगको लगाना, बस इसही एक उपायसे ये समस्त संकट निवृत्त हो जाते हैं।

पूर्वबद्ध अनन्तकर्मोंके दूर करनेका एकमात्र उपाय—जो पुरुष पुद्गल कर्मके उदयसे होने वाले वर्तमान परिणामोंसे अपने आत्माको अलग करता हो वह ही पुरुष उन वर्तमान कर्मोंके कारणभूत, वर्तमान अवस्थाके कारणभूत पूर्व कर्मोंका परिहार करता हुआ स्वयं ही प्रतिक्रमण हो जाता है। लो कुछ और भी एक बात सुगम आ गयी। पूर्वके अनन्त अपराधों से हटनेके लिए पूर्वके अनन्त अपराधोंमें एक-एकसे हटनेका श्रम नहीं करना है, किन्तु वर्तमानमें आ पड़े हुए एक परिणमनसे हटनेका पुरुषार्थ करना है, क्योंकि पूर्वकृत कर्म पड़े हुए हैं, वे पड़े हैं तो पड़े रहें। उनके द्वारा विकल्प तो तब आता है जब उदयकाल आता है। वर्तमान उदय कालमें आए हुए विभावोंसे उपयोग को हटाकर सहज ज्ञानस्वरूप मात्र कारणसमयसारमें जो पहुंचता है उसके पूर्वकृत अनन्त कर्म स्वयं दूर हो जाते हैं।

व्यवहारप्रतिक्रमणकी आवश्यकता—कोई अपराध बन जाय। अब जब तक अपराधका स्मरण और पछतावेका विकल्प रहता है तब तक निश्चय मोक्षमार्गकी ओर गति नहीं हो पाती है। इस कारण व्यवहारप्रतिक्रमण के मार्गसे अपने आपमें ऐसा समतल बना लेना कि जहाँ निश्चयमोक्षमार्ग में हमारी गति हो सके। इसके अर्थ ही व्यवहारप्रतिक्रमण है। गुरुसे अपने दोषोंकी सही आलोचना करके उनके द्वारा बताए गए दंडको बड़ी प्रसन्नताके साथ सहे, इसके प्रसादसे उसकी रुकावट, अर्गला समाप्त हो जायेगी। इस प्रकारसे प्रसन्नचित्त होकर उस दंडको ग्रहण करना सो यही है व्यवहारप्रतिक्रमण। व्यवहारप्रतिक्रमण न किया जाय तो जीवमें स्वच्छन्दता आ जाती है। क्योंकि कोई आन अब नहीं रही।

व्यवहारप्रतिक्रमणके प्रयोजनकी साधनामें व्यवहारप्रतिक्रमणकी सार्थकता—दोष हो जाने पर दोषकी परवाह न करना अथवा मैं ज्ञान वाला हूं, समझदार हूं, निश्चय तत्त्वको जानता हूं, उस ओर ही अपनी दृष्टि लगाकर सब अपराध दूर कर लूँगा, ऐसे ख्यालसे व्यवहारप्रतिक्रमण अथवा दंड न स्वीकार करना यह प्रमाद प्रगतिमें बाधक बनेगा। व्यवहारमें हैं तो व्यवहारप्रतिक्रमण करना तो आवश्यक है ही, पर व्यवहारप्रतिक्रमणमें जो गुरुने दण्ड बताया और उसे भुगत ले तो अब मैं केवल शुद्ध हो गया, अब मैं कर्मोंको काट लूँगा, ऐसा ख्याल न बनाना। व्यवहारप्रतिक्रमण का प्रयोजन है निश्चयप्रतिक्रमणमें लगना। जैसे कोई पुरुष चाकूकी धार बना रहा है पत्थर पर घिसकर तो धार ठीक बनी या नहीं, इसकी परीक्षाके लिए उसकी धार पर वह अपनी अंगुली फेरता है। समझमें आ जाय कि हाँ धार ठीक बन गयी तो अपने काममें लग जाता है, जिसके

लिए धार पैनी की थी, इसी तरह व्यवहारप्रतिक्रमणके द्वारा अपने आपके प्रज्ञाकी धार पैनी की जा रही है। उस किए गए व्यवहारप्रतिक्रमणसे यदि आपमें थोड़ा बहुत अपने कारणसमयसारकी झलक की है तो वह चक्कू की धार पर अंगुली फेरनेकी तरह परीक्षा है। उससे आप जान सकेंगे कि हाँ हमने विधिपूर्वक प्रतिक्रमण कर लिया है।

मलिनता व निर्मलताका प्रभाव—एक बंगालका किस्सा है, गुरुजीने सुनाया था कि एक बहुत बड़े जमींदारकी लड़की थी, द्रोपदी जिसका नाम था, विधवा हो गयी थी छोटी उमरमें। तो जमाना बड़ा स्वार्थभरा है, असहाय लोगोंको स्थान कम मिलता है। तो पिताने अपने ही घर बुला लिया और एक बाग व कुछ जगह जमीन सम्पत्ति उसके नाम लिख दी तो कि इसका गुजारा ठीक चले। वह अपने पिताके घरमें ही रहने लगी। कुसंयोगकी बात है कि उस नगरके किसी पुरुषके साथ अनुचित सम्बन्ध बन गया। सो इतना पापोंका परिणाम फूटा कि बागके आम कड़ुवे हो गए और बावड़ीमें जो पानी भरा था उसमें कीड़े पड़ गये। बहुत दिनोंके बादमें लड़की को बड़ा पछतावा हुआ, प्रायश्चित लिया, दंड भोगा और ज्ञान व वैराग्यकी ओर उसने अपना उपयोग लगाया। इतनी विरक्त हो गयी कि सब कुछ त्याग कर देनेका भाव आ गया। वह एक दिन बोली कि पिता जी हमारा भाव है कि अमुक तीर्थ पर मूर्ति पर जल धारा दूं, जलधारा देते ही मेरे प्राण निकलेंगे। तो जानेका दिन निश्चित हो गया, गाँवके सब लोग पहुंचाने के लिए गए। तो जो लोग उस लड़कीके चरित्रको जानते थे वे मुँहमें रुमाल लगाकर हँसने लगे कि देखो अब यह बिल्ली सैंकड़ों चूहोंको मारकर हज्ज करने जा रही है। तब जाते समय उस द्रोपदीने कहा कि अब मैं वह नहीं हूं जो इस गाँवकी पहिले थे। अब मैं तीर्थयात्राको जा रही हूं। वहाँ मूर्ति पर जलधारा दूंगी और जलधारा देते ही प्राण निकल जायेंगे। यदि तुमको हमारी परीक्षा करनी हो तो अब बागमें जावो और आम चखो और बावड़ीका पानी पिओ। यह आगे चली गयी, लोगोंने जाकर आम चखे तो बड़े मीठे और पानी पिया तो बड़ा मीठा। लोगोंको विश्वास हुआ कि अब इसके पवित्रता बढ़ी है और वहाँ भी देखने गये, जैसा कहा था वैसा ही हाल हुआ।

अन्तःप्रतिक्रमण—जब पापोंसे ग्लानि अंतरंगमें होती है और हित स्वरूप आत्मतत्त्व की भावना जगती है तब प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्तका सही अर्थ हो पाता है। जो पुरुष पुद्गलकर्मके उदयसे होने वाले परिणामों से अपने आपको निवृत्त कर लेते हैं वे वर्तमान उदयके कारणभूत पूर्वकर्मों का प्रतिक्रमण करते हुए स्वयं ही प्रतिक्रमणका स्वरूप होते हैं। ऐसे प्रति-

क्रमणके भावके निमित्तसे ये समस्त पूर्वकृत अपराध निवृत्त हो जाते हैं तब ये ज्ञानीसंत साक्षात् प्रतिक्रमणस्वरूप होते हैं।

प्रतिक्रमणप्रसंगमें शिक्षारूप उपसंहार—यह मोही प्राणी पूर्वकृत कर्मोंमें अनुराग रखकर अपने गर्वको पुष्ट करता है। मैंने ऐसा किया था, मेरे ऐसा वैभव था, उन साधनोंकी स्मृति करके अपने स्वरूपसे चिगा रहता है। सो यह अत्यन्त व्यर्थकी बात है। जो गुजरे सो गुजरे अब उसमें क्या लालसा रखना? पूर्वकृत करतूत की स्मृति पूर्वबद्धकर्मोंके विपाक भोग लेनेका प्रधान साधन है। इन पूर्वकृत अपराधोंसे वही पुरुष बचता है जो सदा वर्तमान अंतःप्रकाशमान निज सहज स्वभावको दृष्टिमें लेकर आत्म-विश्राम करता है। यहाँ प्रतिक्रमणका वर्णन करके अब भविष्यके कर्मोंसे निवृत्त होनेको प्रत्याख्यानका वर्णन करते हैं।

कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झइ भविस्सं।
तत्तो णियत्तये जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥३८४॥

आगामी कालमें शुभ अशुभ कर्म जिस भावके होने पर बँधे, उस भावसे जो ज्ञानी निवृत्त होता है वह ज्ञानी प्रत्याख्यानस्वरूप है।

एक ही पुरुषार्थमें प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान व आलोचनाकी सिद्धि— हमको भावकर्म न बँधे, आगामीकालमें भी कर्मोंका संयोग न जुटे ऐसी बात यदि चाहना है तो वर्तमान भाव जो कि कर्मबंधके कारण हैं उन भावोंसे निवृत्त होना चाहिए। भविष्यके कर्म न बँधे, यह वर्तमान भावोंसे पृथक् होकर ज्ञानस्वरूपमें स्थिर होने पर निर्भर है। प्रतिक्रमणका जैसा एक ही प्रयत्न था कि पुद्गल कर्मके उदयसे होने वाले वर्तमान भावोंसे पृथक् ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपमें स्थिर होना वैसे ही यही है भविष्यके कर्मोंसे दूर होने का भी साधन। एक ही बात करनेमें प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान दोनों हो जाते हैं और आलोचना भी परमार्थतः निश्चयरूप हो जाती है। इन तीनोंके लिए तीन प्रकारके यत्न नहीं करते हैं किन्तु एक ही यत्न करना है कि पुद्गलकर्मोदयजनित वर्तमान भाव से पृथक् ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप को दृष्टिमें लेना है और उसमें ही स्थिर होना है।

एक यत्नमें तीन बात पा लेने पर एक लौकिक कथानक—एक कथानक है कि एक पुरुषने देवताकी आराधनाकी तो देवता प्रसन्न होकर बोला कि मांग लो वर जो चाहते हो। उस पुरुषने कहा कि हमको दो चार घंटेकी मोहलत दो, हम घर जाकर पूछ आएँ तब तुमसे वर मांगेंगे। ... अच्छा जावो पूछ आवो। उसने पितासे पूछा कि मैं देवतासे क्या माँगू। तो पिताने कहा बेटा धन मांग लो क्योंकि बापको धनकी बड़ी अधिक तृष्णा

हैं। यद्यपि मृत्युके दिन निकट आए हैं। भोगेंगे वे लड़के ही, मगर फिर भी पिताका धनके प्रति बहुत भाव रहता है। बेटा धन मांगलो। अब माँ के पास गया। माँ थी अंधी। तो अंधा होनेमें बड़ा क्लेश मानते हैं। पुरुष ने पूछा क्या मांगूँ माँ ··· बेटा मेरी आँखें मांग लेना। स्त्रीके पास गया। बोला क्या मांगें देवतासे? स्त्रीने कहा कि एक बेटा मांग लो। अब वह इस फिक्रमें पड़ गया कि तीनों ने तीन बातें कहीं। किसकी चीज मांगें किसकी न मांगे। आजका सा जमाना हो तो कहो मां बापको ठुकरा दें और स्त्रीकी चीज मांग लें। अब वह इस विचारमें था कि क्या करूँ? वह परेशानीमें आ गया। एकसे ही पूछता तो भला था। अब तुरन्त उसे अक्ल आयी। दूसरे दिन जब देवताने कहा, मांगो क्या मांगते हो? तो वह बोला कि मेरी माँ अपने पोतेको सोनेके थालमें खीर खाते हुए देखले। एक ही बात मांगी ना। अरे तीनों बातें आ गई। देवता तीन बातें देनेको तैयार न था। उसने एक ही बातमें आँखें, बेटा और धन पा लिया।

धर्मके अर्थ एक काम—भैया! धर्मके अर्थ एक काम करो, ज्यादा मत करो। वह एक काम कौनसा हो जिसके प्रसादसे सर्व अपराधोंके दूर करनेमें समर्थ प्रतिक्रमण भी बन जाता है, प्रत्याख्यान भी बन जाता है और आलोचना भी बन जाती है। ऐसा कार्य केवल एक यही है कि पुद्गल कर्मके विपाकसे होने वाले भावोंसे अपने आत्माको निवृत्त कर लो। इसमें ३ बातें आ गयीं। पूर्वकृत कर्मोंसे भी जुदा हो गया, भविष्यत् कर्मोंसे भी जुदा हो गया और वर्तमान कर्मोंसे जुदा भावनामें है ही। संसारके प्राणी जितना भविष्यकी वाञ्छामें मग्न हैं उतना अतीतकी याद नहीं रखते हैं। यद्यपि मोहमें दुतर्फा ही दौड़ चलती है फिर भी अधिकतर भविष्यकी वाञ्छावोंकी ओर इसकी ज्यादा दौड़ है। अब यह करेंगे, अब यह होगा; फिर यह होगा, मारे आकांक्षावोंके कभी चैन ही नहीं मिलती है। अच्छा कर लो आकांक्षा और जवाब भी देते जावो, फिर क्या होगा? लखपति बन गये, फिर क्या होगा? संतान समर्थ हो गए अच्छे पढ़े लिखे बन गये। फिर क्या होगा? वृद्धावस्था आ जायेगी। फिर क्या होगा? सब छोड़कर चले जायेंगे। फिर क्या होगा? आखिर मरेंगे ही। फिर क्या होगा? करनी का फल भोगेंगे।

शेखचिल्लीपन—भविष्यकी आकांक्षावोंमें तो शेखचिल्लीकी उपाधि दी जाती है कि शेख चिल्ली बन रहे हैं। बचपनमें और तरहके भाव भविष्यके लिए और जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं वैसे ही आकांक्षावोंका ढेर विभिन्न होता जाता है। एक सेठजी घीका घड़ा लिए हुए जा रहे थे। सेठने एक मजदूरको बुलाया और कहा कि यह घड़ा ले चलो। क्या

मजदूरी लोगे ? चार आने लो। वह मजदूर सिर पर घड़ा रखे हुए चला जा रहा है। सोचता जाता है कि आज तो चार आने मिल गये। चार आनेके चने खरीदेंगे। फिर खोंचा लगायेंगे, ८ आने हो जायेंगे, फिर ८ आने का खोंचा लगायेंगे १) रुपया हो जायेगा, फिर दो चार खोंचा लगायेंगे तो ५ रु० हो जायेंगे। फिर ५ रु० की बकरी खरीदेंगे, घी दूध बेंचेंगे, फिर गाय हो जायेगी, फिर भैंस हो जायेगी, चला जा रहा है ठुमक ठुमक और ऐसा सोचता जा रहा है, फिर दुमंजला मकान बनवायेंगे, फिर शादी करेंगे। बच्चे होंगे। कोई बच्चा बुलाने आयेगा कहेगा कि चलो दद्दा रोटी खाने माँ ने बुलाया है, कहेंगे कि अभी नहीं जायेंगे, फिर दुबारा कहेगा तो मना कर देंगे, फिर तिबारा कहेगा तो जोरसे सर हिला कर लात पटककर कहता कि चल हट अभी नहीं जायेंगे तो इतनेमें वह गगरी सिरसे गिर गयी और फूट गई। सेठने भी दो चार डंडे जमाये। ऐसे ही विचारोंमें रहकर यह जीव अपने जीवनको खो देता है। मिलता कुछ नहीं है। जैसे वह पहिले था वैसे ही अब है। माननेकी बात अलग है। उससे क्या सहारा होता है ? गुजर गये फिर तो एक मिनट बाद दूसरा फैसला हो जाता है।

एक शेखचिल्लीका दृष्टान्त—एक लकड़हारा था। वह लकड़ीका गट्ठा लिए हुए अपने कुछ साथियोंके साथ जा रहा था। गरमीके दिन थे। बरगदका एक पेड़ मिला, सो सबने सोचा कि जरा एक आध मिनट आराम कर लें। उस पेड़के नीचे लकड़ी धर दिया और सब सो गए। सो नींद आयी ही थी कि उनमेंसे जो सिरताज था वह एक स्वप्न देखता है कि मैं राजा बन गया हूं, सभा लग रही है। छोटे-छोटे राजा आ रहे हैं, अगवानी कर रहे हैं, नमस्कार कर रहे हैं और बड़ी प्रसन्नतासे उनसे बातें हो रही हैं। वह खूब आनन्दमें मग्न हो गया। स्वप्नकी बात है। सोते सोते दो घंटे व्यतीत हो गए। तो एक लकड़हारेने उसे जगाया, अरे चलो देर हो गयी। जब जगा तो देखा कि राजपाट अब कुछ नहीं रहा। अब तो वह उस जगाने वालेसे लड़ाई लड़ने लगा, दो चार तमाचे भी मारे। कहा कि तू ने मेरा राज्य छीन लिया। सब लोग दंग रह गये कि यह मेरा सिरताज क्या कह रहा है ? जैसे उसका कुछ नहीं छिना, केवल कल्पनामें ही मान लिया था, सो दुःखी हो रहा था। इसी तरह ये समस्त समागम छिदो, भिदो, छूट जावो तो भी कुछ नहीं छिना किन्तु कल्पनामें जो मान रखे थे, मिथ्यात्वकी प्रबलता है। इस कारण यह सदैव दुःखी रहता है।

ज्ञानी आत्माकी प्रत्याख्यान स्वरूपता—जो पुरुष अनेक प्रकारके विस्तार

प्राप्त शुभअशुभ भविष्यके कर्मोंसे जो कि रागादिक प्राप्त होने पर बँधा करते हैं उनसे जो अपने आपको जुदा कर लेते हैं वे पुरुष स्वयं प्रत्याख्यान स्वरूप हैं। ऐसा करनेका उपाय क्या है? ज्ञानादिकस्वरूपमय निज तत्त्वका सम्यक् श्रद्धान् और ज्ञान तथा उसमें ही स्थिर होना यही है परमसमतापरिणाम। उस समतापरिणाममें स्थित होनेके उपाय द्वारा जो भविष्यत् कर्मोंसे भी निवृत्त होता है उस पुरुषका नाम प्रत्याख्यान है, उस पुरुषके भावका नाम प्रत्याख्यान है। बहुत बड़ा काम है यह कि जो उदय आ रहा है, विभाव बन रहा है उसके बारेमें ऐसा ध्यान रहे कि यह मेरा स्वरूप नहीं है। यह मुझे बरबाद करनेके लिए होता है। औपाधिक भाव है, मलिनता है इससे हमारा अहित है ऐसा जाने और अपने शुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपको परमहितरूप माने ऐसा परिणाम दुर्लभ और अनुपम परिणाम है। इस ही परिणामके बल पर यह जीव प्रत्याख्यान करता है।

प्रत्याख्यान अथवा भविष्यकी उज्ज्वलता—व्यवहारमें प्रत्याख्यान नाम है भावोंको मलिन करनेके आश्रयभूत बाह्य पदार्थोंका त्याग करना। बाह्य पदार्थोंके त्याग करनेका प्रयोजन निश्चय प्रत्याख्यान है। इस निश्चय प्रत्याख्यान द्वारा यह जीव अपने भविष्यके क्षणोंको साफ बनाता है। जैसे लाइन क्लियर हो तो गाड़ी निःशंक आगे बढ़ती है, इसी तरह यह ज्ञानी संत पुरुष भविष्यकी लाइनको क्लियर कर रहा है। आगामी कर्म न रहें, वासना न रहें, संस्कार न रहें तो यह जीव मोक्षमार्गमें सुगमतया बढ़ेगा। मोक्षमार्गके साधनमें प्रधान अंगभूत प्रत्याख्यानका वर्णन करके अब आलोचनाका वर्णन करते हैं।

जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडिय अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥३८५॥

आलोचनामें भी प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यानकी तरह वही एक उद्यम—अनेक प्रकारका जिसका विस्तार विशेष है ऐसे उदयमें आये हुए शुभ और अशुभ कर्मोंको जो मनुष्य चेतता है अर्थात् यह मैं नहीं हूं, मैं ज्ञान मात्र हूं, इस प्रकार जो सावधान रहता है वह पुरुष आलोचनास्वरूप है। इस आलोचनाके स्वरूपमें भी वही एक बात आयी है कि पुद्गलकर्मके विपाकसे उत्पन्न हुए सर्वभावोंसे अपनेको न्यारा तकना सो आलोचना है।

तकने व देखनेमें अन्तर—भैया! तकने और देखनेमें कुछ फर्क है। देखा जाता है चौड़े-चौड़े और तका जाता है किसी आवरणमें। बच्चे लोग तक्का-तक्का खेलते हैं ना। भींतमें कोई आरपार आला है उसमेंसे तका करते हैं। यह मोटे रूपमें तकना और देखना एक ही बात है, मगर फर्क है। अगल बगल बहुतसे आवरण रहते हुए भी पायी हुई सुविधासे

किसी एक मार्ग द्वारा देखनेका नाम तकना है, और इसीलिए आरपार आलेका नाम तक्का रखा है। इस भींतमें एक भी तक्का नहीं है ऐसा कहते हैं ना। तो तकना तब होता है जहाँ देखना बहुत मुश्किल हो। किसी मार्गद्वारसे देखें तो उसे तकना कहते हैं।

निजमें निज तक्कासे निजको तक लेनेकी प्रसन्नता—यह ज्ञानी जीव अपने आपमें निज स्वरूपको तक रहा है क्योंकि आवरण बहुत है, विषय कषायोंकी सारी भींत उठी हुई है। अपने आपमें अनेक प्रकारके द्रव्य कर्मोंके पुञ्ज हैं। इस घिरे हुए स्थलमें एक ज्ञानका तक्का मिल गया है जिस तक्के में दृष्टि देकर बहुत भीतरकी बात देख रहे हैं। मैं इन कर्म विपाकोंसे उत्पन्न हुए भावोंसे विविक्त ज्ञान मात्र हूं। जैसे तकने वाला थोड़ा जिसको तकनेकी कोशिशमें है देख ले तो तक कर ही खूब हँसता है और खुश होता है, इसी तरह अपने महलमें जिसको तकना है उसको तक कर यह अविरत सम्यग्दृष्टि बालक बड़ा प्रसन्न होता है। बालक बालक भूल जाता है तो भीतर बैठी माँ उसे कोई शब्द कहकर आकृष्ट करती है कि देखो मुझे हम कहाँ बैठी हैं? तो वह बालक उस तक्केसे देखता है। तक लिया तो वहीं पर मचलाकर खुश होता है। इसी तरह कभी-कभी भीतरसे इस ज्ञानानुभूति माँ की आवाज आती है तो यह सम्यग्दृष्टि बालक अर्थात् जो चारित्रमें स्थिर नहीं हुआ है ऐसा सम्यग्दृष्टि बालक ज्ञानानुभूतिको तकनेमें फिर उद्यत होता है। इसके बाद तो फिर यह होता है कि मुझे कुछ काम करनेको नहीं रहा। सो मुद्रा के साथ अपने सारे ख्यालोंको भुलाकर प्रसन्न हो जाता है। यही है सम्यक् आलोचना, निश्चय आलोचना।

एक पुरुषार्थमें कार्यत्रितयता—जिसने वर्तमान विभावसे भिन्न निज ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि करके विभावसे निवृत्ति पा ली है उसने सर्व पूर्वकर्मोंका प्रतिक्रमण कर ही लिया, क्योंकि पूर्वबद्ध कर्म निष्फल हो गए उसके, सो आप स्वयं प्रतिक्रमणस्वरूप है और इस ही जीवका उस वर्तमान विभावसे भिन्न अपने आपके मनन द्वारा भविष्यत् कर्मोंको भी रोक दिया है क्यों कि वर्तमान विभावोंका ही तो कार्यभूत भविष्यत् कर्म है। सो भविष्यत् कर्मके निरोधसे यह जीव प्रत्याख्यानस्वरूप हो गया है। जो कर्म विपाकसे आत्मा अत्यन्त भेदके साथ देख रहे हैं. ऐसा आलोचनास्वरूप तो यह है ही। इस प्रकार यह जीव नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ, प्रत्याख्यान करता हुआ और आलोचना करता हुआ पूर्वकर्मोंके कार्योंसे और उत्तरकर्मोंके कारणोंसे यह निवृत्त हो गया है।

उपेक्षामृत—जैसे कहते हैं ना कि पचासों बातें कहीं, किन्तु, एक भी

न सुनी तो रूठने वाला विवश हो गया। यह ज्ञानी जीव यत्न कर रहा है कि तुम कितना ही उदयमें आवो, हम तो अपने ज्ञानस्वभावके देखनेमें ही लगे हैं। तो वह भी विवश हो जाता है और इस सम्यग्ज्ञान, विवेक, आत्मबलसे वे कर्म उदय क्षणसे पहिले ही संक्रांत होकर खिर जाया करते हैं। इस प्रकार यह जीव प्रतिक्रमण करता हुआ प्रत्याख्यान करता हुआ और चूँकि वर्तमान विपाकसे अपने स्वरूपको अत्यन्त भेदरूपमें देख रहा है, सो आलोचना स्वरूप होता हुआ यह पुरुष स्वयं चारित्रकी मूर्ति है। चाहे प्रतिक्रमण आदिक कहो, चाहे ज्ञानस्वभावमें लगना कहो और चाहे चारित्र कहो, तीनोंका एक ही प्रयोजन है।

ज्ञानचेतनामय परमवैभव— भैया! शांतिका कारण चारित्र है, चारित्र ही धर्म है और धर्म समतापरिणाम ही है। जब मोह और क्षोभ का परिणाम नहीं रहता है तो उस जीवको धर्म कहते हैं, चारित्र कहते हैं। यह जीव रागादिक विभावोंसे मुक्त होकर और भूत, वर्तमान व भावी समस्त कर्मोंसे अपने को विविक्त देखकर ज्ञानचेतनाका अनुभव कर रहा है। किन्हीं शब्दोंसे कहो, चीज एक ही है। ज्ञानी ज्ञानचेतनाका अनुभव कर रहा है; ज्ञान, चारित्रस्वरूप हो रहा है। ज्ञानी प्रतिक्रमणमय है, प्रत्याख्यानमय है, आलोचनामय है। ज्ञानी ज्ञानस्वभावमें निरन्तर विहार कर रहा है। यह सब ज्ञानीका ज्ञानत्वके नातेसे सहज विलास है। यही ज्ञानी का उत्कृष्ट वैभव है, जिसमें रत होकर शांत रहा करता है।

आलोचनाके पुरुषार्थमें प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यानकी गर्भितता—ज्ञानी जीव सम्यग्ज्ञान हो जानेके कारण अपने वर्तमान विभावोंसे पृथक् ज्ञानस्वभावी निज तत्त्वको चेतता रहता है। वह कार्य एक ही कर रहा है। पुद्गल कर्मोदयजनित भावोंसे पृथक् ज्ञानस्वभावी अंतस्तत्त्वको चेत रहा है। इस एक ही कर्मके करनेमें ये तीन बातें हो जाती हैं। यह ज्ञानी पूर्वकर्मोंके कार्यसे निवृत्त हो रहा है और भावी कर्मोंके कारणोंसे निवृत्त हो रहा है और वर्तमान कर्मसे, कार्योंसे विरक्त हो रहा है। ऐसे इस मोक्षमार्गके गमनके प्रकरणमें यह जीव एक धुनिसे जिसे मुक्ति कहते हैं उसकी ओर बढ़ रहा है। आलोचना ही प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यानका मूल साधन है। इस निश्चय प्रसंगमें इस ज्ञानी ने आलोचना की है। इस निश्चय आलोचनाके साथ निश्चय प्रतिक्रमण और निश्चय प्रत्याख्यान स्वयमेव हो जाते हैं।

व्यवहार आलोचनाका स्थान—व्यवहारमें व्यवहारप्रतिक्रमण कर लेना सरल है। हो गया कोई अपराध तो ले लो दण्ड। और वर्तमानमें व्यवहारप्रत्याख्यानका भाव बना लेना भी सुगम है कि अब मैं ऐसा न

करूँगा किन्तु गुरुकी आलोचना करना व्यवहारमें कठिन मालूम होता है। अपने दोष अपने मुखसे कह दें कोई तो इस आलोचनासे ही पापोंकी शुद्धि प्रायः हो जाती है। विना आलोचनाके प्रतिक्रमण लाभदायक नहीं है, विना आलोचनाके प्रत्याख्यान लाभदायक नहीं है। यह व्यवहार आलोचनाकी वात कही जा रही है। कितने ही दोष केवल आलोचनासे दूर हो जाते हैं, प्रतिक्रमण और प्रायश्चित करने की आवश्यकता नहीं होती, कितने ही दोष आलोचना और प्रतिक्रमणसे शुद्ध हो जाते हैं, किन्तु आलोचनाके विना दोषोंकी शुद्धि नहीं मानी गयी है।

निश्चय आलोचनासे ज्ञानीसंत वर्तमान कर्म विपाकसे उत्पन्न हुए भावोंसे अपने आपको चेत जानेमें लगा है। इसका ही अर्थ यह हो गया कि पूर्वकृत जो कर्म हैं उनको निष्फल वना दिया है। इसका ही अर्थ यह हो गया कि आगामी कालके कर्म वंधनोंके क्षोभ अव उनसे छूट गए। अन्य वस्तुका रंच भी विकल्प न हो, जरा भी लगाव न हो तो यह आलोचना सफलतापूर्वक वनती है।

आलोचनामें महती सावधानीकी आवश्यकता—जैसे व्यवहारआलोचना में वड़ी सावधानी रखनी पड़ती है। निर्दोष आलोचना वने तो आलोचना तप कहलाता है। इसके वेढंगे दोष हैं। वहुतसे आदमी वैठे हों, आचार्यदेव से अपने-अपने दोषकी वातें कह रहे हों, होहल्ला मच रहा हो तो उस हो-हल्लामें जवान हिला देना कि महाराज हमसे यह दोष वन गया है तो वहाँ आलोचना नहीं की किन्तु एक दोष और मायाचारका लगा लिया। अपने किए हुए वहुत वड़े दोषको सूक्ष्मरूपसे कह देना ताकि आचार्य जी यह जान जायें कि ये वड़े निर्मल हैं, देखो इसने अपना सूक्ष्म भी दोष वता दिया। तो जैसे वहुतसे लोगोंको खूव सताए और सूक्ष्मरूपसे गुरुवों से निवेदन करे कि महाराज आज हमसे यह गल्ती हुई ऐसी सूक्ष्म आलोचना करना यह भी आलोचना का दोष है। अथवा सूक्ष्म दोप छिपा लिया और एक मोटी वात कह दी, यह वड़ा दोष है अथवा पहिले गुरुकी खूव सेवा कर ले, पैर दावे, मीठे वचन वोले, प्रशंसा कर दे और पीछे अपने दोष की वात कहे कि महाराज मामूली दंड देकर हमें निपटा देंगे। यह भी आलोचनाका दोप है। तो अनेक प्रकारसे आलोचनाके दोष लगा करते हैं, तो व्यवहारमें वड़ी सावधानीसे व्यवहार-आलोचना वनायी जाती है तो निश्चयमें भी यह परमार्थ-आलोचना वड़ी सावधानीसे ज्ञान-स्वभावकी ओर एकाग्र चित्त होकर वनायी जा सकती है।

परमामृत—यह परमार्थ प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना अमृतकुम्भ है। ज्ञानी इस अमृतरससे सींचकर इस ज्ञानमय आत्माको

आनन्दमग्न कर देता है। इस परमार्थ सहज क्रियामें दोष ठहर नहीं पाता। प्रतिक्रमणमें एक श्लोक बोला जाता है 'मिच्छा मे दुक्कडं होज्ज।' मेरे पाप मिथ्या हों। बहुत पढ़ते हैं कि जो कुछ मुझसे दोष लगे हों वे मेरे पाप मिथ्या हों। तो क्या ऐसा कह देनेसे पाप मिथ्या हो जायेंगे? नहीं होंगे। तो क्या करनेसे मिथ्या होंगे। अनशन करनेसे मिथ्या होंगे या और बड़े उत्कृष्ट क्रिया काण्डोंसे ये पाप मिथ्या होंगे। ये सब वातावरण सहायक तो हैं उसके जिस प्राकृतिकतासे पाप मिथ्या हुआ करते हैं, किन्तु ये सीधे पापको मिथ्या बनानेके साधन नहीं हैं।

बोधविकल्पमें प्रतिक्रमणका वर्णन—जो जीव परमार्थ आलोचना करते हैं अर्थात् परिणमनोंसे पृथक् ज्ञानस्वभाव मात्र चैतन्य चमत्कार स्वरूप अपने आपके सहज स्वरूपको तकते हैं. इस अनुपम आनन्दमय ज्ञान-सागरके स्नानके पश्चात् जब उसे कुछ ख्याल होता है पूर्वकृत कर्मोंके अपराधका तो उसे आश्चर्य होता है कि ओह यह हो क्यों गया? और ये न भी किए जाते पाप तो मेरी सत्तामें कोई अटक थी ही नहीं। कुछ इस ज्ञानस्वभावी अंतस्तत्त्वके प्रोग्रामकी बात तो थी नहीं। अटपट अचानक यों ही विढंगा विभाव बन गया। अरे क्यों बन गया, न होता यह तो कुछ अटक न थी और वह यहांसे होना भी न था, हो गया, किन्तु इसके स्वरसमें बात नहीं है। अरे वह न होने की तरह होवे। मैं तो अब न होनेसे पहिले जिस स्वभाव दृष्टिमें था उस ही रूप रहना चाहता हूं, निर्दोष स्वच्छ आत्मस्वभावके दर्शनके ग्रहणमें ये सब पाप भस्म हो जाते हैं।

प्रभुपूजासे अपराधक्षय—आलोचनामें प्रतिक्रमण सहज होता रहता है और प्रत्याख्यान भी सहज बनता रहता है। पुरुषार्थ आलोचनाका चल रहा है, पर यह पुरुषार्थ भी सहज क्रियारूप है। सहज कर्मकरेण विरोधया समयसार सुपुष्पसुमालया। यह आलोचना की जा रही है। यह सहज कर्मरूपी हाथसे बनायी हुई समयसार पुष्पकी माला है। यह आलोचना है या प्रभु पूजा है? प्रभु पूजा है। जैसे व्यवहारमें हत्या आदि अपराध बन जाय तो पंच लोग दण्ड देते हैं। इतने तीर्थोंकी वंदना करो, यह पूजा करो। तो प्रभु पूजाका कार्य भी दोषशुद्धिके लिए बताया जाता है। यह तो व्यावहारिक बड़े अपराधका दण्ड है जो पंचोंने मिलकर किया। बड़े अपराधका दण्ड पंचोंसे लिया जाता है और छोटा अपराध हो जाय तो खुद प्रभुपूजाका दण्ड लिया जाता है। रात दिनके २४ घंटोंमें कुछ कम समझिये जो पाप कर आते हैं उनका दण्ड लेनेके लिए हम आप प्रभुपूजा करने आते हैं। यह दण्ड हम अपने आप लेते हैं। व्यवहारको बिगाड़ने

वाला अपराध नहीं किया। इस कारण उन अपराधोंको हम करते हैं सो रोज दण्ड लेते हैं। प्रभुपूजा अपराधका शोधक दण्ड है।

कारणप्रभु पूजासे गुप्तमहापराधका शोधन—और भैया! यह जो गुप्त ही गुप्त अपराध बन रहा है जो परिणमन हो रहे हैं उन परिणमनोंको हम अपना रहे हैं, उनमें ममता करते हैं, वहाँ इष्ट अनिष्ट का विकल्प बनाते हैं। इस अपराधके दण्डमें हम इस कारणसमयसारकी पूजा करने आते हैं। समस्त परिणमनोंसे पृथक् निज ज्ञान स्वभावकी दृष्टि रोज करते हैं और अन्तरङ्गमें गद्‌गद् होकर इस ही आत्मदेवकी आराधनामें रहते हैं, यही तो आलोचना है परमार्थसे और यही प्रभुपूजा है। अनेक प्रकारके फैलावमें फैले हुए शुभ और अशुभ प्रकारके उदयगत भावोंको जो अपनेसे पृथक् निरखता है, यह दोष मैं नहीं हूं। मैं एक ज्ञानस्वभावी अंतस्तत्त्व हूं, इस प्रकार जो अपने आपको चेतता है वह पुरुष आलोचना स्वरूप है। यहाँ तक प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचनाका स्वरूप कहा गया है। अब उसके फलमें यह बतायेंगे कि इस प्रकार जो प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना करता है उसका परिणाम क्या निकलता है?

णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥३८६॥

आत्माकी चारित्ररूपता—जो जीव नित्य ही प्रतिक्रमण करता है, प्रत्याख्यान करता है, और आलोचना करता है वह पुरुष चारित्रस्वरूप होता है। निरन्तर प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना करना आवश्यक है क्योंकि प्रतिक्षण हम अपराध किए जा रहे हैं। अपने आपके सहज स्वरूपमें उपयोग न देना और परपदार्थोंमें अपना कुछ तत्त्व समझना, यह कितना बड़ा अपराध है? इस अपराधकी माफी मिलना कठिन है। महान् अपराध बनेगा तो महान् पुरुषार्थसे ही यह अपराध माफ हो सकता है।

संसारमहावनके क्लेश—भैया! थोड़ा इष्ट समागम पाकर ठाठ बाट में काहे फूले-फूले फिर रहे हैं, यह संसार महावन है, इसमें भूले हुए प्राणी भूखे प्यासे रहकर अपने प्राण गंवा देंगे। यहाँ इस संसारवनमें भी आशा का प्यासा रहकर और भोगोंका भूखा रहकर अपने चैतन्य प्राण गँवाता रहता है। यह कितना महान् अपराध है? इन अपराधोंसे निवृत्ति निज प्रभुके प्रसादकी दृष्टि हुए बिना नहीं हो सकती है।

ज्ञानचेतनाकी किरणें—ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्वका श्रद्धान और इस ही अंतस्तत्त्वका ज्ञान और इसही अंतस्तत्त्वमें रमण करना, इस निश्चयरत्नत्रयरूप परमसमाधिमें ठहर करके ही यह जीव परमार्थप्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान आलोचना किया करता है। यह ही पुरुष अभेदनयसे

स्वयं ही निश्चय चारित्र स्वरूप है। चारित्र किसे कहते हैं? शुद्ध आत्म-स्वरूपमें चलना, इसका नाम चारित्र है। जिसे शुद्ध आत्मस्वरूपकी खबर नहीं है, दर्शन नहीं है और जो वाह्य चारित्र ठीक पालते हुएमें भी अहंकार रससे भरा हुआ है उसे चारित्रकी समता कैसे कहा जा सकता है? वह तो अपने व्यवहारमें अन्तरमें असंयम बनाए हुए है। कहाँ है आत्मसंयम?

पूज्य तत्त्वोंकी निर्दोषता—जैन सिद्धान्तमें देव, शास्त्र और गुरुका निर्दोष स्थान बताया गया है। देवमें एक भी दोष हो तो वह देव नहीं कहला सकता। शास्त्रोंमें एक भी जगह यदि आशय खोटा बताया हो तो वे सच्चे शास्त्र कैसे कहला सकते हैं? गुरुमें भी यदि किसी जगह चूक हो तो वे गुरु नहीं कहला सकते। देव और गुरु पंचपरमेष्ठीमें शामिल किए गए हैं। हम अपना सिर जैसे हजारों रुपयोंकी भी समस्या खड़ी हो वहाँ भी नहीं झुकाना चाहते, अजी इनसे अपनी माफी मांग लो तो तुम्हें ५ हजार दे दिये जायेंगे। तो कहते हैं कि वाह कैसे मांगलें मांफी? तो ५ हजार रुपये लेकर माफी मांगने को तैयार नहीं होते हैं। तो अपने इस मस्तकका कितना मूल्य रखते हैं? हम कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुके सामने नारियलकी तरह अपना मस्तक फोड़ दें तो यह कहाँ तक आत्मरक्षाकी बात है? साधु चारित्रकी मूर्ति हैं, चारित्रसे साधुकी पूज्यता है, यह चारित्र की मूर्तिका प्रकरण चल रहा है। यह निश्चय दर्शन, ज्ञान, चारित्र बताया जा रहा है।

रत्नत्रयसे पूज्यता—ॐ भैया! साधुजन अपना उपयोग निरन्तर प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचनामें बनाए रहते हैं। शुद्धआत्मस्वरूप की श्रद्धा और ज्ञान और उसमें ही रमण यही रत्नत्रय है और जो ऐसे रत्नत्रयसे युक्त है उसका देह भी इतना पवित्र माना जाता है, कि आपके घरमें कोई बिना नहाए धोये चौके के पास नहीं आ सकता है पर जो जिन्दगीभर भी न नहाये बल्कि रत्नत्रययुक्त हो तो उस आत्माका देह नहाए हुएसे भी पवित्र माना जाता है। जो इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्म-देवकी दृष्टि किए हो वह है शुद्ध गुरु, शुद्ध मुनि। ऐसे संतोंके पास बैठने मात्रसे ही पाप ध्वस्त हो जाते हैं।

गुरु और उपासकका मेल—कहते हैं ना कि जैसा संग हो तैसा रंग बनता है। जिस भक्तको ज्ञानी संतके भीतरके जौहरका पता है उस भक्तको ही ज्ञानी संतके संगका अनूठा लाभ मिलता है। तो जैसे गुरुका दर्जा बड़ा ऊंचा ज्ञानमयका है इसी प्रकार ज्ञानी गृहस्थ भी गुरुका सत्य उपासक कहला सकता है। वह चाहता क्या है? एक शुद्ध ज्ञानस्वरूपका आलम्बन। इस प्रकार जो चारित्रस्वरूप होते हैं वे निजके ज्ञानमात्र स्वरूपसे चेतनेसे

स्वयं ज्ञान चेतना होते हैं। साधु हैं ज्ञानचेतनाकी मूर्ति। जिसकी मुद्रासे ज्ञान टपकता है, जिसके बोलनेमें ज्ञानकी महक आती है, जिसके उठन बैठनमें ज्ञानके वातावरणका लोप न होता हो। ऐसा साधु चारित्रकी मूर्ति है और स्वयं ज्ञानचेतनास्वरूप है। वैराग्यको तो ऐसे ज्ञानचेतक साधुसंत ही संभाल पाते हैं और इसकी जिनको उत्कंठा लगी है उनको कहते हैं उपासक श्रावक। वे भी अपनी योग्यतानुसार अपने ज्ञान और वैराग्यकी संभाल करते हैं। अपनी संभाल किया तो सब कुछ पाया और अपनेको भूले तो भटकना ही रहेगा, कहीं शरण नहीं मिलेगी।

जो ज्ञानी पुरुष परमार्थप्रतिक्रमण परमार्थप्रत्याख्यान और परमार्थ आलोचनारूप परिणमन करता है, वह और करता ही क्या है? अपने ज्ञानस्वभावमें निरन्तर विहार करता है। जो ज्ञानस्वभावमें निरन्तर गमन करता है उस ही का नाम तो चारित्रमूर्ति है। वह ही चारित्र है और चारित्ररूप होता हुआ वह संत अपने ज्ञानमात्रको चेत रहा है। इस कारण वह स्वयं ज्ञान चेतनारूप होता है। ज्ञानस्वरूपके चेतनेके द्वारा ही नित्य अत्यन्त शुद्ध ज्ञानप्रकाश प्रकट होता है। मैं ज्ञानमात्र हूं, इस ज्ञानपरिणमन को ही करता हूं और इस जाननको ही अनुभवता हूं, मैं चैतन्यमात्र हूं। अन्य तत्त्वको, अन्य पदार्थको आत्मरूपसे स्वीकार न करके केवल जानन को ही निजब्रह्मरूपसे अनुभव करूं तो मेरा ज्ञान अत्यन्त शुद्ध प्रकट होता है।

अज्ञानचेतनाके प्रकार—जो अज्ञानका ही चेतना करनेमें मस्त हो, मैं अमुक जातिका हूं, अमुक कुलका हूं, मैं इतने परिवार वाला हूं, मैं ऐसी पोजीशनका हूं, मैं नेता हूं आदि किसी भी प्रकारसे ज्ञानातिरिक्त अन्य तत्त्वोंकी चेतना करे तो उस ज्ञानकी चेतनाके द्वारा दौड़कर आए हुए ये बंध और कर्मोंके उदय ज्ञानकी शुद्धिको रोक देते हैं। दो ही तो काम किया करता है जीव। कोई अपने आपको ज्ञानमात्र चेतता है तो कोई अपनेको अज्ञानस्वरूप चेतता है। बस ऐसे दो मूल कार्योंके फलमें जीवके परिणमन विस्तार हो जाते हैं। अज्ञानीकी चेतना दो तरहसे होती है—एक तो ज्ञानातिरिक्त तत्त्वको कर्तृत्व बुद्धिसे चेतना और दूसरे ज्ञानातिरिक्त तत्त्व को भोक्ता रूपसे चेतना। इन दोनों व्यक्त चेतनोंका मूलभूत है ज्ञानातिरिक्त तत्त्वको अपनाना। इस प्रकार चेतना तीन भागोंमें विभक्त हो गयी हैं— प्रथम तो अज्ञानको आत्मरूप चेतना, यह तो है दोनों चेतनाओंका मूल और इस अज्ञान चेतना फलमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी चेतना होती है, उनमें से अज्ञान चेतनाका स्वरूप कहते हैं।

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बंधइ बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८७॥

अज्ञानचेतना—कर्मफलको वेदता हुआ यह जीव कर्मफलको आत्मरूप करता है, ऐसा अज्ञानी जीव फिर भी दुःखोंके बीजभूत ८ प्रकारके कर्मोंको बाँधता है। कर्मफल कहलाता है वह जो जीवका विभाव है, जीवका परिणमन है। जो जीव अपने परिणमनको यह मैं हूं—इस प्रकार आत्मस्वरूपसे चेतता है उसे कहते हैं अज्ञानका चेतने वाला। यह है इस जीव का मूलमें अपराध। जिस अपराधके आधार पर अनेक अपराध बन जाते हैं और उनके फलमें नाना कुयोनियोंमें जन्म मरण करके दुःख उठाये जाते हैं। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावोंमें यह मैं हूं, ऐसा चेतनेका नाम अज्ञान चेतना कहलाता है।

चेतनेका असर—इस जीव पर चेतनेका बड़ा असर पड़ता है, जिस रूपसे यह चेत ले, उस रूपसे यह अपनी प्रवृत्ति करता है। पब्लिकमें हैं, प्रजाजन हैं, कोई अधिक विकल्प नहीं है। जहाँ अपनेको राज्यके किसी अधिकारीके रूपमें चेता तो उस तरह की कल्पनाएँ और प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं। कोई लड़की खूब घूमती फिरती है बेखटके अपनी कुमार अवस्था के कारण बेरोकटोक आनन्दमग्न रहती है। जहाँ इस प्रकारसे उसने चेत डाला कि ये हमारे स्वसुर होने वाले हैं, ये मेरे जेठ देवर होंगे, सगाई की बात आ गयी, बस लो इतना चेतनेके आधार पर उसकी सारी कलाएँ बदल गयीं। अब धीरेसे चलना, संभालकर चलना, स्वसुर जेठ जिन्हें वन्दनासे मान लिया है उनको देखकर खम्भे किवाड़की ओटमें खड़े हो जाना, ये सारी कलाएँ बन गयीं। यह चेतनेका ही तो असर है।

अपने आपके चेतनेका अपने आपपर असर— पंडित ठाकुरदास जी बहुत बड़े विद्वान् थे। वे ब्राह्मण थे और जैनसिद्धान्तके उच्च जानकार थे। सो इनकी दूसरी शादी हुई, पहिली तो गुजर गई थी। दूसरी स्त्री से ऐसा अनुराग था कि मानो ४०० रुपये मासिककी कमायी हो तो २०० रुपये स्त्रीको दे देते। और स्त्री इतनी सज्जन थी कि वह सब रुपया गरीबोंको, दीन दुखियोंको बाँट देती थी। यह सब पंडित जी देखते जाते थे कि देखो मैं तो देता हूं जोड़नेके लिए, इसके ही कामके लिए कि मौजसे रहे पर यह साराका सारा धन परोपकारमें लगा देती है। महीने के अंतमें एक पैसा भी नहीं बचता था। सो दुःखी भी होते जायें और हर महीने उसे रुपये भी देते जायें। एक बार बड़ी कीमती तीनसौ रुपयेकी साड़ी खरीदकर लाये सो वह साड़ी दे दी। तो पंडितानीने क्या किया कि घरमें जो कहारिन थी उसे बुलाया और वह साड़ी दे दी व कहारिनसे बोली कि देख तू इसे पहिनना नहीं, बाजारमें बेच आना, भले ही २५ रुपये कम मिल जायें, पर बाजारमें बेच आना व अपने काममें

पैसा लगाना। जब वह साड़ी कहारिनको दे दी तो पंडित जी बोले कि हम तो तुम्हें कमायीका आधा पैसा सौंप देते हैं कि खूब जोड़ो ताकि मौज से रहो पर तुम कुछ नहीं रखती, साराका सारा खर्च कर डालती हो। तो पंडितानी बोली कि हम कब कहते हैं कि तुम हमें पैसा दो। तुम्हीं को चैन नहीं पड़ती, अत्यन्त मोह है तो पैसा देते हो और जब तुमने हमें पैसा दे दिया तो वह पैसा हमारा हो गया कि फिर भी तुम्हारा ही है? हमें दे दिया तो हम कुछ भी करें। हमें तो जिसमें मौज मालूम होता है वही काम करती हैं। बहुत घनिष्ट प्रीति थी, सो कुछ वर्षों बाद वह स्त्री बोली कि पंडित जी इतनी तो आयु हो गयी और समाजमें तुम बड़े कहलाते हो किन्तु तुम ब्रह्मचर्यका नियम अब तक नहीं लेते। तो पंडित जी कुछ यहाँ वहांकी बातें कहने लगे। तो उस स्त्री ने और कुछ नहीं किया, झट पंडित जी की गोदमें बैठ गयी और कहा कि आजसे तुम हमारे पिता और हम तुम्हारी बेटी। पंडित जी के चित्तमें बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा जिससे पंडितजी ने भी ब्रह्मचर्यका नियम ले लिया।

चेतनेकी पद्धतिका परिणाम—भैया! अपने पर जो भी असर पड़ता है वह अपने चेतनेका असर पड़ता है, दूसरेका असर नहीं पड़ता। कहीं शेर मिल जाय और अपन डर जायें तो वह डर रूप असर शेरसे नहीं आया किन्तु अपने चेतनेका असर है। अरे एक महाहिंसक जानवर यह अभी खा लेगा, प्राण चले जायेंगे, इस प्रकारके विकल्पोंरूपमें जो चेतता है वह चेतनेका प्रभाव है। अज्ञानरूप चेते तो वह अशुद्ध हो जायेगा और ज्ञानरूप चेते तो ज्ञानका अत्यन्त शुद्ध प्रकाश प्रकट हो जायेगा।

धर्ममार्गमें एक पद्धतिसे संचेतन—धर्मप्रगतिका कोईसा भी प्रकरण लो बात एक ही कही जा रही है, वह क्या कि वर्तमान परिणमनसे भी भिन्न ज्ञानस्वभावमात्र अपने आपको चेतना। जो पुरुष अपनेको कर्मफलसे पृथक् ज्ञानस्वभावमात्र नहीं चेत सकता है और इसके फलमें उन कर्मफलों को अपनाता रहता है वह आठों प्रकारके कर्मोंका बंधन करता है। ये कर्म बंधन दुःखके बीज हैं, आगे फिर विभाव होंगे, और यह परम्परा जब तक चलेगी तब तक यह जीव दुःखी रहेगा। अब अपना-अपना अंदाज करलो कि इस ज्ञानचेतनामें तो कब रहते हैं और अज्ञानचेतनामें कब रहते हैं। ज्ञानचेतनाके होते समय सारे झगड़े बखेड़े समाप्त हो जाते हैं, वहाँ न इसका घर है, न कुटुम्ब है, न वैभव है, न अन्य कुछ पोजीशन आदिक है, यह तो एक अपने आपके ज्ञानस्वभावके उपयोगमें रत है। इस अज्ञानभावको आत्मरूपसे चेतनेके फलमें दो फंसा फूटते हैं—एक कर्म चेतनाका और कर्मफल चेतनाका।

चेतनात्रितयोकी सर्व चेतनोंमें व्यापकता—कोई भी जीव इन तीन बातों से जुदा नहीं है चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। इस प्रकरणमें तो अज्ञानचेतनाका प्रकरण है और उस अज्ञान चेतनाके आधार पर जो कर्मचेतना, कर्मफलचेतना बनती है वह भी अज्ञान रूप है। पर एक साधारणरूपसे चेतने का मंतव्य लिया जाय तो सब जीवोंमें ज्ञानचेतना कर्मचेतना और कर्मफलचेतना पायी जाती है। ज्ञानचेतना नाम है ज्ञानको चेतना, सो मिथ्यादृष्टि भी ज्ञानको चेतता है और सम्यग्दृष्टि भी ज्ञानको चेतता है और प्रभु परमात्मा भी ज्ञानको चेतता है। अन्तर इतना है कि मिथ्यादृष्टि ज्ञानको अज्ञानरूपमें चेतता है और सम्यग्दृष्टि ज्ञानको ज्ञानरूप में चेतता है और प्रभु परमात्मा ज्ञानको ज्ञानरूपमें परिणत करता हुआ चेतता है। पर ज्ञानसे सभी चेत रहे हैं, कोई चेतन परपदार्थका गुण नहीं चेत सकता।

सिद्ध प्रभुमें चेतनात्रयी—इस साधारण ज्ञानचेतनाके आशयमें अब कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाको भी देखिए। कर्म नाम है किए जानेका, जो किया जाय उसको चेते इसका नाम है कर्मचेतना। भगवान भी कुछ करता है या नहीं? यदि नहीं कुछ करता है तो अवस्तु हो जायेगी। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो अपना परिणमन न करे। सिद्ध भगवान भी कर्म किया करते हैं, तो कर्मका नाम है परिणमन क्रिया। जो परिणमन करे सो कर्म। तो सिद्ध प्रभु ज्ञानको चेतते हैं और उसके साथ कर्म भी चल रहा है, परिणमन भी चल रहा है सो उसे भी चेतते हैं, सो कर्मचेतना हो गयी और प्रभु अपना जो शुद्ध परिणमनरूप कर्म करते हैं उनका फल भी मिलता है या नहीं? क्या फल मिलता है? अनन्त आनन्द तो उस अनन्त आनन्दको अनुभवते हैं या नहीं? अनुभवते हैं। तो उन्होंने भी कर्मफलको चेता या नहीं चेता? तो भगवानके भी ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना है। इन तीन चेतनावोंसे सूना तो कोई जीव नहीं है।

अशुद्धनिश्चयनयसे चेतनात्रयी—अज्ञानीजन ज्ञानको अज्ञानरूपसे चेतते हैं, इसलिए वृत्तिमें अन्तर समझने के लिए नाम बदल दें। मोही जीवों के अज्ञान चेतना है। चेतता वह भी ज्ञानको है। कहीं खम्भे को, चौकीको इनको नहीं चेता करता है, अपने स्वरूपको ही चेत सकता है पर अपने स्वरूपको उसने विपरीत चेत डाला इसलिए वह अज्ञानचेतना है और अज्ञानी जीव भी कुछ करता है कि नहीं? करता है—रागद्वेषमोहादिक। सो ये सब हुए ज्ञानीके कर्म। इन कर्मोंको भी चेतता है। सो अज्ञानीके कर्मचेतना हुई और अज्ञानी कर्मफल भी पाता है या नहीं? पाता है? वह क्या फल? क्लेश, दुःख, क्षोभ कषायें। इनको भी चेतता

है कि नहीं। चेतता है, तो कर्मफल चेतना हो गई। इस प्रकरणमें साधारण चेतना कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका प्रकरण नहीं है, यह अज्ञानी जीवका प्रकरण है। इसलिए यहाँ अज्ञानरूप ही कर्मचेतना लेना और अज्ञानरूप ही कर्मफल चेतना लेना।

परको अपना लेनेका महान् अपराध—भैया ! किसीके घर कोई लड़का नहीं है। बड़ी मौजसे स्त्री पुरुष रहते हैं, धर्मसाधना करते हैं, कमायी अच्छी है, सुखपूर्वक रहते हैं, अच्छा समय बीत रहा है। जब उन्होंने किसी दूसरेके लड़केको अपना लिया, गोद ले लिया, अपना सब कुछ लिख दिया तो जैसे ही दूसरे लड़के को अपनाया सो अपनाने के दिनोंमें तो बड़ी खुशी मानी, खूब बैण्ड बजे, नृत्य गान करवाया और कुछ समय बाद कुछ कलह होने लगे, लड़का अपनी चाल चलने लगा, सब वैभव अपना लिया, सब हथिया लिया। कुछ मनमोटाव हो गया, भेद हो गया। अब स्त्री पुरुष अपनेमें दुःखी हो रहे हैं लड़का अपनी चाल चल रहा है, लड़का भी क्लेश मानने लगा। उन सब क्लेशोंमें मूलमें अपराध क्या था ? अपना लिया, इतनी बात थी। इसके बाद फिर सारी बातें आती हैं। तो मूलमें अपराध है परको अपना लेनेका एक महान अपराध जिसके फलमें ये हजारों कष्ट आ रहे हैं: अब अमुकमें टोटा पड़ गया, इतनी टैक्स लगाली। अब अमुक डाकुवोंने यों हर लिया, बंधुवोंमें इसी कारण झगड़े चल गये। रात दिन परेशानी। उन सब परेशानियोंका मूल कितना है ? परको अपना लेना। इतना ही मात्र तो अपराध है और झंझट ये सारे लग गए।

अज्ञानचेतनामें प्रतिक्रियायें—यह अज्ञानचेतनारूप महा अपराध इन मोही जीवोंके होता है और उनके इस अपराधके परिणाममें दो प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ होती हैं—एक कर्मचेतना और एक कर्मफलचेतना। जीवनमें भी तो इन्हीं दो बातोंके विसम्वाद चलते हैं। एक काम करने पर और एक आराम भोगने पर। दो के सिवाय और क्या लड़ाई है घरमें सो बतावो ? दो ही प्रकारके आशय लड़ाईके कारण बनते हैं। हमने इतना काम किया और यह दूसरा कुछ भी नहीं करता। हम थोड़ा ही आराम, शृङ्गार या भोगके साधन भोग पाते हैं और यह अधिक भोगता है, ऐसा आशय उठा करता है, जिसके फलमें विवाद हो जाता है। सब जीव निरन्तर अपने ही परिणमनरूप कर्मोंको करते हैं और उन परिणमनोंके फल निरन्तर भोगा करते हैं। निश्चयसे जिस क्षणमें कर्म किया गया है उसी क्षणमें कर्मका फल भोगा गया है।

कर्म और कर्मफलके समयकी भिन्नताकी दृष्टि—कर्म करनेका क्षण

और हो, कर्मफल भोगनेका क्षण और हो यह व्यवहार नय दर्शनमें ही सम्भव है कि जो अभी विभावपरिणाम किया उसपर दृष्टि न देकर उसके कारण जो कर्मबंध हुआ वह कर्म किया है, अब उस कर्मका फल कब मिलेगा जब कि स्थिति पड़ेगी, उदय आयेगा तब फल मिलेगा। किया आज है फल, मिलेगा आगे। यह व्यवहारनयका कथन है। निश्चयसे तो जिस क्षणमें किया उसी क्षणमें फल मिलता है। किया क्या? विभाव परिणाम और फल क्या मिला? क्षोभ। देख लो विभावपरिणाम करने से क्षोभ मिलता है या नहीं। अरे, क्षोभको उत्पन्न करता हुआ ही विभाव परिणमन हुआ करता है। कर्म और कर्मका भिन्न-भिन्न समय नहीं है। इस कर्मफलको, विभावपरिणामको जो अपना बनाता है और उस निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें जो कर्मबंध हुआ है उसके फलमें भावी काल में भी फल भोगता है। यह अज्ञानचेतना ही हम सब लोगोंके महासंकटों का मूल है। अन्य बातोंकी इतनी चिंता न करो। एक यह अवधारण करो कि मैं इस अज्ञानचेतनाको कैसे कब समाप्त कर दूं?

अज्ञानचेतनाका कर्मचेतनारूप अंकुर—अज्ञानचेतनाके मूल आशयसे कर्तृत्वका अथवा कर्मचेतनाका आशय प्रकट हुआ है। कोई हो रहे वर्तमान विभावोंको यह मैं हूं ऐसा अपनाए वही तो कर्तृत्व बुद्धि बना सकता है। जिसे यह स्पष्ट ज्ञात है कि मैं ज्ञानस्वभाव मात्र हूं, पुद्गल कर्मविपाकसे उत्पन्न हुए भाव मैं नहीं हूं, ऐसा जिसके मूलमें भेदविज्ञान हुआ है वह पर-पदार्थोंमें कुछ करता हो, इस प्रकारका आशय कहांसे लायेगा? अब इस अज्ञानचेतना पर जीवित रहने वाले कर्मचेतनाका स्वरूप अब आचार्य देव अगली गाथामें कह रहे हैं।

> वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
> सो तं पुणोवि बंधइ बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८८॥

कर्मचेतनाका निर्देश—कर्मफलको चेतता हुआ मैंने यह कर्म फल किया, यह विभावपरिणमन किया, ऐसा जो जीव मानता है वह फिर भी दुःखके बीजभूत ८ प्रकारके कर्मोंका बंध करता है। इस गाथामें कर्मचेतना का स्वरूप दिखाया गया है। ज्ञानभावके अतिरिक्त अन्य भावोंमें 'इसे करता हूं' इस प्रकारकी चेतना करनेका नाम कर्मचेतना है। यह कर्म-चेतना संसारका बीज है। संसारका बीज यों है कि वह आठ प्रकारके कर्मों के बंधनका कारण है।

कर्मचेतनाकी मुद्रा—कर्मचेतनाओं के रूपक यों होते हैं—मैंने किया मैंने कराया, मैंने अनुमोदना किया याने मैंने हौसला बढ़ाया, मैंने मनसे किया, वचनसे किया, कायसे किया और इस प्रकार कराया और अनुमोदा,

इस प्रकारके विकल्पोंका नाम है कर्मचेतना। ये समस्त विकल्प संसारके कारण हैं। इसलिए मोक्ष चाहने वाले पुरुषोंको इस अज्ञानचेतनाके विलास के लिए सर्वप्रकारके कर्मोंके त्यागकी भावना बनाए रहनी चाहिए। जिस जीवकी यह वासना निरंतर बनी रहती है कि मैं करता हूं, मैं करा देता हूं मैं दूसरोंका हौंसला बढ़ा देता हूं, मुझमें ऐसी मन वचन कायकी कला पड़ी हुई है, ऐसी कर्तृत्व वासना जिसे बनी रहा करती है वह अज्ञानी है। मोक्षमार्गी पुरुषको ऐसी भावना रहती है कि न मैं कुछ करता हूं, न कराता हूं, न किसी को अनुमोदित कर सकता हूं। अज्ञानचेतना का विनाश करके ही ज्ञानचेतनाका विलास बन सकता है। मैं तीनों काल विषयक मन, वचन, कायसे करने, कराने, अनुमोदने के विकल्पोंको सर्व प्रकारके कर्मोंको त्याग करके मैं तो नैष्कर्म्य अवस्थाको ग्रहण करता हूं।

कर्मचेतनाके रूपक—जीव अपने प्रदेशसे बाहर कहीं कुछ नहीं किया करता, अपने आपमें जो कुछ किया करता है वह अपने आपको अपने लिये किया करता है। अज्ञानी यों विकल्प बनाता है कि देखो मैंने यह काम किया। अरे उसने उस कामको नहीं किया, उसने तो उस कार्य विषयक विकल्परूप विभावपरिणमन किया। करने सम्बन्धी कितनी तरहके विकल्प हैं, उन्हें संक्षेपमें जातिरूपमें संग्रहीत करके देखा जाय तो मूलमें अपने मन वचन काय कृतकारित अनुमोदनाके भेद तरंग उठते हैं और इसही के संयोगी अंगोंके द्वारा इन कर्मोंकी बातके ४९ प्रकार बनते हैं।

तीनों साधनोंसे तीनों कार्योंका एक विकल्प—कोई यों विकल्प करे कि मैंने मनसे, वचनसे कायसे किया, कराया और अनुमोदा। यह एक कर्म-विषयक सर्वांग विकल्प है इसमें कुछ भी छोड़ा नहीं। कर्मोंकी बातें तीन हैं और साधनोंकी भी बातें तीन हैं—किया, कराया, अनुमोदा, ये तीन तो काम हैं और मन, वचन, काय ये तीन साधन हैं। तीनों साधनोंसे तीनों कर्म करना ये कर्मविषयक सर्वांग विकल्प है।

दो साधनोंसे तीन कर्मोंके ३ प्रकार—कोई दो साधनोंसे तीनों कर्मोंके विकल्प बनाता है तो वे तीन प्रकारसे बनते हैं—(१) मैंने मनसे, वचनसे किया, कराया अनुमोदा। (२) मैंने मनसे, कायसे किया, कराया अनुमोदा। (३) मैंने वचनसे, कायसे किया, कराया, अनुमोदा। दो साधनों द्वारा तीन कर्म करने के विकल्पोंकी जाति तीन हैं।

एक साधनसे तीन कार्योंके ३ प्रकार— कभी एक साधनसे तीनों कर्म करनेके विकल्प उठते हैं—(१) मैंने मनसे किया, कराया, अनुमोदा, (२) मैंने वचनसे किया कराया अनुमोदा, (३) मैंने कायसे किया कराया

अनुमोदा। ये कर्मचेतनाके विकल्पोंके प्रकार हैं। कितने प्रकारसे यह ज्ञानी जीव अपनेमें कर्मविषयक विकल्प गूँथा करता है? इसका छोटा सा यह दिग्दर्शन है।

तीन साधनोंसे दो कार्योंके ३ प्रकार—कभी ३ साधनोंसे २ कर्मविषयक विकल्प होते हैं। जैसे—(१) मैंने मनसे, वचनसे, कायसे किया और कराया। (२) मन, वचन, कायसे किया और अनुमोदा। (३) मैंने मन, वचन, कायसे कराया और अनुमोदा। योग्यताएँ तो भैया! उस मोही जीवमें सभी साधनोंसे सभी कर्मोंके करनेकी बनी हुई हैं, लेकिन उपयोग की विचित्रताकी बात है कि कितने साधनोंसे कितने कर्मोंके करनेका कब विकल्प उठता है? कहीं यह जीव दो साधनोंसे तीन कर्मोंके करनेका विकल्प किया करता है। तो चूँकि दो के तीन विकल्प हैं, सो तीन विकल्पोंसे तीन कार्य किए गए हैं।

दो साधनोंसे दो कार्योंके विकल्पोंके ६ प्रकार—कभी दो साधनोंसे दो कर्मके विकल्प होते हैं। उसके ९ भंग होते हैं—(१) मन वचनसे किया कराया, (२) मन, कायसे किया कराया, (३) वचन कायसे किया कराया इसी तरह (४) मन वचनसे किया अनुमोदा, (५) मन, कायसे किया अनुमोदा, (६) वचन कायसे किया अनुमोदा, फिर (७) मन, वचनसे कराया अनुमोदा, (८) मन कायसे कराया अनुमोदा, (९) वचन कायसे कराया अनुमोदा।

साधनोंसे कर्मोंके करनेके विकल्पोंका विवरण—देखिए परविषयक कर्मों की कल्पनामें किस प्रकारसे विकल्पतरंगोंका निर्माण होता है? इन बातों को साधन और कर्मके द्वारा बताया जा रहा है। मनसे करना क्या? मनसे करनेका परिणाम क्या? वचनसे भी कितनी ही बातें कर देते हैं और कायसे करना तो सब लोग स्पष्ट जानते हैं। मनसे करानेका भी विकल्प होता है और कभी कार्य वचनसे भी कराया जाता है और कायसे भी कराया जाता है, यह तो लोग स्पष्ट जानते हैं। मनसे अनुमोदा जाता है, बहुतसे कार्य करते हैं लोग और अपनेमें संकल्प बनाते हैं, अनुमोदना बनाते हैं कि ठीक किया। वचनसे अनुमोदा जाता है, यह बात तो बिल्कुल स्पष्ट है और शरीरकी चेष्टासे अंगुली उठाकर, आंखें मटका कर इस तरह भी तो अनुमोदा जाता है। जैसे कोई पूछे कि कहो यह बात ठीक है ना? सिर हिला दिया, मायने हाँ सही है। तो कायसे अनुमोदा गया ना, तो इस प्रकार कर्मोंके करनेकी ये पद्धतियां हैं।

कर्मचेतनाका अज्ञान चेतना द्वारा पोषण—इसमें जो यह परिणाम करता है कि मैंने किया, कराया, अनुमोदा, यह सब अज्ञानचेतना है

क्योंकि परपदार्थोंके द्वारा कोई परपदार्थ नहीं परिणमाया जा सकता, फिर भी यह मान रहा है। निमित्त प्रत्येक अपने ही प्रदेशमें अवस्थित रहते हैं, उनके गुण पर्यायोंकी कला निमित्तके क्षेत्रसे बाहर नहीं होती। फिर कौन किसको करता है ? फिर भी यह जीव विकल्प बनाये रहता है, मैंने मंदिर बनवाया, मैंने उत्सव किया। कितने प्रकारके करनेके विकल्प बनाते हैं ? आरम्भ और परिग्रह सम्बन्धी करनेके आशयमें. जैसे पाप हैं इसी प्रकार धर्मका नाम लेकर भी परपदार्थोंमें मैंने कुछ किया, ऐसा आशय रहे तो उसमें भी वही मिथ्यात्वका पाप है। ज्ञानीसंत तो कुछ भी काम करके वह सामायिकमें खड़ा होकर वंदना कर रहा हो, भक्तिपाठ पढ़ रहा हो, उन सभी बातोंमें यह भावना रखता है कि यह सब अज्ञानकी चेष्टा है। जो जो उसने कार्य किया वह ज्ञानभावके गंधसे निकली हुई नहीं हैं किन्तु रागद्वेष जो शेष हैं वे अज्ञान भाव हैं और उनकी प्रेरणाके ये सब बाह्य करतूतें हैं। सो इन सबको करता तो है वह, परन्तु मेरा इनका ही करनेका काम है, ऐसा मिथ्या आशय वह नहीं रखता है।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानीके व्यवहारप्रवृत्तिमें भी ज्ञानवृत्तिके लक्ष्यकी सिद्धि—जैसे सीढ़ियोंपर चढ़ते हुए कोई सीढ़ियोंको भी गिनता है क्या ? नहीं। वह तो सभी सीढ़ियों पर पैर रखकर ऊपर पहुंच जाता है। कोई मनुष्य दौड़ लगाता है तो क्या वह अपने पगोंको गिनता जाता है ? अरे वह तो दौड़ता हुआ बड़ी जल्दीसे पहुंच जाता है। तो जैसे दौड़ लगाने वाला बिना पगों को गिने हुए दौड़ लगाकर अपने इष्ट स्थानमें पहुंच जाता है, सीढ़ियों पर चढ़ने वालेका लक्ष्य अट्टालिकामें पहुंचनेका है इसी तरह व्रत, तप, संयम करने वालेका लक्ष्य निर्विकल्प समाधि भावमें पहुंचनेका है, न कि वर्तमानमें की जा रही मन, वचन, कायकी चेष्टाओंको निरखनेका है।

प्रवृत्तिमात्रमें अज्ञानचेष्टापनका ज्ञानीके निर्णय—आत्मानुशासनमें इस बातको स्पष्ट कहा है कि 'यद्यदाचरितं पूर्वं तत्तदज्ञानचेष्टितम्।' जो जो भी मैंने यह आचरण किया है वह सब अज्ञानकी चेष्टा है। मैं तो निर्विकल्प ज्ञान ज्योतिमात्र हूं। कितना शुद्ध आशय ज्ञानी संतका होता है और कर्मचेतनासे कितना पृथक् बना रहता है ? यह मर्म जिस भक्तकी समझमें आता है वह भक्त ऐसे ज्ञानी आत्माओं पर अपना मानो सर्वस्व न्यौछावर कर देता है। इतनी उपासनाकी दृष्टि जगती है। वह ज्ञानी तो परमगुरु सर्वज्ञदेव और उनके ही मार्ग पर चलने वाले अन्य ज्ञानीसंत पुरुष हैं। पतंग इतनी खबर तो न विसारो कि जो हम कर रहे हैं वह सब अज्ञानकी चेष्टा है, इतनी बात ध्यानमें बनी रहे तो ज्ञानकी डोर हाथमें रहेगी। चाहे आकाशमें कितना ही उड़ जाय पर डोर बालकके हाथमें है तो पतंग

अब भी वसमें है। इसी तरह ये अज्ञानकी चेष्टावोंकी पतंगें चाहे कितनी ही दौड़ लगा जायें किन्तु ज्ञानतत्त्वकी डोर दृष्टि यदि उपयोगके हाथमें है तो अब भी, वे वेढंगी क्रियाएँ होकर भी खुदके ही वशमें है सब। जिस चाहे क्षणमें मन, वचन, कायकी चेष्टावोंका परिहार करके निर्विकल्प समाधिमें अवस्थित हो सकता हूं।

एक साधनसे दो कर्मोंके विकल्पके ९ प्रकार—यह कर्मचेतनाका प्रकरण है। ऐसे नाना प्रकारके विकल्पोंसे कर्मका आशय पोसा करते हैं मोही। कभी यह जीव एक साधनसे दो प्रकारके कर्मोंका विकल्प करता है—एक साधनसे दो कर्मोंके विकल्प नौ प्रकारसे किए जा सकते हैं—(१) मैंने मन से किया, कराया, (२) वचनसे किया कराया, (३) कायसे किया कराया, (४) मनसे किया अनुमोदा, (५) वचनसे किया अनुमोदा, (६) कायसे किया अनुमोदा, (७) मनसे कराया अनुमोदा, (८) वचनसे कराया अनुमोदा, (९) कायसे कराया अनुमादा। ये सब विकल्प बड़े संक्षेपमें जातिवादको लेकर बताये जा रहे हैं। इनका विस्तार तो अनगिनता है।

अज्ञानमें करामात—देखो भैया! कैसी क्षण-क्षणमें विकल्प तरंगे उठा करती हैं और यह अज्ञानी जीव उन विकल्पतरंगोंकी अपनाए रहता है। इसे भीतरका कुछ पता नहीं और बाहरका भी सही पता नहीं। जो दिखता है वह भी झूठ है और जो भीतर दिखता है वह भी झूठ है, न बाहरकी सच्चाई का पता है और न भीतरकी सच्चाईका पता है। विकल्पोंके अपनाने रूप अज्ञानचेतनाके प्रसादसे यह कर्मचेतनाका जाल इस जीवको फंसाने के लिए बिछा हुआ है। अभिमानी लोगोंको उनके द्वारा ये काम हुए हैं ऐसे कर्तृत्वका वचन बोल दो तो वे अभी खुश हो जायेंगे। किसी को वश करना कोई कठिन बात नहीं है। आप अपने कषायको वश करके उन उपायोंको करें, घमंडियोंकी प्रशंसा कर करके अपना नौकर बना लीजिए। मायाचारियोंकी हां में हाँ मिलाकर उन्हें अपना नौकर बना लीजिए। लोभियोंको अच्छी-अच्छी चीजें खिलापिला कर अपने आधीन कर लीजिए।

अज्ञानभावसे अज्ञानियोंका वशीकरण—ये बच्चे लोग पैसा चाहते हैं, बापसे और रूठकर चाहते हैं। अरे वे भूल करते हैं। हम बच्चों को जरासी तरकीब बता दें और रोज खूब पैसा लें बापसे। जरासी तो तरकीब है। जरा हाथ जोड़ लें, मीठे वचन बोल लें और आपके पास बैठकर अपना बड़ा विनय दिखा दें, लो इतनी बात कर देनेसे ही खूब पैसे ले लें। १० पैसोंकी जगह पर २० पैसे मिल जायेंगे। जरासा तो काम

करना है, फिर बापको उल्लू बना लें। पर कषायकी ऐसी चेष्टा भरी है कि वे उपाय ही नहीं सूझते जिससे कि वे आधीन बन जायें और आधीन क्या, वे तो आधीन हैं ही। तुम्हारे आधीन नहीं हैं तो औरोंके हैं, औरों के नहीं हैं तो अपने विकल्पोंके हैं। अज्ञानी जीव तो सदा विवश है, उसका मूल आशय अज्ञानचेतनाका है और जब कुछ लोकयात्राके लिए तैयार होता है तो कर्म चेतनाका कदम उठता है।

तीन साधनोंसे एक कार्यके विकल्पके ३ प्रकार—कभी यह जीव तीन साधनोंसे एक कामका विकल्प करता है। ऐसे विकल्प तीन प्रकारसे जगते हैं—(१) मैंने मन, वचन, कायसे किया, (२) मैंने मन, वचन, काय से कराया। (३) मैंने मन, वचन, कायसे अनुमोदा, ऐसे नाना प्रकारके कर्मोंमें कर्तृत्वका आशय रखकर यह अज्ञानी जीव अपना स्वरूप भूल जाता है और बाह्यमें बड़ा सावधान अपनेको समझता है। बाहरका काम जरा सफाईसे, व्यवस्थासे बड़ी बढ़वारीके साथ बन गया तो भीतरमें कर्तृत्वका आशय बनाकर अपनेको करता तो बरबाद है, पर समझता है कि लोकमें हम सबसे अधिक चतुर हैं। मैं अपना काम यों ही आनन फाननमें कर डालता हूं। समझता है चतुराई और भीतर बसी है व्यामूढ़ता। अरे! अंतरमें ही व्यामूढ़ताको समाप्त करके इस अज्ञानचेतना को दूर करके ज्ञानचेतनाका विलास करना है।

भूतकर्ममें कर्तृत्वबुद्धि—इस जीवकी अपनी करतूत पर अहंकार रहता है, अपने आपके निष्कर्ष सहज चित्स्वभावका परिचय न होने से विभावों को अपनाता है और उनमें उनके कारण परपदार्थोंके सम्बन्धमें कर्तृत्व बुद्धि बनाता है। यह अमृतपान यदि यह जीव करले कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, किसी भी परद्रव्यपर मेरा अधिकार नहीं है, जो जैसा परिणमता है वह स्वयंकी परिणतिसे परिणमता है। कला तो केवल उसकी ही कार्य करनेमें सम्पन्न और समाप्त होती है तो ऐसी वस्तुस्वतंत्रता की बुद्धिसे इस जीवको आकुलता नहीं हुआ करती है। यह अज्ञानी जीव भूतकाल सम्बन्धी कर्तापनके भावको लादे हुए है। इस कर्मचेतनाके सम्बन्धमें भूतकालविषयक अनेक भंग पैदा हो गए।

दो साधनोंके द्वारा एक कार्यके विकल्पके ९ प्रकार—अब कभी यह अज्ञानी दो साधनोंके द्वारा एक कर्मका अहंकार रखता है—(१) मैंने मन, वचनसे यह कार्य किया, (२) मन, वचनसे कराया, (३) मन, वचनसे अनुमोदा। (४) मन कायसे किया, (५) मन कायसे कराया, (६) मन कायसे अनुमोदा। (७) वचन कायसे किया, (८) वचन कायसे कराया और (९) वचन कायसे अनुमोदा। इस प्रकार दो साधनों द्वारा एक कर्ममें

६ जातिके विकल्पोंरूप परिणमता है।

एक साधनके द्वारा एक कार्यके विकल्पके ६ प्रकार—कभी यह अज्ञानी एक साधनके द्वारा एक कर्मको करनेके अहंकारमें भी ६ तरहसे परिणमन करता है—(१) मैंने मनसे किया, (२) वचनसे किया, (३) कायसे किया। (४) मनसे कराया, (५) वचनसे कराया, (६) कायसे कराया। (७) मनसे अनुमोदा, (८) वचनसे अनुमोदा, (९) कायसे अनुमोदा। इस तरह भिन्न भिन्न साधनोंसे भिन्न-भिन्न कर्मोंके कर्तृत्वके अहंकारसे लदा हुआ यह अज्ञानी जीव कर्मचेतनाके वश लोकयात्रा कर रहा है।

कर्मचेतनाकी संकटमयता—यह जीव स्वभावतः आनन्दमय है, जब उदय खराब है तब यह जीव अपने आनन्द स्वभावकी दृष्टिसे चिगकर बाह्यपदार्थोंमें स्वामित्व और कर्तृत्वकी बुद्धिका बोझ लादता है और दुःखी होता है। इसने यह क्यों नहीं किया, यह ऐसा क्यों नहीं परिणमता, यह यों क्यों नहीं बन जाता ? अरे तुम जगत्में अन्य पदार्थोंकी संभाल क्या कुछ भी कर सकते हो ? यह तो एक उदयका मेल है कि कदाचित् कोई वस्तु मनचाही सामने आ जाय, कोई जीव मनमाफिक परिणति करने लगे, यह तो एक उदयानुसार कभी-कभीका मेल बन जाता है। इसमें भी वास्तविक सम्बन्ध प्रयोजन, मर्म, रहस्य कुछ नहीं है। ज्ञानी संत इन ४९ जातियोंमें विभक्त भूतकाल सम्बन्धी कर्तृत्वके विकल्पको दूर करता है। यह कर्तृत्व विकल्पका पाप मेरा मिथ्या हो।

ज्ञानीकी शिवदर्शनसे उत्पन्न हुई विविक्तता—भैया ! वे ही सब बातें जिनमें अज्ञानी जीव मग्न होकर अहंकाररसमें डूबा हुआ व्याकुल हो रहा था। वे सारे विकल्प और करतूतें इस शुद्ध सहज स्वभावकी दृष्टिसे ऐसे लग रहे हैं कि ये कहाँ हो रहे हैं। झूठ हो जायें, बन गया काम, ऐसी कोई मेरे प्रोग्रामकी बात न थी, मेरे सहजस्वभावकी ओरसे कोई कार्यक्रम न था। मिले हुए निमित्तनैमित्तिक भावसे अटपट बातें हो गयीं, हो गयीं. वे मिथ्या हैं, मिथ्या हों। मैं तो सहज ज्ञानस्वरूप हूं। न मैंने किया, न कराया, न अनुमोदा। यह बीचका इन्द्रजाल आपड़ा था। मैं तो एक सहजशुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूं। ज्ञानी जीव जिसको लक्ष्यमें लेकर ऐसा कह रहा है वह चीज लक्ष्यमें न आए तो अन्य लोग ऐसा सोचते हैं कि वाह यह तो बड़ा अच्छा हुआ। मुखसे कह लिया, पाप मिथ्या हो गए पर जिस तत्त्वको लक्ष्यमें लेकर ज्ञानीका यह शिवभाव होता है वह लक्ष्य में आए तो पता पड़ता है कि यह तो अंतःपुरुषार्थपूर्वक एकदम सत्य कदम रखा जा रहा है ज्ञानी जीवका शिव संकल्प हो रहा है। अहो पूर्व कालमें मोहसे जो जो मैंने किया उन समस्त कर्मोंको अतिक्रान्त करके,

त्याग करके, विभक्त करके उससे पृथक् चेतनात्मक निष्कर्म निज आत्म तत्त्वमें अपने आपके साधनके द्वारा वर्तूं।

अज्ञान और ज्ञानचेतनाकी दिशायें—बीती हुई बातमें करनेकी आपके ममता हुआ करती है क्या? हाँ अज्ञानी जीवके हुआ करती है। कोई घटना कुछ दिन पहिले हो गयी हो और आज भी उसकी ममता रह सकती है। मैं कैसे माफ करूँगा, मुझे ऐसा क्यों कहा था? अरे ऐसा जो विकल्प है यह ममताका ही तो परिचय है। पूर्वकालमें किए हुए अपराधमें भी आत्मीयता है, इसकी निशानी ही तो वर्तमान हठ है। ज्ञानी पुरुषकी आत्माने विकल्पोंको अपनेमें स्थान नहीं दिया। हुआ था जो विकल्प वह जबका जब था, अब तो मैं समस्त कर्मोंसे रहित शुद्ध चेतनात्मक तत्त्वमें रह रहा हूं। एक व्यावहारिक विकल्पका भंग करके दूसरे व्यावहारिक विकल्पोंको अपनाए तो वह तो है बेईमानी, किन्तु व्यावहारिक विकल्पोंको भंग करके यह शुद्ध आत्मतत्त्वमें वर्ते तो वह बेईमानी नहीं है।

एक ही भवमें द्विजपना—जैसे किसी सेठ ने दो दिन पहिले कुछ सहायता देनेको कहा था, मानो यह कहा था कि तुम्हारा काम अटका है सो तुम हमारे यहाँसे ५० हजार ले जाना। तुम गरीब पुरुष हो, अपना काम चलाना और हो जाय आज वह निर्ग्रन्थ साधु, चला जाय जंगलमें धर्मसाधनाके लिए तो क्या कोई यह कहेगा कि देखो इसने वचन दिया था और वचन पाला नहीं। हाँ, जिस पर ऋण हो वह निर्ग्रन्थ साधु नहीं बन सकता है पर और भी वायदा किया हो कि अजी चलो अपन गिरनार जी व मूलबद्री की यात्रा करें, या अपन अगले महीनेमें बम्बई कपड़ा खरीदने चलेंगे, किसी मित्रसे ऐसा कह दिया और आज हो गए साधु तो क्या कोई यह कहेगा कि तुमने तो वायदा किया था और आज हो गए हो साधु? ऐसा कोई नहीं कहता। अरे वह पहिले वाला पुरुष तो मर चुका, अब तो वह द्विज बना है। अब तो उस पुरुषका नया जन्म हुआ है।

नये जन्ममें पुराने जन्मकी वासनाका अभाव—पहिला जन्म वह था जब माँके पेटसे निकला था, अब मोह हट गया, रागद्वेष क्षीण हो गया, शुद्ध आत्माकी लौ लग गयी तो यह तो उसका दूसरा जन्म हुआ है। अब पहिले जन्मकी बातें सब भूल जायेगा। जैसे कोई इस जन्मसे मरकर दूसरे भवमें पहुंचता है तो वहाँ दूसरे भवमें रहते हुए क्या पहिलेके इस जन्मकी घटनावोंमें संकल्प, विकल्प मचते रहते हैं? नहीं तो फिर इसही मनुष्यभवमें रहकर साधु व्रत लेकर अर्थात् नया जन्म पाकर अब पुरानी घटना पुरानी ही ढालने चलाने का विकल्प करे तो क्या यह कहा जा

सकता है कि मैंने नया जन्म पाया। अरे यह तो वहींका वही है जो पहिले था।

ज्ञानचेतनामें प्रतिक्रमणकी सम्पन्नता—ज्ञानी संत पुरुष पूर्वकृत विकल्पों को अपनाता नहीं है। जो इस प्रकारका कर्म होता है वह सब मेरा मिथ्या हो। मैं तो अपने आपमें ही वर्त रहा हूं। अहो मैं ज्ञान स्वभावमात्र हूं। यह तो स्वभावतः निष्कर्म है। ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहूं, इतना ही मात्र होना है। अहो यह अटपट बात हो गयी। यह हो गयी, यह न होनेकी तरह हो जाय। मैं अपनी प्रज्ञाको अपने आपके अन्तरमर्ममें लिए जा रहा हूं। मैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं—ऐसी भावनाके बलसे यह जीव प्रतिक्रमण कर रहा है, कर्मचेतनाका त्याग कर रहा है। कर्मचेतना तीन प्रकारसे होती है, किए हुए कर्मोंमें कर्तृत्व बुद्धि करना और किए जा रहे कर्ममें कर्तृत्वबुद्धि करना और आगे भविष्यमें किए जाने वाले कर्मोंमें कर्तृत्व बुद्धि करना। इन तीनों प्रकारकी बुद्धियोंके त्यागका नाम है प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना। यहाँ तक प्रतिक्रमणका वर्णन समाप्त होता है।

निश्चय आलोचना नामक परम तप—अब आलोचनाके प्रकरणमें आइए। जैसे भूतकालमें ३ साधनों द्वारा अथवा दो साधनों द्वारा अथवा एक साधन द्वारा तीन, दो या एक कर्मका कर्तृत्वभाव किया था तो यहाँ आलोचनाके विरोधरूप अपराधमें उस ही प्रकारके वर्तमान कार्यमें कर्तृत्व भाव किया जा रहा है, इसका नाम है वर्तमान कर्मचेतना। इसे भी उसही प्रकार ४९ प्रकारके विकल्पोंमें लेना। उन सब कार्योंमें भी यह ज्ञानी संत अपने शुद्ध स्वभावकी दृष्टिकी ओर आ रहा है। मैं न मनसे करता हूं, न वचनसे करता हूं और न कायसे करता हूं, न कराता हूं, न अनुमोदता हूं। यों वर्तमान करतूतसे भिन्न अपने सहज स्वभावके देखनेमें यत्नशील हो रहा है।

स्वयं में स्वयं की कला का विलास—वास्तविकताकी बात यह है कि जो मैं स्वलक्षणतः जैसा जो कुछ हूं उस पर दृष्टि देकर देखें तो न मैं शरीरका कर्ता हूं, न दुकानादिका कर्ता हूं, न कर्मोंका कर्ता हूं और यह मैं तो रागादिक भावोंका भी कर्ता नहीं हूं। यह भी होना पड़ता है। असावधानी तो इतनी है और उसीका फल है कि मेरा ही विभाव परिणमन हो जाता है किन्तु स्वरसतः यह मैं कुछ किया नहीं करता हूं। न मैं करता हूं और न मैं कराता हूं। कराना कहते हैं करते हुएको प्रेरणा करना। मैं किसे प्रेरणा कर सकता हूं, अपनी भावना वासनाके अनुसार अपनी चेष्टा कर डालूँ यहाँ तक तो मेरी विभाव कला खेल जायेगी पर इससे आगे मैं किसीको कुछ प्रेर सकूँ ऐसी मुझमें सामर्थ्य नहीं है।

उदासीनतासे सिद्धि—भैया ! यहाँ तो यदि ऐसी दृष्टिसे रहे, जैसे देखा होगा ना चतुर भिखारियोंको जो यह कहते जाते हैं कि जो दे उसका भी भला जो न दे उसका भी भला। इसकी आवाज सुनकर देने वाले भी दे उठते हैं। इसी तरह यदि इस आशयसे रहा जाय कि कोई यों परिणमन करे तो उसकी मर्जी, न करे तो उसकी मर्जी। ऐसे उदासीन भावोंसे अपनी वृत्ति बनाएँ तो यह बहुत कुछ सम्भव है कि आपकी मर्जीके विरुद्ध परिणमने वाला भी आपके अनुकूल परिणम जाय और न भी परिणमे तो मैं अपना ही मालिक हूं ऐसा तो निर्णय है ही आपका। दूसरेका मैं मालिक नहीं हूं। दूसरे से तो एकमात्र धार्मिक सम्बन्ध है और ममताका भी सम्बन्ध होता है।

गृहमें भी धार्मिक सम्बन्धकी उत्पादिका प्रज्ञा—भैया ! ममत्वके सम्बन्ध में तो सद्‌बुद्धि ठिकाने नहीं रहती है, पर धार्मिक सम्बन्ध मानने पर सद्‌बुद्धि ठिकाने रहा करती है। क्यों मानें गृहस्थजन कि उनका परिवार के साथ ममताका सम्बन्ध है ? ममताका सम्बन्ध नहीं है, किन्तु एक धार्मिक सम्बन्ध है। भली प्रकार विचार लो—जो पुरुष आत्मबलकी प्रबलताके अभावसे सकल संन्यास नहीं कर सकता उसको यह आवश्यक हो गया है कि कहीं कुपथमें न गिर जायें इसलिए कुछ ऐसा परिजन वैभव का संग रखें कि जिससे कुछ एक देश धर्म पालनकी पात्रता तो बनी रहे। इसी उद्‌देश्यसे गृहस्थोंने गृहिणीको स्वीकार किया है। यदि भोग और ममत्वके उद्‌देश्यसे गृहणीको स्वीकार किया हो तो जीवन भर चक-चक लगी रहेगी। यदि पहिले उद्‌देश्य न रहा हो यह तो अब उद्‌देश्य बना लेना चाहिए। कुपथमें भ्रष्ट न होऊँ, इतने मात्र बचावके लिए घर स्वीकार किया है, कहीं घरमें ममता नहीं है।

गृहस्थको प्राप्त विवेकका प्रसाद—लक्ष्य सही हो, फिर यह बात जल्दी आ जायगी कि ये परिजन समझाये जाने पर भी यदि अनुकूल नहीं चलते हैं तो मत चलें, बाबा तुम्हारा भी भला हो। ऐसी उदासीनता और ज्ञान वैराग्यके प्रकाशमें यह गृहस्थ सुरक्षित रहता है। उसकी कितनी भी आमदनी हो जाय पर कोई आकांक्षा गृहस्थके नहीं रहती। धर्म, अर्थ, काम ये तीनों पुरुषार्थ करना कर देनेका काम है। तो अपनी ड्यूटी पालनेके लिए वह अपनी आजीविकाके कार्यमें लगता है। फल मिलना यह हमारी बुद्धि पर निर्भर नहीं है। हाँ हमारी बुद्धि पर निर्भर यह है कि उदयानुसार जो कुछ प्राप्त हो उसके ही अन्दर अपना गुजारा करें, ऐसी व्यवस्था बनालें। इस पर तो बुद्धि चलेगी पर किसी की जेबसे ये रुपये निकलकर तिजोरीमें आ जायें ऐसी बुद्धि न चलेगी। इस कारण गृहस्थ आचरणके

बारेमें भी चिंता नहीं रखते, कर्तव्य पालते हैं।

ज्ञानी गृहस्थका लौकिक इज्जतमें अविश्वास—गृहस्थजनोंके यह भी परिणाम नहीं होता कि यदि ऐसा ठाठबाट न रहेगा तो पोजीशन गिर जायेगी। न गिरेगी। क्या किसी निर्ग्रन्थ दि० साधुका जब इतना त्याग हो गया, घर छोड़ा कुटुम्ब छोड़ा, आराम छोड़ा, वाहन छोड़ा, जमीन पर ही लोटते, जमीन पर ही बैठते, यह उनकी एक चर्या बन गयी तो क्या उससे उनकी पोजीशन कम हो गयी? उपासक भक्त लोगोंके चित्तमें तो पोजीशन बढ़ गयी कि धन्य हैं वे संत पुरुष जिनके अहंकार नहीं रहा, शरीरके आराम की बात नहीं रही, जमीन पर ही लोटते हैं, जमीन पर ही सोते हैं, धूलसे चिपटा शरीर है, मनमें उसके प्रतिकारकी आकांक्षा नहीं रहती है ऐसा प्रबल ज्ञान वैराग्य जगा हुआ है। इस प्रकार जो गृहस्थ छोटी आयके भीतर ही संतोषपूर्वक गुजारा करते और मनसे दूसरोंका भला सोचते, वचनसे दूसरोंका भला करते, शरीरसे दूसरोंकी सेवा करते उनका कुर्ता चाहे फटा भी हो, कपड़े भी चाहे कोई पहिननेको न मिलें तो भी दुनियाकी निगाहमें उसकी इज्जत कम नहीं होती है, बल्कि उसकी इज्जत बढ़ती है। अन्याय करके मायाचार करके दुनियामें अपनी पोजीशन रख ली और अन्तरमें रत्नत्रयसे भी चिगा रहा, आत्मदृष्टि खोकर निर्बल हो गया तो यहाँ संसारके लोगोंके मध्यमें भी उसे अपनी करतूतका फल भोगना पड़ेगा।

परके कर्तृत्व, कारयितृत्व व अनुमन्तृत्वका अभाव—मैं न करता हूं किसी अन्य पदार्थको, न कराता हूं और न अनुमोदता हूं। परका कर्ता तो मैं यों नहीं हूं कि परकी परिणति उस परमें ही होती है, मेरी वृत्ति मेरेमें होती है। मैं परको कहाँ किया करता हूं और परको मैं कराता नहीं हूं। कराना कहते हैं करनेकी प्रयोजकता को। किए गये कामका फल जिसे मिले उसे कराने वाला कहते हैं। जैसे आप खेती कराने वाले कहलाते हैं क्योंकि खेतीमें जो अनाज उपजेगा उसका फल आप भोगेंगे तो लोकमें कराने वाला उसे कहते हैं जो कामका फल भोगे। क्या यह कराने वाला जिसे लोकमें माना गया है वह परकीय कामके फलको परमार्थतः भोग सकता है? नहीं। फिर कराने वाला कैसे? प्रत्येक पदार्थके कार्यका फल वही प्रत्येक पदार्थ पाता है और वास्तवमें फल तो कार्यका यह है कि वह पदार्थ शाश्वत बना रहे। परिणमनका प्रयोजन वस्तुका शाश्वत बना रहना है, इससे आगे उसका प्रयोजन नहीं है।

परिणमनका प्रयोजन सत्त्वका बना रहना—यहाँ आप अजीव पदार्थमें भली प्रकारसे देख लो, यहाँ आपको सच्ची गल्ती दिख जायेगी, क्योंकि

अजीव पदार्थ वेईमान नहीं होते। अजीव पदार्थके परिणमनका प्रयोजन उसका सत्त्व बना रहना है। जीव पदार्थमें यह सच्चाई जरा देरमें समझ में आयेगी कि इसके परिणमनका प्रयोजन इसकी सत्ता बनी रहे इतना ही मात्र है; यह बात देरमें बैठती है। यही कषाय मनमें बसाये हुए है कि अरे बच्चा बड़ा होगा तो हमें आदरसे आरती उतार कर रोटी खिलायेगा यह प्रयोजन मनमें बसा है। यह समझमें ही नहीं आता कि बच्चेका जो परिणमन होगा उसके प्रयोजनमें उस ही द्रव्यका शाश्वत बना रहना है और कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। यह वस्तुस्वरूपके बोधसे ध्यानमें आता है। तो मैं न करने वाला हूं, न कराने वाला हूं, न अनुमोदने वाला हूं—इस प्रकार यह ज्ञानी आलोचनाको प्राप्त कर रहा है।

अप्रतिक्रमणकी तरह वर्तमानकर्तृत्व व भावीकर्तृत्वके विकल्प—अज्ञानी जीव भविष्यत् कालके कर्तृत्वकी भी संचेतना किया करते हैं। मैं अमुक कार्य करूँगा या करते हुएका हौंसला बढ़ाऊँगा, इस प्रकारके भावों द्वारा भावी कालके कर्मोंकी भी संचेतना किया करते हैं। जैसे प्रतिक्रमण ४९ विकल्पोंमें होता है अथवा भूतकालके कर्तृत्वकी संचेतना ४९ विकल्पोंमें होती है, इस तरह वर्तमान कर्तृत्वकी कल्पना ४९ विकल्पोंमें है। इसी प्रकार भावी कर्तृत्वकी कल्पना भी ४९ रूपों में है। मन, वचन, कायके इन तीन साधनों द्वारा मैं करूँगा, कराऊँगा, अनुमोदूंगा. इस प्रकारसे विकल्पों के द्वारा पहिले की तरह भेद लगा। लेना जैसे भूतकालके कामका परिग्रह व्यर्थ ही सताता है इसी प्रकार भविष्यकालके कामका परिग्रह भी व्यर्थ सताता है। आयु व्यतीत हो जाती है, आयु क्षीण हो जाती है किन्तु आशा क्षीण नहीं होती है। अब यह करना है, इस करने के भावमें ऐसा रोग बना रहता है कि अपना जो स्वास्थ्य है ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्म-तत्त्वका श्रद्धान ज्ञान और आचरण है वह नहीं बन पाता। करूँगा, करूँगा यह तो बहुत ख्यालमें रहता है किन्तु मरूँगा, मरूँगा, मरूँगा यह भूल जाता है।

भावकर्मके सम्बन्धमें ज्ञानीकी भावना—आलोचनामें ज्ञानी संतका यह भाव रहता है कि मोहके विलासके बढ़नेसे उत्पन्न हुए जो ये कर्म हैं ये सब मेरे स्वरूप नहीं हैं, इनसे मैं पृथक् हूं, ऐसा जानकर चैतन्यस्वरूप निष्कर्म आत्मामें मैं वर्तूं। इस ही प्रकार यह ज्ञानी संत भविष्य कालके कर्मोंको भी त्याग कर मोहरहित होता हुआ इस निष्कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मामें रहूं, ऐसी भावना करता है। मन, वचन, कायकी जो चेष्टा हुई जिसे मैंने स्वरसतः नहीं की, किन्तु हो गयी, इस ही प्रकार मन, वचन, कायका जो परिणमन होगा वह भी मैं न करूँगा किन्तु हो पड़ेगा। मैं तो वह करता हूं जो मेरे सत्त्वके कारण ही मुझमें उत्पन्न हो सकता हो।

परमें करने, कराने व अनुमोदनेकी सृष्टिकी असंभवता—करना कहते हैं परवस्तुका परिणमन बना देने को। सो यह तो होता नहीं। कराना कहते हैं परवस्तुके परिणमनका फल स्वयं पा लेना। सो यह भी होता नहीं, क्योंकि परमार्थः प्रत्येक कार्यका सम्प्रदान कार्यका आधारभूत पदार्थ ही मिलता है। और अनुमोदना कहते हैं करते हुए की अनुमोदना करना, अनुमोदना है एक प्रकारका ज्ञानपरिणमन। जैसे ज्ञान परमार्थतः परपदार्थको नहीं जानता किन्तु अपने ही ज्ञेयाकार परिणमनरूपसे जानता भर रहता है, इस ही प्रकार कोई भी पुरुष किसी परको अनुमोद नहीं सकता, वह अपने कषायके विकल्पोंको ही अनुमोदता है। अतः न 'मैं' परका कुछ कर सका, न करा सका, न अनुमोद सका और इस ही प्रकार न मैं परका कुछ करता हूं, न कराता हूं, न अनुमोदता हूं। यहाँ मैं शब्दको देखनेमें अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्य स्वभाव रूपमें दृष्टि जानी चाहिए। न मैं किसी परका कुछ करूँगा, न कराऊँगा, न अनुमोद सकूँगा। इस प्रकार निश्चयप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान और निश्चयआलोचनाकी पद्धतिसे शुद्ध ज्ञान चेतना की भावना बनती है और मैं ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानरूप ही परिणमता हूं, ऐसी दृढ़ भावनाके बलसे इस ज्ञानीके कर्मचेतनाका संन्यास हुआ।

अब अज्ञानचेतनाकी दूसरी शाखा जो कर्मफल चेतना है उस कर्मफल चेतनाके संन्यासकी भावनाके लिए पहिले कर्मफल चेतनाका स्वरूप अवधित करते हैं।

वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा।
सो तं पुणोवि बंधइ बीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८६॥

कर्मफल चेतना—मूलमें मोही जीवके अज्ञान चेतना उठी। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावोंमें 'यह मैं हूं' ऐसी चेतना का नाम अज्ञानचेतना है। यह अज्ञानचेतना दो प्रकारकी है—कर्मचेतना और कर्मफल चेतना। उसमें कर्मचेतनाका तो वर्णन किया जा चुका है। अब इस गाथामें कर्मफल चेतनाका वर्णन चल रहा है। ज्ञानभावके अतिरिक्त अन्य भावोंमें यह मैं इसे भोगता हूं, इस प्रकारका अनुभवन करना सो कर्मफल चेतना है। इसमें प्रकट रूपक इस भांतिके हैं। मैं भोजन खाता हूं, मैं और इन्द्रियोंके सुखको भोगता हूं, ऐसी इन्द्रियज सुखके भोगनेका जो परिणाम है, सो कर्मफल चेतना है। कुछ इस मुझको ख्याल ही नहीं है कि ये विषय अत्यन्त परपदार्थ हैं, इनको मैं कभी भोग ही नहीं सकता। इन पदार्थोंके सम्बन्धमें जो मैं विकल्प किया करता हूं उस विकल्पको ही भोगता हूं। इस मर्मका परिचय न होनेसे अज्ञानी जीवका आकर्षण परपदार्थकी ओर रहता है और यह आकर्षण सबसे महान् कठिन विपदा है।

संसारमार्ग व मोक्षमार्गका मूलमें अन्तर—भैया ! संसारमार्ग और मोक्षमार्गके परस्पर विपरीत होनेकी सीमामें यहाँ थोड़ा ही अन्तर है। जैसे दो खेतोंके बीच बहुत पतली रेखा पड़ी हो तो दो खेतोंका बँटवारा कराने वाली मूलमें जो जगह है वह बहुत कम अन्तर वाली है, पश्चात् बाहरके विस्तारके क्षेत्रका अन्तर अधिक है। इसी प्रकार यह सारा संसार जो अनेक योनिकुलों रूप है, अनेक विडम्बनाओं रूप है इसके और अनन्तचतुष्टयात्मक मोक्षका तो बड़ा अन्तर है, पर इस बड़े अन्तरके सीमारूप मूलमें जरा सी बातका अन्तर था, क्यों कि आत्मप्रदेशमें अवस्थित इस उपयोगने अपनी ओर मुख न करके परकी ओर मुख कर दिया। इतना ही मूलमें अन्तर रहा, पर इस अन्तरके परिणाममें अन्तर इतना बढ़ गया कि कहाँ तो संसारकी ये सारी विडम्बनाएँ और कहाँ मोक्षका अनन्तचतुष्टयात्मक स्वरूप। इस अज्ञानचेतनाका जो मूलमें अत्यन्त निकटका अपराध है उस अपराधके फलमें कर्मचेतना और कर्म फल चेतनाके रूपमें बड़ा विस्तार बन जाता है। ज्ञानभावके अतिरिक्त अन्य भावोंको मैं भोगता हूं, ऐसी चेतना करना सो कर्मफलचेतना है।

विषयभोगके विकल्पके भोगनेकी बुद्धिमें भी कर्मफलचेतनापन—मैं भोजन भोगता हूं, यह तो कर्मफलचेतना है ही, पर मैं कुछ थोड़ा बहुत शब्दोंको बोलने लगा और इस ढंगमें कुछ दिखने लगा कि मैं भोजनको नहीं भोगता हूं, किन्तु भोजन सम्बन्धी जो विकल्प हुआ है उस विकल्पको भोगता हूं। यहाँ पर भी कर्मफलचेतना ही रही। मैं तो ज्ञानभावके अतिरिक्त अन्य आत्मीय परभावोंको भी नहीं भोगता हूं। ऐसा मात्र शुद्धनिश्चयकी दृष्टिसे केवल ज्ञानवृत्तिको ही भोगनेकी भावना करना, सो कर्मफल चेतनासे अलग ज्ञानचेतना वाली बात होगी। यह कर्मफल चेतना भी ८ प्रकारके कर्मोंका बंध कराने वाली है। कर्मफलको भोगता हुआ सुखी और दुःखी होना, सुख और दुःखको भोगता हुआ ऐसा अनुभव करना, सो यह कर्मफल चेतना है।

क्लेश पानेकी मूल पद्धतिकी एकता—यह कर्मफलचेतना संसारके बीज-भूत ८ प्रकारके कर्मोंको बाँधती है। यह जीव बिल्कुल व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है। पूरा है, अपनेमें है, प्रभु है, विभु है, परसे कुछ लेनदेन नहीं है किन्तु मोहवश परकी ओर अपने उपयोगको भेजकर अपनेको रीता बना लेता है, और जो रीता हो गया, गरीब है, दीन हो गया, आशा करने वाला हो गया सो दुःखी ही होगा। एक ही ढंगका दुःख है सब जीवोंके। परकी ओर आकर्षण, बस यही मूलरूप दुःख है जगतके सब जीवोंको। जैसे मनुष्य चाहे हिन्दू हो, मुसलमान हो, जैन हो, एक तरहसे ही पैदा

होते हैं और एक ही तरहसे मरते हैं। इसी तरह कोई भी जीव हों वे सब एक ही तरहसे दुःखी होते हैं--वह तरह है परपदार्थोंकी ओर अपने उपभोगका आकर्षण हो जाना। सब जीवोंमें इसही प्रकारका दुःख है, चाहे कीड़ा मकौड़ा हो, चाहे देव मनुष्य हो. एक ही किस्मसे यह सारा जीवलोक दुःखी है।

विभिन्न क्लेशोंमें भी मूल पद्धतिकी एकता—जैसे किसीके मरनेकी प्रक्रियामें भले ही पचासों तरहकी घटनाएँ हों, कोई जलमें डूबकर मरे, कोई आगमें जलकर मरे, कोई बीमारीसे मरे, कोई हार्टफेल होकर मरे। कितने ही भिन्न साधन बन जायें परन्तु मरना जीना तो एक ही तरहका है। कोई बड़े लाड़ प्यारके साधनमें पैदा हो और चाहे आफत मानने वाले माता पिताके विकल्पोंके वातावरणसे पैदा हो—पैदा होना और मरना एक ही ढंगसे होता है। इसी तरह दुःखी होना एक ही ढंगका है, उसके रूपक चाहे कितने ही भिन्न हो गए हों। और ये रूपक इतने भिन्न हो गए कि एक मनुष्यके दुःखसे दूसरे मनुष्यका दुःख मिलता जुलता नहीं है। हम और ढंगसे दुःखी हो रहे हैं, आप और ढंगसे दुःखी हो रहे हैं। सबके दुःखोंकी पद्धतियां न्यारी-न्यारी हो गयीं फिर भी मूलमें प्रकार एक ही है। अपने ज्ञानभावको छोड़कर अन्य भावोंमें आकर्षण हुआ। यह अपराध, जितने दुःखी हैं सबके एक समान पाया जाता है।

कर्मफलचेतनाके संन्यासके लिये भगवती ज्ञानचेतनासे अभ्यर्थना—मैं अन्य पदार्थोंको भोगता हूं, इस प्रकारकी चेतना संसारका बीज है, दुःखका कारण है, ऐसा जानकर जो संकटोंसे छूटनेका अभिलाषी हो उस पुरुषको इस अज्ञानचेतनाका प्रलय करनेके लिए जैसे कर्मचेतनाके संन्यासका भाव किया था इसी प्रकार सकलकर्मफलके भी संन्यासकी भावना करे और स्वभावभूत भगवती ज्ञानचेतनाका आराधन करें। भगवान अर्जी न सुने तो इस भगवतीसे अर्जी करो। लोकमें कुछ ऐसी चलन है कि जो बात गुरु जी से कहकर सिद्धिमें न आती हो तो गुरुवानीसे कह देता है बालक। तो भगवानने तुम्हारी न सुनी हो तो इस भगवतीसे अपनी अर्जी करो। कौनसी भगवती? यह ज्ञानचेतनारूप भगवती। जैसे गुरुवानीके जोरसे गुरु भी मान जायेगा, ऐसे ही इस ज्ञानचेतनाके जोरसे यह भगवान भी मान जायेगा। मैं ज्ञायकस्वरूप हूं, ज्ञानको ही करता हूं, ज्ञानको ही भोगता हूं, इस प्रकारका अनुभवन करना, सो ही भगवती ज्ञानचेतनाकी आराधना है।

कर्मचेतना व कर्मफलचेतनाके आशयोंकी तुलना—भैया! कर्मचेतनासे निपटकर अब कर्मफलचेतनासे निपटो। यद्यपि जब कर्मचेतना दूर होती

है तो कर्मफल चेतना भी दूर होती है, फिर भी व्यवहारमें पहिले कर्तृत्व-बुद्धिका परिहार करके भोक्तृत्वबुद्धिका परिहार करना देखा जाता है। परपदार्थको करने का ऊधम विषमता और उद्दण्डता दोनोंसे भरा हुआ है और भोक्तृत्वका ऊधम चाहे उद्दण्डतासे भरा न हो तो भी वह विषमतासे भरा है। जैसे समझदार बदमाश और मूर्ख बदमाश—इन दोनों में से अधिक खतरनाक किसे जानते हो? समझदार बदमाशको। समझदार बदमाश जैसा तो है कर्मचेतना और मूर्ख बदमाश जैसा है कर्मफलचेतना कर्मचेतनामें उद्दण्डताका नाच है और कर्मफल चेतनामें विवशताका नाच है।

कर्मफलसें उपेक्षा—तीन काल सम्बन्धी सर्व प्रकारके कर्मोंको दूर करके यह शुद्धनयका आलम्बन करने वाला ज्ञानी पुरुष मोहको विलीन करके विकाररहित चैतन्यस्वरूप अपने आत्माका आश्रय करता है और कर्मचेतनाका परित्याग करके, कर्मसंन्यासकी भावना बनाकर अब यह ज्ञानी समस्त कर्मफलके संन्यासकी भावना करता है। ये कर्मफल मेरे स्वभावसे उत्पन्न नहीं हुए। ये कर्मरूपी विषवृक्षके फल हैं, औपाधिक भाव हैं, परभाव हैं, ये कर्मविषवृक्षफल, विभाव परिणमन, सुख दुःख आदिक विभाव मेरे भोगे बिना ही निकल जाएँ। मैं तो एक चैतन्यस्वरूप अचल आत्माको ही चेतता हूं। ये कर्मफल आ पड़े हैं, किन्तु यह ज्ञानी अंतरङ्गमें ज्ञानस्वरूपकी भावना बनाए हुए है और ज्ञानस्वरूपकी तीव्र रुचिके कारण वह अपनेमें ऐसा साहस बनाए है कि ये कर्मफल विभाव मेरे भोगे बिना ही खिर जायें।

अविपाकनिर्भरणभावना—खिरना तो इन्हें है ही, क्योंकि ये रागादिक भाव अत्यन्त अशरण हैं, इनका सहाय कोई नहीं है। ये आते हैं मिटनेके लिए। जैसे पतंगी दीपक पर आती है मरनेके लिए, ऐसे ही ये रागादिक विभाव उत्पन्न होते हैं तो मिटनेके लिए ही उत्पन्न होते हैं। किन्तु यह जीव मिटने वालोंसे राग करके अपने आपको बरबाद करता है। ऐ कर्म विषवृक्षफलों, तुम मेरे भोगे बिना ही गल जावो, तुम निकल तो रहे ही हो निकल जावो, पर भोगे बिना निकल जावो, उनमें भोगनेका विकल्प बनाए बिना मेरे ऊपरसे गुजर जावो। जानता है ज्ञानी कि ये कर्मफल अन्तरमें प्रवेश तो कर ही नहीं सकते, सो उनके प्रति संन्यास भावना करता है कि आए हैं महिमान तो मेरे भोगे ही बिना, मेरे द्वारा आदर किए बिना ही निकल जावो क्योंकि ये महिमान हैं। महिमा नहीं जिनकी सो महिमान। जितनी घरके बच्चेकी आप महिमा समझते हैं उतनी आप फूफाके मौसाके बच्चेकी महिमा नहीं समझते घरका है वह

महिमा है, बाहरका है वह महिमान है। ऐसे महिमान विभावोंके प्रति हे विषफलो! मेरे भोगे बिना ही निकल जावो, ऐसी ज्ञानीकी भावना होती है।

ज्ञानावरणकर्मफलसंन्यासभावना—कर्मोंकी १४ प्रकृतियाँ होती हैं। प्रकृति कहते हैं फल देनेकी जातिको। किसी जातिका फल देनेकी प्रकृति पड़ी है, ऐसी प्रकृतिको कर्मप्रकृति कहते हैं। ज्ञानावरणकी ५ प्रकृतियाँ हैं—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण। मतिज्ञानावरणीय कर्मके उदयका निमित्त पाकर यह जीव मतिज्ञान प्रकट नहीं कर सकता। मतिज्ञान बिल्कुल प्रकट न हो, ऐसी स्थिति संसारी जीवकी नहीं है। कुछ न कुछ बना रहता है पर जो नहीं प्रकट हो सकता है उसमें निमित्त है मतिज्ञानावरण कर्मका उदय। इसी प्रकार अन्य ज्ञानावरणोंका भी उन ज्ञानको प्रकट न होने देना यह काम है। अज्ञानरूप स्थिति होना यही ज्ञानावरण कर्मका फल है। होती है ज्ञानके अभावरूप स्थिति, लेकिन अंतरमें निज सहजस्वभावका परिचय कर लेने वाले ज्ञानी पुरुषको अन्तरमें इस चैतन्यस्वभावका ही दर्शन और रमण करनेका यत्न होता है इस कारण उसकी यह भावना होती है कि वह अंतरमें यह निर्णय किए हुए रहता है कि मैं ज्ञानावरणीय कर्मोंके फलको नहीं भोगता हूं किन्तु चैतन्यात्मक आत्माको ही चेता करता हूं।

दर्शनावरणकर्मफलसंन्यास भावना—दर्शनावरणीय कर्मका फल है आत्मदर्शन न होने देना। दर्शनावरणीय कर्मका उदय रहते हुए भी सम्यग्दृष्टिके अन्तरमें आत्माका दर्शन यथासमय होता रहता है और इस बलसे वह अपने अन्तरमें यों निर्णय किए हुए रहता है कि मैं दर्शनावरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता हूं, किन्तु चैतन्यात्मक निज आत्माको ही चेतता हूं।

वेदनीयकर्मफलसंन्यास भावना—वेदनीय कर्मके उदयसे जीवको साता और असाता प्राप्त होती है, साता असाता परिणाममें आश्रयभूत सामग्रीका संयोग होता है। इन सब कर्मफलोंके बीच भी ज्ञानी जीव यह निर्णय रखता है कि मैं वेदनीयकर्मके फलको नहीं भोगता, किन्तु चैतन्यात्मक आत्माको ही चेतता हूं। ऐ विषवृक्ष फल, मेरे भोगे बिना ही निकल जावो।

मोहनीयकर्मफल संन्यास भावना—मोहनीय कर्मोंकी २८ प्रकृतियां होती हैं, तीन तो दर्शनमोहकी प्रकृतियां हैं-मिथ्यात्व परिणाम होना, मिश्र परिणाम होना और सम्यक्त्वमें दोष उत्पन्न होना। इनमें से मिश्र परिणाम और मिथ्यात्व परिणाम की बात जिसके नहीं रही है अथवा तीनों दर्शनविभाव नहीं रहे अन्तरंगन बना हुआ है कि मैं किसी भी कषायके प्रकृति

फलको नहीं भोगता हूं किन्तु मैं चैतन्यस्वरूप आत्माको ही चेतता हूं। जरा कड़ा साहस करके इस ऊधमको दूर करके अन्तरमें प्रवेश करें। वाह्य विकल्पोंसे निकलकर अन्तरमें प्रवेश करने वाला ज्ञानी संत विचार रहा है कि मैं तो चैतन्यात्मक आत्माको ही भोग रहा हूं। कोई न भी भोग रहा हो किन्तु चैतन्य रसके भावनाकी उत्कंठा प्रवल हो तो उस ओर ही दृष्टि होनेके कारण वह कुछ भी भोगता हुआ ऐसा ही मनमें भाव रखता है अथवा यह ज्ञानरसका अनुभव दूर कहाँ है? मैं इस ओर दृष्टि नहीं करता हूं। दृष्टि करता हूं तो मैं इसको ही भोगता हूं।

कार्यकी वदलमें नूतन कार्यकी तत्परता—भैया! भोगनेके निकट होने में भी भोगता हूं, ऐसा प्रयोग होता है। जैसे वहुत देर तक वातोंमें लगने के वाद जव खानेकी इच्छा होती है तो मित्र अपने दोस्तसे कहता है कि अव मैं वात नहीं करता हूं। अव तो मैं खाता हूं। तो खानेकी ओर उपयोग दिया। अभी खा नहीं रहा है, फिर भी वह ऐसा निर्णय वनाए है कि अव मैं गप्पोंमें नहीं हूं, अव तो मैं खाता हूं। तो यह ज्ञानीसंत कभी कभी तो ज्ञानरसको भोग लेता है और कभी स्मरण करता हुआ उसकी ओर दृष्ट होता है कि मैं कहाँ अन्य कुछ भोगता हूं, ऐसा उसके निर्णय वना रहता है। कभी देखा होगा कि ऊपर सुख और भीतर दुःख। कभी अनुभव किया होगा कि ऊपर तो दुःख और भीतर सुख। ऐसी स्थितियाँ आया करती हैं।

अन्तर्भोग व वाह्य वर्तनाके वेमेलीपर एक दृष्टान्त—जैसे कभी कोई इष्ट वियोगकी घटना घट जाय तो रिश्तेदार मित्रजन उसे वड़े प्यारसे वुलाते हैं, गोदमें वैठाते हैं, मस्तक पर हाथ फेरते हैं, वढ़िया-वढ़िया खानेके सामान रखते हैं और उसका दिल वहलानेकी कोशिश करते हैं। ऊपरसे कितना सुखी हो रहा है, ऐसा सुख तो कितना ही खर्च करने पर भी नहीं मिलता है, पर भीतरमें उसके दुःख वना हुआ है। इसी तरह सम्यग्दृष्टि पुरुषके ऊपरसे तो दुःख लगा है, घर गृहस्थीका झगड़ा लगा है, लड़कों को पढ़ाना लिखाना, लड़कियोंकी शादी करना, सभा सोसाइटीके काम करना, देशकी सव वातें हैं, तो ऊपर से तो कितने दुःख लगे हुए हैं, पर अन्तरमें जरासा ही तो मोड़ना है ज्ञानदृष्टि को, मैं तो यह अमूर्त ज्ञान-मात्र हूं, परिपूर्ण हूं, ज्ञानानन्दमय हूं, यों देखकर भीतरमें अनाकुल वना हुआ है। उसमें इतनी हिम्मत है कि कर्तव्य है मेरा परपदार्थोंमें कुछ करनेका, हो गया तो ठीक, न हो गया तो ठीक।

ज्ञानीका ज्ञातृत्व—अज्ञानी जीव की कल्पनामें आता है कि न हुआ ऐसा तो, वह घवड़ा जाता है, फिर क्या होगा? परंतु ज्ञानी पुरुषके

घबड़ाहट नहीं है, हो गया तो ठीक, न हुआ तो ठीक। इष्टवियोग हो जाता है तो ज्ञानी ज्ञाता रहता रहता है, मैं तो पहिले से ही जानता था कि ऐसा होता है, उसे क्लेश किस बातका ? यह ज्ञानी पहिलेसे ही जान रहा है कि जो कुछ परिणमन है यह सब मिटने वाला है, अलग होने वाला है। कोई मर गया तो इसमें कौनसी अनहोनी बात हो गयी ? यह तो होनेकी ही बात है, होकर ही रहेगी। किसीका कुछ समय संयोग है तो अंतमें वियोग होगा ही। इसे कोई नहीं टाल सकता। इस बातको अभीसे जानते रहें तो जब तक जी रहे हैं तब तक सुखी रह जायें ना, यह समय भी दुःखमें क्यों निकले ? ज्ञानी जानता है कि मैं कर्मोंके फलको नहीं भोगता हूं किन्तु अपने चैतन्यात्मक आत्माको ही चेतता हूं।

ज्ञानतीर्थमें क्वचित् संगम—क्रोध आता हुआ भी अन्तरमें ज्ञान और शांति बनी रहे, ऐसी विरुद्ध दो नदियोंका संगम इस ज्ञानतीर्थमें ही हो सकता है। क्रोध आए फिर भी उस क्रोधमें परका अनर्थ न कर सके, ऐसी सज्जनता इस ज्ञानी पुरुषमें ही रहा करती है। अज्ञानी तो ऐसा क्रोध करेगा कि किसी कारण क्रोध कम हो रहा हो तो यह कोशिश करता है कि क्रोध कम न हो, नहीं तो मैं इसका नाश ही न कर सकूँगा। क्रोध और अन्तरमें शांति, इन दोनोंका मेल ज्ञानतीर्थमें होता है। मान और अन्तर में विनय, इन दोनोंका संगम किसी ज्ञानीमें होता है। अभी अन्तरकी सरलता और बाहरका मायाचार, इन दोनोंका भी मेल होता है कि नहीं ? होता है। किसीके अन्तरमें तो यह बात बसी है कि मैं सर्वपरिग्रहोंको त्यागकर ज्ञानस्वरूप आत्मामें ही रहूं, भीतर तो यह आशय बना है और ऊपर ये सब मन, वचन, कायकी चेष्टाएँ ऐसी बनी हैं कि भीतरके अभिप्रायके विरुद्ध हैं। या यों कहो कि ज्ञानमें बात हितपूर्ण बसी है और करता कुछ और है। यह तो है ज्ञानीका अवशताका मायाचार। अन्दरमें यह बात बसी है कि मैं शुद्ध ज्ञानरसमें मग्न हो जाऊँ और ऐसी बात बाहर करता नहीं। विवशतामें ऐसा आचरण बनाता है कि कमाये, घर रहे, बात करे और उनमें मन है नहीं, मन लगा है निजप्रभुताकी जगह और कर रहा है, बोल रहा है कुछ और तो यह भी एक बड़ा अद्भुत संगम है।

रुचि और भोगकी मैत्री—अंतरमें निर्विकल्पता और बाहरमें आवश्यक वृत्ति संचय—ये दो बातें प्राक्पदवीमें किसी विरले ज्ञानी पुरुषमें एक साथ संगत हो जाती हैं। इसी बलपर तो ज्ञानीके यह निर्णय है कि मैं मोहनीय कर्मोंके फलको नहीं भोगता हूं, किन्तु मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्माको चेतता हूं अथवा भोगनेका काम छोड़कर चेतनेके कामकी तैयारीमें

ऐसा कहा जाय कि मैं कर्मफलको कुछ नहीं भोगता हूं; मैं तो चैतन्यस्वरूप आत्माको अनुभवता हूं। प्रोग्राम बदल गया, अब गप्पोंमें नहीं बैठता हूं, अब तो मैं भोजन करता हूं। जैसे दो कामों में एकसे निवृत्ति और एकमें प्रवृत्ति होती है। जब नूतन कार्यका उद्यम होता है तब भी यह सब बोला जाता है और यह ज्ञानी तो कर्मफलके क्षेत्रसे परे अन्तरमें बोझरहित ज्ञानरसका स्वाद लिये जा रहा है। मोहनीय कर्मोंमें हास्य, रति, शोक, भय, जुगुप्सा ये सब प्रकृतियाँ हैं, इन प्रकृतियोंके फलमें हास्य शोक आदि रूप परिणमन भी होता है, किन्तु उन सब स्थितियोंमें इस ज्ञानी के यह निर्णय बना है कि मैं हास्य शोक आदि फलोंको मैं नहीं भोगता हूं किन्तु ज्ञानरसात्मक निजतत्त्वको अनुभवता हूं।

ज्ञानीकी अन्तश्चेतना—दो मित्र बातें कर रहे हों, एकसे घनिष्ट मित्रता हो और एकसे साधारणबोल चाल हो तो साधारण बोलचाल वाला बड़ी-बड़ी बातें सुना रहा है पर यह तो मैं नहीं सुनता हूं, मैं तो सुन रहा हूं दूसरे घनिष्ट मित्रकी बात और सुन रहा है दोनों जगह, शब्द कहाँ जायें? कानमें तो दोनों मित्रोंकी बात आ रही है मगर घर कर रही है घनिष्ट मित्रकी बात और साधारण बोलचाल वालेकी बातको सुन ही नहीं रहा है। इसी तरह ये कर्मफल भी ज्ञानी जीव पर आ रहे हैं और अन्तरमें ज्ञानरसका पान भी किया है ना इसने, उसका स्मरण बना है। तो यह ज्ञानी कर्मफलको नहीं भोगता किन्तु ज्ञानरसको चेतता है।

आयुकर्मफलसंन्यासभावना—एक आयुकर्म होता है जिसका फल यह है कि आत्मको शरीरमें रोके रहना, यह आत्मा इस शरीरमें रुका हुआ है, शरीरके बंधनमें पड़ा हुआ है, फिर भी यह ज्ञानी जीव जिसका कि उपयोग नित्य निरञ्जन सहज ज्ञानस्वरूपमें लगा है उस ओर ही जो रहने का उत्सुक है तो जिसका ख्याल है उसका भोग है। शरीर है और इसमें बँधा हुआ है इस ओर उसका ध्यान नहीं है और न ऐसा अनुभवन करने का उपयोग कर रहा है। वह ज्ञानी तो आयुकर्मके फलको नहीं भोग रहा है किन्तु चैतन्यरसात्मक आत्मतत्त्वको चेतता है।

नामकर्मफलसंन्यासभावना—नामकर्मके फलमें अनेक प्रकारके शरीरों की रचना होती है। शरीरकी कितने प्रकारकी रचना है यह क्या समझाना है? यहीं देख लो जितने दिख रहे हैं इन सबकी नाक आँखोंके बीच और मुँहके ऊपर ही तो लगी है, एक स्थानपर ही है। पर किसी की नाकसे किसीकी नाक नहीं मिलती। खूब देख लो। तो जब यह नाक ही किसीकी नाकके समान नहीं दिख रही है तो फिर यह सारा शरीर कैसे समान होगा और फिर पशु पक्षी, कीड़ा, मकौड़ा, पेड़, इन सबके संस्थान

विभिन्न प्रकारके हैं, इनका रस, इनका स्वरूप, इनका वर्ण आकार प्रकार ढाँचा ये सब भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं। ऐसे भिन्न भिन्न शरीर होना नाम कर्मका फल है। पर होने दो खूब फल, मैं तो यह शरीर ही नहीं हूं। मैं तो एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं और ऐसा रुचिपूर्वक उपयोग भी इस स्वभाव की ओर जाय तो लो नामकर्मके फलको अब नहीं भोग रहा है। वह तो चैतन्यरसात्मक आत्माको ही चेतता है। अथवा यह सब कर्मफलचेतना संन्यासकी भावना की जा रही है, मैं इसे नहीं भोगता हूं, मैं तो यह करता हूं, अपने आपको चेतता हूं।

गोत्रकर्मफलसंन्यासभावना—गोत्र कर्मका फल है लोकमान्य अथवा लोकनिन्द्य कुलमें उत्पन्न होना। लोकव्यवस्थासे अथवा अपने आचरण के संस्कारसे उत्तम अथवा नीच कुल होता है। लेकिन जब मैं शरीर ही नहीं हूं और किसी प्रकारकी पोजीशन भी मैं नहीं हूं। मैं तो ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं, तो वह गोत्रकर्मके फलमें क्या उपयोग लगायेगा ? वह तो आत्मरसकी ओर चलेगा। मैं गोत्रकर्मके फलको नहीं भोगता हूं, किन्तु ज्ञानरस निर्भर आत्मतत्त्व को चेतता हूं। कर्मोंके फलका विस्तार बहुत अधिक है, एक-एक कर्मका फल समक्ष रखकर उससे संन्यासकी भावना बनाना चाहिए।

अन्तरायकर्मफल संन्यासभावना—८ वां कर्म है अंतराय कर्म। अंतराय-कर्मके फलमें दान लाभ भोग आदिकी वृत्तिमें अंतराय होते हैं। दान देने का परिणाम न हो सके, यह दान अन्तराय का फल है। दानी पुरुष मनमें कुछ खर्च करनेका भाव रखकर भी उसे हाथसे देते नहीं बनता और यह कह देंगे कि रखे हैं रुपये, तुम अपने हाथसे देवो। यह गप्पकी बात नहीं कह रहे हैं। ऐसे पुरुष होते हैं। गुरुजी सुनाते थे कि एक भाई ऐसे थे, वे यही कहते थे कि भाई ले जावो वे रखे हैं, पर हाथसे देते नहीं बनता। खैर, वहाँ भी दानान्तराय जरा कमजोर हो गया, पर दानान्तरायके उदयमें तो भाव ही यह नहीं होता कि मैं कुछ त्याग करूँ। यह विभाव है, इसी प्रकार लाभ, भोग, उपभोग आदिके अंतरायका फल है। विभावके फलको कुछ मैं नहीं भोगता हूं अर्थात् इन विभावोंको मैं त्यागता हूं। मैं तो एक चैतन्य रसात्मक आत्मतत्त्वको चेतता हूं।

भैया ! एक-एक करके समस्त कर्मोंके फलके त्याग होनेसे इस मुझ को चैतन्यचिन्ह परमात्मतत्त्वके दर्शन सुगम होते हैं। जैसे पुराणोंमें राजाओंकी, चक्रवर्तियोंकी विभूति, नगरी, रानियोंकी बड़ी प्रशंसाके जिसमें बड़े अलंकारोंमें अनेक पेज भर दिए गए हैं और कामकी बात, त्यागको बात, दीक्षाका प्रसंग बतानेमें दो एक पन्ने ही भरे हैं परंतु इस

सब शृङ्गार और वैभवका वर्णन अब दीक्षाके प्रसंगमें बड़ी मदद दे रहा है। इतना अद्भुत वैभव जब सुन रखा है और फिर एक ही शब्दमें यह वर्णन आ जाय कि लो अब चक्रवर्तीने सारा त्याग कर दिया। तो इस शब्दकी बड़ी महिमा बनती है। कैसा वैभव था जिसका त्याग किया ? कर्म फलको विस्तारपूर्वक यदि पढ़ा जाय, सुना जाय और फिर ज्ञानीके कर्म फलके संन्यासकी भावना कही जाय तो इसमें स्फूर्ति और अधिक आती है। ओह, ज्ञानी संत ऐसे विकट कर्मफलसे अलग रहकर ज्ञानस्वभावका संचेतन किया करते हैं।

ज्ञानानुभूतिमें समय व्यतीत करनेकी आकांक्षा—कर्मफलके त्याग होनेके परिणाममें ऐसी समस्त विभाव क्रियावोंकी निवृत्ति हो, ज्ञानातिरिक्त विभावके संन्यासकी स्थिति आए तो ऐसी स्थितिमें एक चैतन्यचिन्ह चेतनको चेतनेसे उस समयमें जो आनन्दरसका अनुभव हो उस अनुभवके बाद जब फिर कुछ ज्ञानविकल्पमें अथवा अन्य चर्चावोंमें आता है तो उनसे भी हटने की कोशिश करके यह सोचता है कि ओह जैसे क्षण मेरे अभी व्यतीत हुए थे, ऐसा ही समय मेरे अनन्त काल तक रहे, मुझे अन्य विकल्प न चाहियें।

ज्ञानीके आत्मसंचेतनकी उत्सुकता—यह जीव अज्ञानवश कर्मोदयजन्य स्थितियोंमें अपनी कल्पना बनाकर कर्मफलोंको भोग रहा था। जब अपने यथार्थस्वरूपका परिचय हुआ, तब यह मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूं, ज्ञानके कर्मको करता हूं और ज्ञानके फलको भोगता हूं—इस प्रकारका जब निर्णय हुआ तो सभी प्रकारके कर्मफलको वह त्यागकर अपने आपमें अपने ज्ञानस्वरूपकी चेतनाका उद्यमी होता है। कर्मोंके फलमें अनेक बातें हैं पर कुछ बातों पर दृष्टि देकर यह समझनेका यत्न करें कि क्या जीव वास्तवमें ऐसे कर्मफलको भोगा करता है ? अंतराय कर्मका उदय हो, चीज न मिली, ठाठबाटका आराम न मिला, अरे मिलता तो भी जीव निराला था और न मिलता तब भी सबसे निराला है। उस स्थितिमें कल्पना बनाना, ये सब अज्ञानकी बातें हैं। मैं इसको नहीं भोगता हूं, मैं तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्माको ही भोगता हूं। जैसे कहते हैं ना कि हम को यह नहीं खाना है, हम तो यह खाते हैं, हमको वहाँ नहीं जाना है, हम तो यहाँ जाते हैं। ऐसी ही बात कर देना है इस ज्ञानी जीवको कि हम कर्मफलमें नहीं भोगते हैं, हम तो ज्ञानमात्र आत्माको चेतते हैं।

अनात्मपरिहार और आत्मसंचेतन—भैया ! यश भी और अयश भी एक बुरी बला है। ये भी कर्मके उदयसे हुआ करते हैं। यश क्या चीज है कि जगतके मोही जीवोंने कुछ भला भला गा दिया। ओ कि वास्तवमें

जीवकी निन्दा है। क्या यश फैलायेगा कोई, यह बड़ा परोपकार करता है। तो क्या जीवका परपदार्थोंमें कुछ करनेका स्वभाव है? उल्टी-उल्टी बातें दुनिया कहती है। पर कुछ सुहावनी उल्टी हैं और कुछ असुहावनी उल्टी हैं। ज्ञानी जीव जानता है कि मैं ज्ञानातिरिक्त अन्य कुछको नहीं करता, न भोगता। ये सब कर्मविपाक हैं; इनको मैं नहीं भोगता हूं। मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वको चेतता हूं। जैसे पंगतमें बहुत सी चीजें परोसी जाती हैं तो उनमें से जिन चीजोंका स्वाद अच्छा न लगे उनको हमें नहीं खाना है, हमें तो कलाकंद, वर्फी आदि नहीं खाना है, हमें तो बावर ही खाना है। पत्तलमें पड़ा है तो पड़ा रहे, हमें क्या हर्ज है? ऐसी ही विलक्षण ज्ञानीकी महिमा है। इस उपयोगभूमिकामें, इस उपयोग पत्तल में सारी चीजें परोसी हुई हैं, इस ज्ञानी जीवको जिनमें स्वाद नहीं आ रहा है, ऐसे जो कर्मफल हैं उनको छोड़ता है। कुछ हो इनका, मैं तो इस ज्ञानमात्र भावको ही चेतता हूं।

यश और अयशकी बला—ये यश और अयश जिनमें जगतके जीव आसक्त हो रहे हैं ये क्या हैं? बला हैं। बला और भला—इनके परस्पर विरुद्ध अर्थ हैं। भलाका उलटा बला। इसमें मात्र संक्लेश ही है। कांतिमान् शरीर हो गया। यह भी कर्मका ही फल है। अब अज्ञानी जीव तो देहको निरख-निरख कर खुश होता है। बड़ा अच्छा शरीर मिला, बहुत सुन्दर हूं। ज्ञानी जीव जानता है कि यह तो इल्लत लगी है, मेरा तो देहरहित स्वभाव है। आत्मीय वास्तविक आनन्दको भोगने का मेरा स्वभाव है, मैं इनको नहीं भोगता हूं, मैं तो एक ज्ञानमात्र भावको चेतता हूं। कुछ दुनियामें पोजीशन बन जाती है, शकल सूरत भी न हो तो भी लोग प्रीति करते हैं। और कोई शकलसूरत अच्छी है फिर भी नफरत करते हैं। यह सब कर्मोंका ही तो खेल है। मैं तो एक ज्ञानमात्र निज तत्त्वको चेतता हूं।

ज्ञानीकी आकांक्षा—भैया! यश अयश ही एक क्या अनेक कर्मफल हैं जिन कर्मफलोंका इस ज्ञानी जीवने त्याग किया और इसके फलमें समस्त जो अन्य क्रियाएँ हैं उनके विहारको खत्म किया, ऐसी स्थितिमें जब किसी कर्मको अपनाया नहीं जा रहा है, किसी फलको भोगनेकी बुद्धि नहीं की जा रही है। केवल निर्विकल्प सहज आत्मानन्दको भोगनेका भाव है ऐसी स्थितिमें जो आत्मतत्त्वका दृढ़ अनुभव है, अनुपम आनन्द है, उसको भोगने के बाद जब थोड़ा सा भी चिगता है तो ज्ञानी बड़ा खेद करता है। अरे मुझे तो वही क्षण प्राप्त हो जिस स्थितिमें अभी था। उसी स्थितिमें रह कर मेरा समय व्यतीत हो अनन्तकाल तक ऐसा ही मेरा

परिणमन चले ऐसी ही स्थिति रहे।

वर्तमान व सर्व भविष्यमें रम्य आनन्दका पात्र—पूर्व परिणामकृत जो विषवृक्ष हैं, द्रव्य कर्मके बन्धन हैं उन विषवृक्षोंके फलको जो ज्ञानी जीव नहीं भोगता है, किन्तु अपने आपमें तृप्त रहता है वह ऐसे उक्त आनन्दको प्राप्त होता है जो वर्तमान कालमें भी सुख देने वाला है और भावी काल में भी सुख देने वाला है ऐसे अनुपम आनन्दकी दशा प्राप्त होती है। जैसे लोगोंके प्रति सद्व्यवहार रखना वर्तमानकालमें भी आनन्दका कारण है और आगामी कालमें भी आनन्दका ही कारण है व्यवहारमें, इसी प्रकार परमार्थमें कर्म और कर्मफलसे विविक्त निज ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वका अनुभवन कर लेना वर्तमान कालमें भी आनन्दका करने वाला है और आगामी कालमें भी आनन्दका करने वाला है। ये संसारके सुख, वर्तमान कालमें तो सुखकी अवस्थाके करने वाले होते हैं पर भविष्यकालमें इनसे क्लेश ही बनते हैं लेकिन मोही जीव इन विषयसुखके कटुफलोंको भोगते जाते हैं और फिर भी छोड़ना नहीं चाहते।

अनात्मभावकी बलि—भैया! कर्मफल चेतनासे जो निवृत्त हो गया है वह शुद्ध ज्ञानचेतनारूप ही चेतता रहता है। उसमें उपाय है निश्चय कारणसमयसारका आलम्बन, जो आलम्बन साक्षात् उपादेयभूत कार्य-समयसारको उत्पन्न करने वाला है, उसकी पद्धति है चिदानन्दस्वभावी शुद्ध आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान व श्रद्धान् होना और वैसे ही अनुचरण होना ऐसे अभेद रत्नत्रयरूप निर्विकल्प समाधिसे जो सहजानन्द प्रकट होता है उसके अनुभवनसे यह मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रकट होता है। इसके लिए बड़े बलिदानकी आवश्यकता है। किसके बलिदानकी? जो अपने में विषयकषायकी इच्छा घर किए हुए है उसकी बलिकी आवश्यकता है, त्यागकी आवश्यकता है। त्यागका ही नाम पूजन है, त्यागका ही नाम प्रेम है। त्याग बिना प्रेम भी प्रकट नहीं होता, त्याग बिना पूजा भी प्रकट नहीं होती।

कल्याणकी त्यागपर निर्भरता—कोई कहे कि मित्रता तो करें, पर रहें कंजूस, पैसा भी खर्च न करना चाहें तो उसका प्रेम भी नहीं कहा जाता है। सब लोग जानते हैं त्याग बिना प्रेम नहीं होता, त्याग बिना पूजा भी नहीं बनती है। त्याग बिना न प्रीति है, न पूजा है, न मोक्षमार्ग है, न मोक्ष है। तो जो ये विषय कषाय इस कारणप्रभुपर हावी हो रहे हैं इन विषय कषायोंका बलिदान करना एक बहुत बड़ा काम पड़ा है तीन लोक, तीन काल सम्बन्धी जो मन, वचन, कायसे करे, कराये, अनुमोदे, ऐसे परद्रव्यों के आलम्बनसे उत्पन्न हुए जो शुभ अशुभ संकल्प हैं, इन संकल्पोंका

विनाश करना है और जो देखे सुने, अनुभवे, भोगे, स्मरणरूप आकांक्षा रूप जो निदानोंका जाल है उस जालका वलि करना है। इतनी तैयारी की जाय तव जाकर प्रभुके दर्शन होंगे।

अज्ञान व ज्ञान दशाकी परिस्थितियां—परद्रव्योंको अपनानेका नाम भी लोभ कषाय है, जिसको रंगकी उपमा दी गयी है। इसमें रंगा हुआ प्राणी अपने यथार्थस्वरूपको संभाल नहीं सकता। ऐसे शुद्ध ज्ञानचेतनाके आलम्बनसे यह मोक्षार्थी पुरुष कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका संन्यास कर रहा है। ज्ञानी जीव कर्मसे भी विरक्त है और कर्मफलसे भी विरक्त है। इस कारण अज्ञानचेतना उसके नहीं रहती है और अपने स्वभावसे जो ज्ञानचेतना है उसमें सहज आनन्दकी अनुभूतिके साथ यह रमता है। जव रमता है तव उस समयकी सीमासे पूर्व व उत्तरकालके इस जीवके फैलावके २ भाग हो जाते हैं, इससे पहिले तो इसका विषरस अटका था और इसके वाद कुछ वह जीव अमृतपान कर रहा है। ऐसे ज्ञानी संतके प्रति प्रमोद भावना करके छोटे मोटे भक्त उपासकोंके आशीर्वादरूप वचन निकलते हैं कि लो अव यह ज्ञानी सदाकाल इस ज्ञानामृतका ही पान किया करें।

अज्ञानचेतनाके संन्यासका उद्यम—अज्ञानी अज्ञानचेतनाका तो त्याग करे और ज्ञानी होकर ज्ञानचेतनाका विकास करे। ज्ञानातिरिक्त भावमें 'यह मैं हूं' ऐसी वुद्धिका नाम अज्ञानचेतना है। इसके विनाशके लिए ज्ञानका भाव लें। मैं ज्ञानमात्र भाव हूं, ज्ञानातिरिक्त भाव मैं नहीं हूं, ज्ञानातिरिक्त भावको मैं करता हूं ऐसे परिणामका नाम कर्मचेतना है। उस कर्मचेतनाके त्यागके लिए ऐसा भाव वनाएँ कि मैं ज्ञानमात्र हूं, अन्य कुछ नहीं हूं, इसही रूप परिणमता हूं। अपने आपके अन्तरमें विराजमान शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका जव तक दर्शन नहीं होता है तव तक इस जीवके वारेमें सैकड़ों अटकलवाजियां लगायी जा सकती हैं। मैं यों हूं, मैं यों हूं। है वह एक शुद्ध ज्ञायकस्वरूप, पर उसका परिचय न होनेसे इस अपने आत्मतत्त्वको भिन्न-भिन्न रूपोंमें यह सोचा करता है।

ज्ञानीका सुगम ज्ञानवैभव—भैया! पदार्थोंका स्वतंत्रस्वरूप जानकर अव सव पदार्थोंसे अपने ज्ञानस्वरूपको पृथक् करो और इस ज्ञानमें ही निश्चल ठहरो, चीज कठिन है, मगर ज्ञानभावनाके अभ्याससे यह वात अत्यन्त सरल हो जाती है। जैसे दीन भिखारियोंके, करोड़पतियोंके आरामपर आश्चर्य होता है और सवको कठिन समझते हैं पर करोड़पतियोंके लिए तो यह सव उनके वायें हाथका खेल है। उन्हें अपने वैभव में आश्चर्य नहीं होता और न कुछ कठिन मालूम पड़ता है। ऐसे ही

में आश्चर्य नहीं होता और न कुछ कठिन मालूम पड़ता है। ऐसे ही अज्ञानी जीव ज्ञानियोंके ऐसे चमत्कारको अनुभवनसे अचरजकारी वात जानते हैं और कोई-कोई तो यों मानते हैं कि ये जो शास्त्रकी वातें हैं, वे शास्त्रमें ही रहनी चाहियें, शास्त्रसे अलग न करनी चाहिएँ। लेकिन ज्ञानी जीवको ये सव यत्न, ये सव अनुभवन सुगम मालूम होते हैं। उन्हें इसमें अचरज नहीं होता। वल्कि पहिले जो अनन्तकाल वीत गया वह व्यर्थमें वीत गया, इस पर उसे अचरज होता है।

ज्ञानीके भ्रमकी समाप्ति—जैसे कंजूस लोग उदार पुरुषकी चेष्टा पर अचरज करते—कैसे दे डालते हैं, कैसे परका उपकार कर डालते हैं, उदार पुरुषोंपर कंजूस पुरुषोंका अचरज होता है। ज्ञानी जीवको अपने आपके मार्गमें वढ़नेका कोई अचरज नहीं और न कठिनता होती है। सव वस्तुवोंसे भिन्नपनेका जव निर्णय हो गया तो ऐसा ही ज्ञान अव ज्ञानीके निश्चलरूपसे अवस्थित रहता है। अव सव परभावोंसे और परपदार्थोंसे भिन्न किया गया यह ज्ञान कहीं भ्रमको प्राप्त नहीं होता है। यह ज्ञान ज्ञानस्वरूप ही है। कोई वहकाए किन्हीं परपदार्थोंमें यहाँ है तेरा ज्ञान, यहाँ है तेरा आनन्द, यहाँ है तेरे विश्रामका घर, लेकिन ज्ञानी जीव भ्रम को प्राप्त नहीं होता।

अपना सव कुछ अपने आपमें—भैया! अपनी दुनिया जो कुछ है वह अपने आपके आत्मप्रदेशमें है, इससे वाहर अपनी दुनिया नहीं है। जितना अपने आपको भूल रहे हैं वह अपने आपके प्रदेशमें जैसी कम्पनी चल रही है, जैसी खटपट हो रही है उसका फल मिलता है, वाहरकी खटपटका फल नहीं मिला करता है। जव कभी कुमार्गसे हटकर सुमार्गमें लगेगा, अज्ञानसे हटकर ज्ञानमें लगेगा, संसारसे हटकर मुक्तिमें जायेगा वे सव अपने आत्मप्रदेशके अन्दरमें ही होने वाली वातें हैं। अपना धर्म अपना अधर्म पुण्य पाप कुछ भी चीज अपने आत्मप्रदेशसे वाहर नहीं है वाहर तो पदार्थका भी भाव नहीं है। जैसे लोग कहते हैं कि आज सोने का क्या भाव है, तो सोनेका भाव जानना है तो सोने के अगल वगल देखें। क्या उसमें कहीं भाव लिखा मिलेगा? नहीं। उसका अर्थ यह है कि सोनेके वारेमें लोगोंके क्या भाव हैं?

परकी कीमत अपना भाव—कोई पूछे कि गेहूंका क्या भाव है? तो गेहूं तोड़कर खूव देखलो, कहीं शायद आटेमें भाव निकल आए। अरे उसका अर्थ यह है कि गेहूं के वारेमें आज लोगों क्या ख्याल है? गेहूं का क्या भाव है, इतना सीधा तो अर्थ है। पत्थरका क्या भाव है? अरे प त्थरके वारेमें लोगोंका यह ख्याल है कि यह मामूली चीज है, सो कितने

जाता है। कभी-कभी सोनेके भावसे अनाजका भाव बढ़ जाता है। मानो दो पुरुष यात्राको चले या परदेश धन कमानेके लिए चले। तो एक पुरुष थोड़ा-थोड़ा हीरा, रत्न, जवाहरात, सोना चाँदी की गठरी बनाकर चला और एक थोड़ेसे चने की गठरी लेकर चला। जंगलमें रास्ता भूल गये। भूख सताने लगी। बिल्कुल मरणहार होने लगे तो उस समय रत्न वाला कहता है कि भैया मेरे सब रत्न ले लो, पर मुझे मुट्ठी भर चने दे दो। अब बतावो वहाँ चनोंका क्या भाव है ? क्या कहीं चनेमें भाव खुदा है ? अरे चनेके बारेमें लोगोंके क्या ख्याल हैं, कितना आदर है, उस आदरका नाम भाव है। तो जितनी जो कुछ दुनिया है हमारी वह हमारे आत्माके अन्दरमें है, इससे बाहर हमारा कुछ नहीं है।

स्वसंचेतनरूप महाकर्तव्य—भैया ! अज्ञानसे निवृत्त होना व ज्ञानमें लगना है, सीधा तो काम है। अपने आपका सही ज्ञान हो और उस ज्ञान रूप अपनेको बनाए रहें इतना ही मात्र काम है। पर इतनासा काम नहीं किया जाता और बड़े कठिन काम किए जाते हैं। दूसरोंको खुश रखना क्या हमारे हाथकी बात है ? दूसरे अपने कषायके अनुकूल अपनी कल्पना करके अपना परिणमन करते हैं, उन पर मेरा कहाँ अधिकार है कि मैं उनको अपने मन माफिक बना लूँ ? जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब बाह्य-पदार्थविषयक कल्पनाओंसे विमुख होकर अपने आपके ज्ञानस्वरूपको चेतना चाहिए। आखिर इसमें ही आत्माको शरण मिलेगा।

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण जाणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥३६०॥

शास्त्र और ज्ञानमें व्यतिरेक—शास्त्रज्ञान नहीं होता है क्योंकि शास्त्र कुछ जानता नहीं है। शास्त्रका मतलब है द्रव्यश्रुतका। द्रव्य श्रुत जो कि दो भागोंमें विभक्त है—एक अक्षरात्मक स्वरूप और दूसरा शब्दात्मक स्वरूप। ये दोनों प्रकारके स्वरूपोंमें ज्ञान नहीं है क्योंकि ये जानते कुछ नहीं हैं। अक्षर हैं वे भी पौद्गलिक रचनाएँ हैं, जो शब्द हैं वे भी पौद्-गलिक रचनाएँ हैं। इस कारण यह अन्य है और शास्त्र अन्य है। ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। यह व्यवहारकी भाषा है और निमित्त वाली बातका कथन है कि शास्त्रसे ज्ञान होता है क्योंकि शास्त्रका अध्ययन करते हैं तो उसका निमित्त पाकर जीवको ज्ञान होते देखा जाता है। इतने मात्र निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे बढ़कर व्यामोहमें यह मान लिया जाता है कि शास्त्रसे ही ज्ञान होता है। वहाँ अपने आपका महत्त्व ज्ञानस्वरूप विदित नहीं होता तो वह एक मिथ्याभाव है।

ज्ञाताके आश्रयसे ज्ञानकी व्यक्ति—अक्षरात्मक श्रुतसे ज्ञान नहीं होता है और उसही प्रकार बोले गए शब्दोंसे ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान तो ज्ञानशक्तिके आश्रयमें हुआ करता है। इस प्रकरणमें इस अध्यायमें शुरूसे ही बताते आये हैं कि यह ज्ञानी तो सर्वविशुद्ध स्वरूप वाला है। अपने आपके स्वभावसे यह ज्ञाता द्रष्टा है। इसका यह ज्ञानित्व किसी परपदार्थसे नहीं आता। जिस पदार्थमें जो कला है वह उस पदार्थकी स्वाभाविक देन है। कोई परपदार्थ किसी अन्य पदार्थमें अपनी कला नहीं चलाता है। ऐसे अपने-अपने परिणमनसे परिणमते हुए इस शास्त्र और ज्ञानके सम्बन्धमें बताया जा रहा है कि शास्त्र तो अचेतन है और ज्ञान चेतन है। इस कथनसे कहीं निरादरता जैसा भाव नहीं लेना है कि आगम तो अचेतन है, वह कुछ जानता नहीं है। स्वरूप बताया जा रहा है, पर जो शास्त्रको पूजना है वह निमित्तदृष्टिसे पूजना है।

दृष्टान्तमें स्थापनाजिन व्यवहारदृष्टिसे—जैसे मूर्तिका स्वरूप कैसा है? हम सीधा यों कहते हैं कि यह आदिनाथ भगवान बैठे हैं और यह नेमिनाथ भगवान बैठे हैं। खण्डवा मंदिरमें पीछे प्रतिमाओंका बहुत बड़ा समुदाय है, तो वहां एक छोटा बच्चा हमें दिखानेके लिए जा रहा था। कहता जाता था कि देखो यह हमारे बड़े भगवान बैठे हैं। यह हमारे छोटे भगवान बैठे हैं और यह हमारे बिल्कुल छोटे भगवान बैठे हैं। तो क्या मूर्तिके मापसे भगवान भी छोटे बड़े होते हैं? तो बात क्या है वहाँ? मूर्ति ही भगवान नहीं है। मूर्ति तो अचेतन है, पाषाण या धातुसे बनती है। तो इतनी बात सुनकर कोई श्रद्धालु बुरा मान जाय, अरे देखो यह तो अविनयकी बात कह रहे हैं। अरे भाई यहाँ अविनय और अपूज्यता की बात नहीं है किन्तु वस्तुस्वरूपकी बात लेना। वहाँ भगवान की स्थापना है और है यह साकार स्थापना। ऐसी मुद्रामें कल्याणविधिसे जिसकी प्रतिष्ठा होती है वह स्वयं भगवान नहीं है, किन्तु भगवानकी स्थापना की हुई है। उन्हें स्थापनाजिन बोलते हैं भावजिन नहीं बोलते। यह तो स्वरूपकी बात है।

अक्षरात्मक व शब्दात्मक श्रुतमें ज्ञानत्वका अभाव—शास्त्र किसका नाम है? यदि पोथी पत्रोंका नाम है और जो अच्छे अक्षरोंसे लिखा हो, छपा हो, उनका नाम है तो उनमें परीक्षण करलो, वे कुछ बोलते भी हैं क्या? हम यदि किसी लकीरका उल्टा अर्थ लगाने लगें तो क्या वह शास्त्र हमें चाँटा भी मार सकता है कि तू उल्टा अर्थ क्यों लगा रहा है? शब्दरूपमें आगत पुद्गल भी अचेतन है। कोई पुरुष शास्त्रकी बात सुना रहा है, शब्द बोल रहा है तो वे शब्द यदि शास्त्र हैं तो वे शब्द भी अचेतन हैं,

भाषावर्गणाके परिणमन हैं।

अध्यात्ममें ज्ञानज्ञातृत्व की प्रतिष्ठा—यदि भावश्रुत को श्रुत कहते हो, जो अन्तरमें श्रुतविषयक ज्ञान होता है उस ज्ञानका नाम यदि श्रुत कहते हो तो उसका ज्ञान नाम कहा जा सकता है पर जिस अध्यात्ममें ज्ञानस्वभावकी प्रतिष्ठा की जा रही हो उस प्रकरणमें ज्ञानस्वभावको चेतनेमें प्रवर्त रहा जो ज्ञान है उसे ही ज्ञान कहा जा सकता है और जो ज्ञान स्वभावको न चेते, उसके उन्मुखताकी तैयारी जहाँ नहीं, रहती परके आकर्षणमें चलता है वह ज्ञान नहीं कहा जाता।

ज्ञानका निर्विवाद जाननस्वरूप—ज्ञानमें कभी कोई लड़ाई होती है क्या? नहीं। ज्ञान लड़ाईका कारण नहीं है किन्तु देखा जाता है कि प्रायः ज्ञान पर ही लड़ाइयाँ हुआ करती हैं। अभी कोई चार समझदार बैठे हों और चर्चा कर रहे हों तो उनमें इतनी जल्दी लड़ाई हो जाती है कि जैसे बच्चोंमें लड़ाई हो जाती है। कहीं चार पांच बच्चे खेलते हों तो जब तक उनमें लड़ाई नहीं हो जाती तब तक वे खेल छोड़कर घर नहीं जाते। उनका खेल तभी समाप्त होता है जब उनमें कुछ हाथापायी हो जाय। ऐसा हुए बिना उनका खेल ही नहीं पूरा होता है। ऐसे ही चार ज्ञान वाले बठे हों, चर्चा हो रही हो तो चर्चाके प्रारम्भमें ही तो लड़ाई होती नहीं है खेल खेलनेके शुरुवातमें तो लड़ाई होती नहीं है किन्तु कुछ समय खेल चलने दो, कुछ समय चर्चा चलने दो, थोड़ी ही देरमें गरमागरमी होने लगी और रूपक लड़ाईका बन जायेगा। अच्छा, लो ज्ञानसे लड़ाई हुई। क्या ज्ञानसे लड़ाई होती है? नहीं होती है। जिस भावके कारण लड़ाई हो वह भाव ज्ञानभाव नहीं है, अज्ञानभाव है।

स्वसंवेदी ज्ञानका ज्ञानत्व—यह भावश्रुत सम्यग्ज्ञान है क्योंकि वह मोक्षमार्गके अनुकूल दृष्टि बनाने की बात कहता है और उस ओर लगने की प्रेरणा करता है। इस कारण वह ज्ञान है, पर परमार्थतः जो ज्ञान ज्ञान को चेते उस ज्ञानका नाम ज्ञान है और जो न चेते उसका नाम अज्ञान है। अध्यात्ममार्गमें ज्ञान और अज्ञानकी ऐसी व्यवस्थाकी गयी है तभी तो देखो सामायिकादिकी क्रियायें करते जाते हैं और यह समझ बनती है कि यों-यों करना, यह ज्ञानकी चेष्टा नहीं है। और इससे अधिक बढ़कर बात क्या होगी ज्ञानीकी कि वह सामायिकमें मन, वचन, कायको स्थिर बना रहा है और अच्छी कल्पनाएँ करता है, शरीरको बिलकुल स्थिर आसन वाला रख रहा है फिर भी ज्ञान सही है कि शरीरको ऐसा खम्भेकी तरह सीधा रखना, यह ज्ञानकी चेष्टा नहीं है और मनमें जो ज्ञानकी तरंगें, भावकी कल्पना करता है यह भी ज्ञानकी चेष्टा नहीं है। यद्यपि ये सब

ज्ञान ज्ञानगुणके ही परिणमन हैं, मगर केवल ज्ञानके ही कारण जो ज्ञान की वृत्ति हुई वह तो है ज्ञानकी चेष्टा और जो रागद्वेषकी सैन पाकर अपना परिणमन बनाएँ वह है अज्ञानकी चेष्टा।

शास्त्र और ज्ञानका भेदसाधक व्यवहार—इस परम भेदविज्ञानके प्रकरणमें आचार्यदेव कह रहे हैं कि शास्त्रज्ञान नहीं होता है यह उनका ही शब्द है। सुननेमें किन्हीं-किन्हींको ज्यादा अटपट लगता होगा, किन्हीं को कम अटपट लगता होगा और किन्हीं को न भी अटपट लगता होगा। पर जो गाथामें शब्द हैं वे इसी प्रकारके हैं कि शास्त्रज्ञान नहीं होता है क्यों कि शास्त्र कुछ जानता ही नहीं है, जानने वाले जानते हैं। शब्द वहाँ मात्र निमित्त हो रहे हैं। इस कारण शास्त्र अन्य चीज है और ज्ञान अन्य चीज है। कोई शास्त्रकी बात पढ़ते-पढ़ते उसका जो मर्म है, अर्थ है वह भूल जाय तो भूलने वाला आत्मा कभी तो मस्तकमें हाथ लगाकर याद करता है, कभी आँखें मींचकर याद करता है, कभी मस्तक मरोड़कर याद करता है पर पन्ना मरोड़ करके याद करता हुआ कभी किसीको देखा है क्या? नहीं। अगर पंक्तिका अर्थ नहीं लगता तो पन्ना मरोड़कर कोई नहीं याद करता। सभी मस्तक रगड़कर याद करते हैं। यद्यपि इस मस्तकसे ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है फिर भी मस्तक, मन, इन्द्रिय—ये ज्ञानकी उत्पत्तिके बाह्य कारण हैं। इन्हें तो रगड़ना थोड़ा बुरा नहीं जंचता है, उसे कोई पागल न कहेगा, पर कोई शास्त्रकी पंक्तिका अर्थ न लगा पाये तो उस पन्ने को मरोड़े तो उसे तो लोग पागल कहेंगे।

मूल प्रीतियोग्यके बाह्यसाधनसे प्रीति—देखो भैया! जिस मित्रसे प्रेम होता है उस मित्रके कपड़ोंसे भी प्रेम होता है। मित्रकी टोपी नीचे गिर जाय तो दूसरा मित्र उठाकर झाड़कर ऊँची जगह रखता है या नहीं? रखता है। तो क्या उसे उस टोपीमें अनुराग है? नहीं। उसे तो मित्रमें अनुराग है, पर मित्रसे सम्बन्धित जो वस्तुएँ हैं उन वस्तुवोंमें भी अनुराग होता है। तो जिसे वस्तुके सहज स्वभावमें अनुराग है, आत्माके सहज ज्ञायक स्वरूपका अनुराग है उस सहज ज्ञायकस्वरूपको शब्दोंमें जहाँ लिख दिया गया हो उन शब्दोंमें क्या अनुराग न करेगा? शास्त्रोंके पढ़नेसे अपना उपादेयभूत ज्ञानस्वभाव विदित हुआ हो उनसे क्या वह अपना नाता न जोड़ेगा? वह क्या पूजा नहीं करता? करता ही है। और इसी कारण देव, शास्त्र, गुरु ये तीनों पूज्य स्थानमें रखे गये हैं।

देवभक्तिका यथार्थ कारण—वस्तुतः तो हमारा देव भी कुछ नहीं करते। हम कितना ही चिल्लाएँ, गला फाड़कर पूजा करें, पर भगवानकी तो जूँ भी नहीं रेंगती। बहुत देर हो गयी, झाँझ बजाते, मृदंग बजाते

नाचते, गाते, फिर भी भगवान जरा भी हमें दर्शन नहीं देते। थोड़ा हमारी सुन तो लें, बड़ी देरसे टेर लगा रहे हैं, टेर सुनो भगवान अब हमारी बारी है, क्यों नहीं तारते ? घंटे भर प्रशंसा तो सर्व प्रकार कर डाली, पर भगवानका रंचमात्र भी हमारी ओर आकर्षण नहीं होता है। भगवान हमारा भला करने नहीं आते हैं, न हमसे कुछ कहते हैं, न हाथ पकड़ कर ले जाते हैं। वे भी पूर्ण उदासीन हैं, जैसे ये शास्त्र उदासीन हैं। ये हमको कुछ प्रेरणा नहीं करते, उदासीन हैं। इतना काम करनेके लिए तो जैसे सब अजीव हैं, ये शास्त्र भी हैं वैसे ही मेरे प्रति जड़ भगवान बन गए। सुनते ही नहीं जरा भी। तो भगवानकी जो पूज्यता है व शास्त्रकी जो पूज्यता है वह भगवान और शास्त्रकी ओरसे कुछ चीज मिलती है। इस कारण नहीं है, उनसे कुछ भी आता नहीं है, किन्तु जिस मूलतत्त्वको हम चाहते हैं, जिस ज्ञायकस्वभावका अवलम्बन करके हम अपनी शुद्धपरिणति करते हैं, सदाके लिए संकटोंसे मुक्ति पानेका उपाय बनाते हैं वह ज्ञायकस्वरूप जिसके स्पष्ट व्यक्त हो गया है, जो मेरे मोक्ष-मार्गमें चलने प्रोत्साहन देने के लिए आदर्श रूप है उनमें उपासककी क्या भक्ति नहीं जगती है ? बहुत भक्ति जगती है।

प्रभुभक्तिका स्थान—भैया ! मार्ग मिलना चाहिए किसी द्वारसे, उसी से चलकर हमें भक्ति करनी चाहिए। एक काव्यमें तो यहाँ तक कहा है कि हे देव ! शुद्ध ज्ञान हो जाय, शुद्ध चारित्र हो जाय तब भी आपमें यदि उत्कृष्ट भक्ति नहीं जगती है अर्थात् मैं आपकी उत्कृष्ट भक्ति नहीं कर पाता हूं तो फिर मुक्तिका किवाड़ बंद है, उनके खुलने का साधन तो आपकी भक्तिरूप चाबी थी वह मेरी खो गयी। तो चाहे ज्ञानी बड़ा बन जाय, चारित्र भी पालने लगे, पर मुक्तिके किवाड़को हम खोल नहीं सकते। मोह के किवाड़ोंसे मुक्तिका द्वार बंद है। तो जिस दृष्टिसे भगवानकी पूज्यता है वह दृष्टि संभालना चाहिए। प्रभु स्वच्छ स्पष्ट हो गया, शुद्ध निर्दोष उनका स्वरूप बन गया है और हम हैं इस सहजस्वरूप के रुचिया, सो यहाँ देखलो—हम ही भक्तिका भाव बनाते हैं और हम ही सब कुछ करते हैं।

परमोपेक्षासे ही भगवानकी पूज्यता—भैया ! भगवान अपने स्वभावसे चिगकर किसी भी भक्तके लिए कुछ भी अनुराग नहीं करते हैं और तभी भगवानकी महिमा है, अगर ये भक्तोंसे अनुराग करने लगे तो यहाँ भक्तों में लड़ाई हो जायेगी। जैसे यही त्यागी साधुओंके प्रति अनेक कल्पनाएँ की जाती हैं। यह पक्ष करते हैं, इनको बहुत सोचते, इनका ख्याल नहीं करते। तो यह विडम्बना भगवानकी भी बन जायेगी। चाहे कितना ही

कोई चिल्लाये कि हे भगवान ! हम दो घंटेसे चिल्ला रहे हैं, प्यासे हो गए हैं तनिक सुन लो, तो भी वे किसीकी सुनने नहीं आते। वे तो अपने पूर्ण स्वभावमें स्थित हैं, यही उनकी पूज्यताका कारण है। हम ही स्वयं उनके गुण सोच सोचकर अपना उत्थान किया करते हैं।

प्रभुकी महिमा अपरनाम भक्तोंका धर्मानुराग—वास्तवमें उन्हें भगवान बनाया है, महान् बनाया है, भक्त लोगोंने। अरे तो अरहंत सिद्ध अपने आप भगवान नहीं हैं ? महान् नहीं है ? हाँ नहीं है। अगर हम आप उनकी चर्चा करने वाले भक्तजन न होते और अरहंत ही अरहंत किसी कमरेमें बैठे होते और किसीसे कोई वास्ता नहीं, कोई जानता ही नहीं तो उन्हें भगवान कौन कहता ? वह तो शुद्धस्वरूप है। कोई शुद्ध आत्मा है तो वह हो गया शुद्ध, हो गया खालिस। संसारमें जीव यों हैं तो वह जीव यों है, पर उन्हें जो भगवान बनाया है, उनकी महिमा फैलाई है, यह सब तो इन भक्तोंकी करतूत हैं। वह तो जैसा है सो ही है, शुद्ध है, उससे मेरेमें कुछ भी बात नहीं आती। तो जैसे हमें और तो क्या करना है, अन्य चेतन तत्त्वसे भी ज्ञान नहीं आता। वह मेरा ज्ञान नहीं है। साक्षात् अरहंत और सिद्ध भगवान भी मेरा ज्ञान नहीं है, वह तो जो है खुदका है। मेरा ज्ञान तो मेरा मेरेमें है। शास्त्र तो मेरा ज्ञान ही क्या होगा ?

स्वाध्यायकी हितकर पद्धति—शास्त्र अन्य हैं और ज्ञान अन्य है, ऐसा जिनदेव कहते हैं। यह बात किसलिए कही जा रही है कि हम अन्य पदार्थोंके विकल्पोंका भी त्याग कर अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी महिमामें विराजें ? जैसे स्वाध्याय करनेका तरीका यह है कि बड़े ध्यानसे एक लकीर पढ़ी और उस लकीर को पढ़कर कुछ आँखें मींचकर उस लकीरका अर्थ करें और फिर आँखें बंद कर उस शास्त्रको भी भूलकर कि हमारे आगे क्या धरा है और उसके अर्थमें ऐसा मग्न हो जायें कि जो शास्त्रकी पंक्ति ने कहा है वह अपने आपमें उतार कर अपनेको बतला दें, ऐसा यत्न करना यह स्वाध्याय करनेका ढंग है।

घटित पाठस्मरण—जैसे कहते हैं कथानकमें कि एक गुरु कौरव और पाण्डवोंको पढ़ा रहे थे। पाठ निकला क्षमाका, क्रोधका, चलो पढ़ो, खोलो पुस्तक पढ़ो गुस्सा न करना चाहिए। अच्छा नकुल ! पढ़ो गुस्सा न करना चाहिए नकुलने पढ़ दिया कि गुस्सा न करना चाहिए। अच्छा सहदेव ! तुम पढ़ो, पढ़ दिया—गुस्सा न करना चाहिए। अच्छा भीम, तुम पढ़ो। पढ़ दिया गुस्सा न करना चाहिए। अच्छा युधिष्ठिर तुम अपना पाठ सुनावो। युधिष्ठर बोला कि अभी याद नहीं हुआ है। गुरु जी को गुस्सा आया, पूछा तुझे क्यों नहीं याद ? इसी तरह कई दिन हो गए, युधिष्ठिर

यही कहे कि हमें अभी पाठ याद नहीं हुआ। गुरु जी को गुस्सा अधिक आया सो दो चार डंडे जमा दिए। युधिष्ठिर हँसता रहा। गुरु जी ने युधिष्ठिर से पूछा कि मैं तो मारता हूं और तू हँसता क्यों है ? युधिष्ठिर ने कहा कि महाराज अब याद हो गया। हाँ सुनावो, गुस्सा नहीं करना चाहिए। युधिष्ठिर ! इतनी बात आज ७ दिनोंमें याद कैसे हुई ? तो युधिष्ठिर बोले कि गुरु जी इतने दिन तक गुस्सा न करनेका खूब यत्न करनेके बाद आज पाठ याद हुआ कि गुस्सा नहीं करना चाहिए। देखो आपने मारा फिर भी हमारे गुस्सा नहीं आयी। तब मुझे विश्वास हुआ कि मुझे पाठ याद हो गया। तो स्वाध्याय करनेका ढंग यही है, जो स्वाध्याय करते हो उसे अपने में उतार कर देखो।

स्वाध्यायमें विदित भावका सुघटन—स्वाध्यायमें आए हुए शब्द मेरे कुछ नहीं हैं। इतना ही नहीं, आँखें मींचकर विचार करो कि सर्व पदार्थ हमसे जुदे हैं, सभी अपने आपमें परिणमते हैं, यह मैं अपने भावोंसे परिणमता हूं, जीवका जैसा स्वरूप है तैसा ही स्वरूप इसका है, अन्य जीवोंसे इसकी कोई खासियत नहीं है, जीव तो मेरा न कहाये और ये मेरे कहने लगें, ये प्रकट भिन्न हैं। यह बात तनिक उतारनेकी न करो तो फिर घर बैठो और गप्पें खावो, मना कौन करता है ? स्वाध्याय करते हो तो स्वाध्याय करते हुएमें तो सही मार्ग अदा करो।

धर्मके पार्टमें भी यथार्थताकी संयोजना—एक मंत्री ने कहा कि महाराज साहब हम इतनी बातें दिखाते हैं, आपका मन बहलाते हैं तो हमको कोई बड़ा दो चार गाँवका राज्य इनाममें मिलना चाहिए। राजाने कहा कि मिल जायेगा, तुम हमको एक बार साधुका पार्ट दिखा दो। कहा, अच्छा महाराज ! लुप्त हो गए, संन्यासी बन गये। पहिले अपनी महिमा जतायी दो चार जगह चवन्नी, अठन्नी, रुपये गाड़ दिये। लोग आए कोई बोला कि हम बड़े दुःखी हैं। तो साधुने कहा कि अच्छा जावो वहाँ खोद लो, मिल गया रुपया, फिर किसीके मांगने पर कहा कि वहाँ खोद लो, उसे मिल गयी अठन्नी। लो धीरे-धीरे साधुकी महिमा बढ़ गयी। किसी ने राजाको बताया कि कोई साधु आया है वह जमीनकी भी बात बता डालता है। राजा भी पता पाने पर वहाँ पहुंचे। बड़े विनयसे बड़ी सेवा करके राजा बोले कि महाराज आपकी सेवामें आप जो कहो राजपाट तक तैयार। वह बोला कि हमें कुछ न चाहिए। हम साधु हैं, साधु निष्परिग्रही होते हैं। दूसरे दिन साधुवेष छोड़कर बोला, महाराज कहो हमने दिखा दिया ना पार्ट। कब ? तीन दिन पहिले जब आप चरणोंमें पड़ गए थे। उस समय तो सारा राजपाट आप समर्पण कर रहे थे, अब तो दो

हमें इनाम। राजा कहता है कि जब सारा राज्य चरणोंमें धर दिया था तब क्यों न लिया था ? तो मंत्री बोला कि महाराज हम उस समय साधु पार्ट अदा कर रहे थे। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। तो जब साधुका पार्ट अदा किया जा रहा था तब तो यह हालत हुई और जब कोई साधु हो जाय तो क्या उसमें निष्परिग्रहता न होनी चाहिए ?

सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण जाणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥३९१॥

शब्द और ज्ञानका व्यतिरेक—शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ जानता नहीं है। इस कारण ज्ञान अन्य बात है और शब्द अन्य बात है, ऐसा जिनेन्द्रदेव निरूपण करते हैं। पहिले द्रव्य श्रुतका ज्ञान न होनेका कथन किया था। द्रव्य श्रुतमें अक्षर भी आ गए और शब्द भी आ गए, किन्तु वे शब्द तो विशिष्ट शब्द हैं, आगम और हितोपदेश सम्बन्धी शब्द हैं। और इस गाथामें शब्द सामान्यकी बात कही जा रही है। लोगों को शब्द सुनते ही तुरन्त ज्ञान बन जाता है इस कारण यह भ्रम हो गया है कि शब्दसे ज्ञान होता है अथवा शब्द ज्ञान है। शब्द भाषा वर्गणाजातिके पुद्गल द्रव्यका परिणमन है। शब्द अचेतन है और ज्ञानचेतना आत्माके ज्ञानगुणका परिणमन है, अथवा ज्ञान आत्मा का स्वभाव है। ज्ञान और शब्दमें अत्यन्त पार्थक्य है। कोई मेल नहीं बैठता है, फिर भी शब्द सुन कर जीवको ज्ञान होता है और कुछ व्यवधान रहित मालूम होता है। इस कारण यह भ्रम हो गया है कि शब्द ज्ञान है पर शब्द ज्ञान नहीं है।

शब्द और ज्ञानके आधारभूत पदार्थ—भाषावर्गणासे शब्द परिणमनकी व्यञ्जना स्कंधके संयोग वियोगसे उत्पन्न होती है। संयोगमें भी शब्दकी उत्पत्ति होती है और स्कंधोंके वियोगमें भी शब्दकी उत्पत्ति होती है। मुख से जो कुछ बोला जाता है वह सब स्कंधोंके संयोग वियोग वाली बात ही तो है। जीभ, तालु, ओंठ, मूर्द्धा—ये सब स्कंध हैं, पौद्गलिक हैं, इनका कैसा ही संयोग हो, कैसा ही वियोग हो तो वहाँ शब्द उत्पन्न होता है। यह सब हम प्रयोग करके देखते ही तो रहते हैं। सो शब्द तो भाव और ज्ञान आत्माके ज्ञान गुणसे प्रकट होता है। भले ही छद्मस्थअवस्थामें बाह्य इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर इस ज्ञानका विकास होता है, पर ज्ञानका विकास ज्ञानगुणमें से ही प्रकट होकर होता है। ज्ञानविकास किसी अन्य पदार्थ से नहीं हुआ करता है। ज्ञान अत्यन्त भिन्न है और शब्द अत्यन्त भिन्न हैं।

विवादमें शब्दविषयकी प्राथमिकता—भैया ! मनुष्यके अन्य जीवोंसे

राग बढ़ानेके दो ही तो उपाय हैं, देखना और सुनना। जिसका व्यवहार बढ़ता है, गोष्ठी बनती हैं, मित्रता होती है, प्रेम होता है अथवा दर्शन होता है, विरोध होता है किसी भी तरहका जो व्यवहार बनता है उसमें मुख्य कारण दो पड़ते हैं—देखना और सुनना। सो व्यवहारमें सब समझते ही हैं। किसी से शत्रुता बढ़ जाय तो उसमें भी दो बातें हुई थीं। कुछ देखा था और कुछ सुना था। किसीसे मेल बढ़ जाय तो उसमें भी दो बातें हुई थीं। कुछ देखा था और कुछ सुना था। उसमें भी ये शब्द विषय हमारी प्रीति और दुश्मनीमें प्रारम्भिक आचरण रूप हैं। झगड़े भी समाजमें या घरमें हुआ करते हैं। उनका मूल देखना और सुनना है। उनमें भी सुनना प्रथम कारण है, इसी लिए मनुष्योंको यह बड़ी सावधानी रखनी चाहिए कि हमारा बोल कभी ऐसा न हो कि जिसे सुनकर औरों को क्लेश हो। व्यवहारमें सबसे बड़ी सावधानी यही रखनी है।

वचनव्यवहारका विवेक—जो शब्द बोलनेकी सावधानी नहीं रख सकता उसके समान अविवेकी किसे कहा जाय? मनुष्योंमें बड़ा वह है जो अपने शब्द संभालकर उपयोगमें लाये। कषायको वश करो और जैसे उचित शब्द हैं वैसा ही बोलनेका यत्न करो। कितनी भी गुस्सा क्यों न हो, मनसे उस गुस्सेको काबूमें लाना और वचन उत्तम सरस मिष्ट बोलना, इतनी हिम्मत जो बना सकता है उसे जीवनमें आपत्ति नहीं आतीं। इन शब्दोंके दुरुपयोगसे बिना ही कारण, कुछ लेनदेन नहीं, कुछ लाभ अलाभ नहीं, पर मूर्खतासे अटपट बात बोल दी तो विपत्ति आ गयी, दुश्मनी बढ़ गयी और यह मन शल्यमें हो गया और कुछ ज्यादा न किया जाय तो अपने जीवनमें एक ही बात ग्रहण करलें कि कैसी भी गुस्सेकी स्थिति हो, दूसरेसे भली बात बोलना, यह बात यदि कर सकते हो तो यह बड़े हितकी बात बनेगी।

बोलीसे सज्जनता व दुर्जनताकी पहिचान—भैया! बोलीसे ही मनुष्य की सज्जनता और दुर्जनता जानी जाती है। एक वार्ता चली आयी है कि राजा, मंत्री और सिपाही तीनों कहीं एक जंगलसे होकर जा रहे थे, तो एकदम आगे चले गए। फिर मिल गया एक ही रास्ता। इतनेमें वे तीनों बहुत आगे पीछे हो गये तो उस रास्ते पर एक अंधा बैठा था। उस अंधेसे सिपाही ने पूछा कि क्यों बे अंधे, तुझे मालूम है यहाँसे दो आदमी निकल गए क्या? तो अंधा बोला कि नहीं सिपाही जी, अभी तो कोई नहीं निकला। बादमें मंत्री आया, पूछा कि क्यों सूरदास, यहाँ से कोई दो आदमी निकल गये क्या? तो अंधा बोला कि नहीं मंत्री जी, एक सिपाही तो निकल गया पहिले और दूसरा कोई नहीं निकला। बादमें राजा

निकला, पूछा—भाई सूरदास जी, क्या यहाँसे दो सज्जन निकल गए, तुम्हें कुछ मालूम है ? तो अंधा बोला कि राजा साहब ! पहिले तो एक सिपाही निकल गया है और अभी-अभी मंत्री साहब भी चले गए। अब वे बहुत दूर पर तीनों मिले और अंधेकी बात सुनाई। तो उन्हें अचरज हुआ कि वह अंधा कैसे पहिचान गया कि यह सिपाही है, यह मंत्री है और यह राजा है। सोचा कि चलो चलकर पूछें तो सही कि कैसे पहिचान गया ? तो जब वे पहुंचे तो उस अंधेसे राजाने पूछा कि कैसे आप पहिचान गये कि यह सिपाही है, यह मंत्री है और यह राजा है ? तो अंधा बोला कि महाराज हम बोलीसे पहिचान गए। जिसने अबे तबे बोला उसको मैं समझ गया कि यह कोई छोटा मोटा सिपाही है, उसमें कैसे इतनी तमीज आ सकती है कि संभाल कर बात करे। जिन्होंने कुछ संभलकर बात पूछी थी उन्हें मैं समझ गया कि यह कोई मंत्री जी हैं और जिसने अत्यन्त नम्रतासे पूछा उसे मैं समझ गया कि यह सबका मालिक है, राजा है। तो इस बोलीसे ही सज्जनता और दुर्जनता पहिचानी जाती है।

भैया ! न हो लाखोंका धन किन्तु वचन अच्छे बोले जा रहे हों तो गरीबमें भी बड़े अच्छे दिन कटते हैं और खूब वैभव भी हो किन्तु गृहयुद्ध हो, वाक्युद्ध हो तो उस धन वैभवसे ही क्या सुख मिला ? शब्दोंका सदुपयोग इस मनुष्यजन्ममें बड़ी सावधानीसे करना है। यह तो हुई व्यवहार की बात। पर व्यवहारसे परे अध्यात्मके हितमें उतारना है तो उसके लिए कह रहे हैं कि शब्द मात्र ज्ञान नहीं है। ज्ञान और कुछ है। हम सर्व शब्दों से उपेक्षाभाव करें तो यहाँ बोलनेकी बात ही नहीं रहती। बोलो तो अच्छा बोलो, नहीं तो चुप रहो।

शब्दमें ज्ञानत्वके भ्रमका एक कारण—ज्ञान और शब्द हैं, यद्यपि भिन्न भिन्न तत्त्व पर लोगोंको यह भ्रम क्यों हो गया कि शब्द ज्ञान है। इसका कारण यह है कि ज्ञान और शब्द ये दो कुछ विशेषताके साथ एक साथ रहा करते हैं, देखो भगवानकी जो दिव्यध्वनि है वह भी शब्द है। उनका ज्ञान उत्कृष्ट है। प्रभुके ज्ञानसे बढ़कर अन्य किसीका ज्ञान नहीं है और उनकी ध्वनिसे बढ़कर अन्य किसी की ध्वनि नहीं है। और जैसे-जैसे नीची पदवीमें जीव हैं तो जैसा-जैसा ज्ञान है उसीके अनुकूल शब्द निकलते हैं। यों ज्ञान और शब्दका मेल होनेके कारण यह भ्रम बन गया है कि शब्दसे ज्ञान होता है।

शब्दमें ज्ञानत्वके भ्रमका द्वितीय कारण—अब भ्रमका एक यह भी कारण है कि मान लो कुछ भी ज्ञान करते हैं तो वह हमारा ज्ञान अन्तरमें

किसी न किसी शब्दको करता हुआ, अन्तर्जल्प करता हुआ प्रकट होता है। खम्भा देखा, ज्ञान किया तो उस खम्भे से नहीं बोला, पर भीतरमें खम्भा या जो भी समझा आया उस रूप एक अन्तर्जल्प हो उठता है। मान लो कि बाह्य वस्तुके ज्ञानका आकार अन्तरमें शब्दसे उठता हुआ उत्पन्न होता है।

शब्दकी सर्वस्वताका विभ्रम—शब्द ज्ञान है, यह तो हमारा चढ़ाकर मंतव्य बन गया, फिर भी इसमें आधी गनीमत है। कहीं-कहीं ज्ञान भी तत्त्व नहीं रहा, किन्तु एक शब्द ही तत्त्व रहा। इसी सिद्धान्तको कहते हैं शब्दाद्वैतवाद। कोई कहते हैं कि शब्द कुछ नहीं है। ज्ञान ही सब कुछ है। कोई कहते हैं कि ज्ञान ही सब कुछ है। शब्द कुछ नहीं है। इसका नाम है शब्दाद्वैतवाद। सारा विश्व शब्दात्मक है और ज्ञान कुछ चीज नहीं है। ज्ञान भी शब्दात्मक है। शब्द ही व्यापक हैं और शब्द ही सब कुछ हैं, यहाँ तक मंतव्य उठ खड़ा हो जाता है। शब्द और ज्ञानका परस्परमें व्यवहारमें इतना निकट सम्बन्ध है कि कोई लोग शब्द और ज्ञानको एक तुला पर बैठालते हैं, बराबरके मानते हैं और कोई ज्ञानका कुछ महत्त्व ही नहीं समझते हैं। ज्ञान तो शब्दोंके पीछे लगा लगा फिरता है, तत्त्व तो शब्द है। तो कोई इस ज्ञानको कुछ न कह कर अतत्त्व ठहराकर शब्दको ही तत्त्व कहते हैं।

शब्द और ज्ञानका पार्थक्य—इस शब्दके बारेमें आचार्य महाराज कह रहे हैं कि ज्ञान अन्य चीज है, शब्द अन्य चीज है, शब्द ज्ञान नहीं है। कोई मनुष्य गालियाँ देवे, उसे बहुत गालियां याद हों, १०—२० गालियां दे डाले और सुनने वाला कहे कि ये सब गालियां उल्टी तुम्हीं को दे दीं, लो इतनेमें ही सारी गालियाँ उल्टी पड़ गयीं। जैसे चित्रोंकी कला एक विवेकपूर्ण कला है। बतावो तो सही, एक कागज पर कहो सारी सभा बना दें। कितना मोटा आदमी है यह भी बता दें। अब उस पर मोटाई तो खिंचती नहीं, मगर ऐसी कला बना देते कि सब कुछ उसमें दीखेगा। तो जैसे चित्रकी कला होती है ऐसे ही शब्दोंमें भी बड़ी कलाएँ चलती हैं। कोई किसीके प्रति जरासी धीरेसे कोई खोटी बात कहे और वह पूछे कि ऐसी तुमने खोटी बात क्यों कही, तो वह कहता है कि हमने नहीं कही खोटी बात। हमने तो उसकी बड़ाई की बात कही है। तो शब्दोंमें भी ऐसी पैंतरेबाजियाँ चलती हैं कि कोई पकड़ न पाये और सारे शब्द कह डाले, पर ज्ञानी जीव सोच रहा है कि सर्वशब्दोंसे मेरे ज्ञानका और परिणमनका रंच भी संबन्ध नहीं है। शब्द-शब्द है और ज्ञान-ज्ञान है।

शब्दोंसे हलचल—एक बार कहीं साधु महाराज रास्तेमें बैठे थे, कोई

स्त्री कुएँमें पानी भरने जा रही थी तो वह खड़ी हो गयी। तो संन्यासी कहता है कि यहाँसे हट जा, दूर जा। तो स्त्री बोली कि तुम जानते नहीं हो हममें वह कला है कि कहो तुम्हारी पिटाई करा दें और कहो तुम्हारी रक्षा कर दें। तो साधु ने कहा कि अच्छा बता तू क्या बताती है? वह स्त्री चिल्लाने लगी, दौड़ो दौड़ो भैया, बाबा ने मार डाला। लोग उसकी चिल्लाहट सुनकर झट लट्ठ लेकर उस बाबाको मारने के लिए आ गए, तो साधु ने कहा, देवी अच्छा अब बचावो। तो लट्ठ लेकर आये हुए लोगोंसे उस स्त्री ने कहा कि अरे बाबा, अब अभी अभी इस बिलमें घुस गया। लोगों ने समझा कि अरे वह तो साँप था। साँपको देखकर चिल्लायी कि दौड़ो बाबाने मार डाला। सभी चले गए। तो शब्दोंसे ही घात हो जाय शब्दोंसे ही रक्षा हो जाय, शब्दोंसे ही कहो लड़ाई हो जाय, शब्दोंसे ही कहो सुलह हो जाय।

आशयके अनुसार वचननिर्गमन—हाय, अंतरमें जो कषाय राक्षसी है वह अच्छे शब्द बोलने ही नहीं देती। जब अन्तरमें कषाय पड़ी हुई है तो शब्द अच्छे कहाँसे बोले जायें? जो भीतरमें योग्यता है उसके अनुकूल ही तो शब्द निकलेंगे। किसीको बहुत समझा बुझा कर रखो—देखो यों रहो, यों बोलो, पर जब समय आता है तो जैसा कषाय होता है तैसे ही शब्द निकल जाते हैं। किसी की हँसनेकी आदत हो, बड़ा विनोदप्रिय हो तो दुःखद समयमें भी उसके हँसी आ ही जाती है। वह हँसीके शब्द बोल देगा और किसीको रोनी बोली आती हो, चाहे, बड़ा समारोह हो, वहाँ बोलेगा तो ऐसा ही बोलेगा कि कोई दुःखभरी बात बोल रहा है। बरुवासागरमें सेठ मूलचंदके यहां एक मनुवा नौकर था। सेठकी सेठानी मर गयी। अब वह मनुवा एक कोनेमें छिप कर बैठ गया, वह सेठानी उस नौकर पर बड़ा ध्यान रखती थी। सेठ पुकारे अरे मनुवा कहां गया, बाजार जायें, यह काम कर, वह काम करना है। सो वह बहुत देरमें निकल कर आया। सेठ जी बिगड़ गए, पूछा कि तू कहां चला गया था, अभी ये ये काम सब करने को पड़े हैं। इतनी बात सुनकर हँसता हुआ बोला कि महाराज हमारी आदत हँसनेकी है। हम इसलिए छिप गये थे कि कहीं वहाँ हँसी न आ जाय। दुःखके समयमें इतना बोला और हँस दिया।

वचनकी योग्यतासूचकता—भाई जिसकी जैसी योग्यता है वैसे ही शब्द बोलता है। यह समझो कि मेरा अपराध कोई नहीं है। मेरा कोई विरोध करता ही नहीं। जो कोई कुछ करते हैं वे अपनी योग्यतासे अपने आपके कषायका परिणमन किया करते हैं। जिसमें जितना ज्ञान है, जितना कषाय है, जैसी योग्यता है वह उस माफिक ही तो परिणमेगा

और बातें कहांसे लायेगा ? जो गालियां देता है उसके हृदयमें गालियां ही समायी हैं, सो वह गालियां ही उगलता है, वह और चीजें कहांसे लायेगा? जो उत्तम है वह उत्तम ही काम करेगा, वह गलत काम कैसे करेगा ? सो किसीकी बातोंको सुनकर मनमें खेद न लाना चाहिए। नहीं तो जैसे और हैं वैसे ही अपन खुद हो गये, फिर उसमें फरक ही क्या रहा ?

वचनकी योग्यतासूचकता--एक साधु महाराज थे, सो वे नदीके किनारे एक सिला पर तपस्या करते थे। भोजन करके आयें तो उसी सिला पर बैठें। एक दिन उनके आनेसे पहिले धोबी आ गया और उस सिला पर कपड़े धोने लगा। इतनेमें ही साधु आ गए। साधु बोला कि हटो यहांसे, तुम्हें पता नहीं है कि यह मेरा आसन है। तो धोबी बोला महाराज, हमें कपड़े धोने के लिए अच्छी सिला मिल गयी है, आप तो और किसी जगह पर बैठ कर ध्यान कर सकते हो। साधु बोला कि गड़बड़ मत करो, हटो यहांसे तो धोबी बोला कि महाराज हम नहीं हटेंगे। हम तो अपना काम पूरा करके जायेंगे। सो साधुपनका तो उसे अभिमान था। साधुने थप्पड़ जड़ दिया। अब तो दोनोंमें लड़ाई होने लगी। धोबी पहिने था तहमद, वह छूट कर नीचे गिर गया। बड़ी मुक्केबाजी हो गयी। साधु तो नग्न थे ही, अब धोबीकी भी लंगोटी छूट कर गिर गयी। साधु कहता है अरे देवतावो तुमको कुछ खबर नहीं है कि यहां साधु पर कितना उपसर्ग हो रहा है ? तो देवतावोंने कहा कि हम देख तो रहे हैं पर हमें यह भ्रम हो गया कि इनमें से धोबी कौन है और साधु कौन है ? कुछ भी अंदाज नहीं लगता है। तुम दोनोंकी एकसी गुस्सेकी प्रवृत्ति है तो हम तो इस धोखेमें पड़े हैं कि इनमें से साधु कौन है, सो उसे बचावें।

हित मित प्रिय शब्द बोलनेकी सावधानीकी प्राथमिकता—सो भैया ! जैसे औरोंके शब्द हैं, औरोंकी वृत्तियां हैं हम भी वैसे ही बन जायें तो फिर औरोंमें और अपनेमें क्या अन्तर रहा ? विवेक तो वह है जो प्रथम तो शब्द मात्रसे अपनेको अत्यन्त भिन्न जानकर उनमें राग विरोधकी भावना न करे, विकल्प भी न करे और एक ज्ञानमात्र निजतत्त्वका शरण ले, अन्य प्रकारकी स्थिति नहीं बनानी है। शब्द कुछ बोलने ही पड़ते हैं तो शब्द ऐसे बोलो कि जिनको सुनकर दूसरोंको हितका मार्ग मिले और बुरा न लगे। किसी ने बुरा कह दिया और हम अच्छी भली बात बोलें तो प्रथम तो वही शर्मिन्दा हो जायेगा जिसने बुरा बोला है। और न हो वह शर्मिन्दा तो और लोग जो देखने वाले हैं वे तो जान जायेंगे कि यह तो दुर्जन है और यह सज्जन है। और न भी हो कोई देखने वाला तो मधुर बोलने वालेके शांति तो बनी रहेगी। वह तो कष्टमें न आयेगा।

इस कारण शब्दका उत्तम उपयोग करना इस मनुष्यभवमें सर्वप्रथम आवश्यक है। इतनी हिम्मत बनावो कि कोई कितना ही विरोध करे, कुशब्द कहे, फिर भी कुछ अपने आपमें क्रोधको पीकर उससे वचन बोलो तो ऐसे वचन बोलो कि जिनको सुनकर वह शांत हो जाय। और अपने वैर विरोधकी भावनाको तज दे। ऐसे अत्यन्त निकट सम्बन्ध वाले शब्दों में सावधानी करो और ज्ञान ऐसा रखो कि शब्द तो भिन्न चीज हैं, यह मैं नहीं हूं। मैं ज्ञानमात्र हूं।

शब्द, अन्तर्जल्प व विकल्पोंकी अज्ञानरूपता—शब्द ज्ञान नहीं है, और जिस उपादेय ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे वर्णन चल रहा है उस दृष्टिमें यह भी निरखा जा रहा है कि शब्दको सुनने पर जो विकल्प रूप ज्ञान किया जाता है, संकल्प विकल्प रागद्वेष इष्ट अनिष्ट भावात्मक है वह भी ज्ञान नहीं है। वह अज्ञान है, परमार्थतः। अन्य बाह्य सर्व देशरूपसे अज्ञान है। जहां रागद्वेषका मिश्रण नहीं है। और मात्र ज्ञानवृत्ति ही चल रही हो वह परमार्थतः ज्ञान है। यह शब्द ज्ञान नहीं है इस कारण ज्ञान बात अन्य है, शब्द बात अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने निरूपण किया है। सो शब्दमें आत्मीयताका भाव करके रागद्वेष इष्ट अनिष्ट भाव बनाना, यह अज्ञान है, यह मुख्य उपदेश है।

रूवं णाणं ण हवइ जम्हा रूवं ण जाणये किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥३९२॥

रूप और ज्ञानमें व्यतिरेक—रूप वर्ण नहीं है। यहाँ रूपसे मतलब रंगसे न लेना, किन्तु रूप रस गंध स्पर्शमयी जो मूर्तता है उस मूर्तस्वरूप को ग्रहण करना अर्थात् मूर्तिकता ज्ञान नहीं है क्योंकि वह मूर्तिकता कुछ भी नहीं जानती। इसलिए ज्ञान अन्य है और रूपीपना अन्य है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने भाषित किया है। मोही जीवोंको जो कुछ यह दिख रहा है जिससे इसने अपना निकट संबन्ध बनाया है, उनमें यह आपा मानता है।

स्वपरके एकत्वकी अज्ञानमयी कल्पना—इन बाह्यपदार्थोंमें आत्माके साथ मानी गई एकमेकता दो रूपोंमें फूटती है। एक तो बाह्यको मैं माना और मैं को बाह्य माना। यद्यपि यह बात कुछ थोड़ीसी ऐसी है कि जैसे कोई कहे दालमें शाक मिलाया और कोई कहे शाकमें दाल मिलाया, यद्यपि वहां एक ढंग हो गया फिर भी पद्धतिमें अन्तर है। ऐसे ही कोई पुरुष समस्त विश्वको आत्मारूप मानता है और कोई आत्माको सर्वविश्वमय मानता है। एक मंतव्यमें स्वरूपका अस्तित्व नहीं माना गया है और एक मंतव्यमें पररूपसे नास्ति नहीं माना गया है। ऐसे एकमेक हो रहे हैं।

मुग्ध प्राणियोंके प्रति कहा जा रहा है कि ये सब रूप, रंग नहीं; किन्तु यह सब मूर्तिकता ज्ञान नहीं है। ज्ञान अन्य है और यह रूपीपना अन्य है। आत्मा अपने द्रव्यरूप है और यह रूपी पदार्थ अपने द्रव्य रूप है। आत्मा के गुण अन्य हैं, इन रूपी पदार्थोंके गुण अन्य हैं। आत्मा अपने गुणोंमें ही समवायी बनकर परिणमता रहता है और ये रूपी पदार्थ अपने गुणोंमें ही समवायी रहकर परिणमते रहते हैं।

ज्ञेयभूत विश्वसे ज्ञानका पार्थक्य—सभी संसारी जीव द्रव्येन्द्रियके द्वारा इन रूपी पदार्थोंको जानते हैं। इतने मात्रसे रूपी पदार्थ और यह ज्ञान आत्मा एक नहीं हो सकता। यह द्रव्यइन्द्रिय भी तो अचेतन है। जिस साधनके द्वारा ज्ञान किया गया है और उन द्रव्येन्द्रियों के साधनोंसे जो भावेन्द्रिय रूप परिणमन हुआ है अर्थात् बाह्यवस्तुविषयक ज्ञान होता है वह ज्ञान ही तो औपाधिक है, विनाशीक है, एकांगी है, आंशिक है। मेरा ज्ञानस्वरूप तो ऐसा नहीं है। मैं ज्ञानमय निरुपाधि हूं, ज्ञानस्वरूप हूं, अखण्ड हूं, परिपूर्ण हूं, इस नातेसे भी यह रूपी पदार्थ मैं नहीं हूं और फिर केवलरूपी पदार्थ ही तो ज्ञानमें नहीं आते। ज्ञानमें सर्व विदित होता है। फिर भी ज्ञान सर्वरूप नहीं होता, ज्ञान तो ज्ञानरूप है। ये सर्व भौतिक पदार्थ, रूपी पदार्थ, रूप मूर्तिकता मैं नहीं हूं। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। ज्ञान अन्य है और रूप अन्य है।

रूपी पदार्थोंमें शरीरसे भेदविज्ञानकी कठिनाई—भैया! सबसे अधिक अड़चन पड़ती है शरीरको अपनेसे भिन्न परखनेमें, क्योंकि यदि थोड़ा फोड़ा हो, बुखार हो, सिरकी नस चढ़ गयी हो तो भी यह क्षुब्ध हो जाता है। भेदविज्ञान करना यहां कुछ कठिन मालूम होता है, पर मोही जीवको तो इससे भी और बाहरका भेदविज्ञान करना कठिन लग रहा है। किसी का कोई इष्ट गुजर जाय तो यह आत्मा अपने प्राण गँवा देता है, आत्महत्या कर डालता है। वहां भी यह धैर्य नहीं रख सकता, भेदविज्ञान नहीं कर सकता और शरीर से यदि भेदकी बात समझमें आये तो बाहरके भेदकी बात सुगमतया समझमें आती जाती है। जब मेरा इस शरीरके साथ भी सम्बन्ध नहीं है तो अन्य पदार्थोंके साथ मेरा सम्बन्ध कैसा? तो शरीर रूप है, रूपी है। इस रूपी पदार्थसे यह मैं ज्ञान भिन्न हूं। रूपी पदार्थको जानते तो हैं पर जाननहार यह ज्ञान इस रूपीसे अलग है और ये रूपी पदार्थ भिन्न हैं। अब इन रूपी पदार्थोंके एक-एक गुणको लेकर आगे भेद बताते हैं कि मैं वर्णादिक रूप भी नहीं हूं।

वण्णो णाणं ण हवइ जम्हा वण्णो ण जाणये किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥३९२॥

वर्ण और ज्ञानमें व्यतिरेक—वर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि ये वर्ण कुछ जानते ही नहीं हैं। कोई ऐसा तो नहीं करता कि जाते समय चौकीसे कहा जाय कि चौकी तुम इनकी बातें सुनते रहना, हम आकर तुमसे सब हाल पूछ लेंगे। अगर ये वर्ण ज्ञान करते होते तो अच्छी व्यवस्था बनती। कोई झूठ बोल ही न सकता था। खम्भासे पूछ लो, चौकीसे पूछ लो कि क्या बात है? वर्ण कुछ जानता नहीं है। इससे ज्ञान अन्य है और वर्ण अन्य है।

एक जज की युक्ति—युक्तिबलसे कोई अचेतनोंके नामसे कुछ निर्णय कर ले, किन्तु अचेतन जानता कुछ नहीं है। एक जजने तो पेड़से पूछ लिया था कि यह पुरुष सच बोलता है या झूठ? कैसे कि एक साहूकार ने एक बरगदके पेड़के नीचे एक मनुष्यको ५००) रुपये उधार दिया था। लिखा पढ़ी कुछ नहीं। साहूकार ने बहुत दिन हो गए, पैसा न दिये थे नालिस कर दी। अदालतमें बयान हुए। तो जज बोला कि तुमने रुपये कहां दिये थे, बोला कि एक जंगलमें दिये थे। उस समय और कौन था गवाह? कोई न था हम थे, यह था और बरगदका पेड़ था, जिसके नीचे बैठकर रुपये थे। तो वह झूठमूठ नाराज होकर बोला कि ऐ साहुकार, तुम इसको ठगना चाहते हो, तुम अपने पेड़को बुला कर लावो। वह पेड़ के पास गया। तो जरा देरमें वह आ न पाया तो जज कहता है कि यह बदमाश है, अभी पेड़को बुलाकर नहीं हाजिर हुआ। कर्जदार पुरुष जल्दी में कह गया कि महाराज! वह पेड़ तो यहांसे तीन मील दूर है। जजने मालूम कर लिया कि हां उसने इसे रुपये दिए हैं। तो कहीं पेड़ने नहीं बताया, उसने तो अपने ज्ञानसे ही जान लिया।

देहरूप इन्द्रजाल—ये वर्णादिक यदि कुछ जानते होते तो या तो विडम्बना बनती या एकदम सच्चाई पैदा हो जाती। ये वर्ण जानते नहीं हैं और यह वर्ण है क्या चीज? आंखोंसे तो बढ़िया दिखते हैं और इनको थोड़ा पकड़ने जावो तो पकड़नेमें नहीं आते हैं। क्या है यह रूप और यहां तो कुछ समझमें भी थोड़ा आता है कि यह रंग लगा है, यह अटपट क्या है? इस शरीर पर तो कुछ समझमें ही नहीं आता। न चूना जैसा उखड़े, न हाथमें आये किन्तु कोई काला है, कोई गोरा है, कोई मिलता है नहीं। यह रूप कुछ जानने वाला है क्या? जब आदमी सो जाते हैं तो चोर लोग बेखटके चोरी करते हैं वे जानते हैं कि ये सो रहे हैं, यह शरीर तो जान ही नहीं रहा है। जाननहार तो शरीरमें आत्मा है यह मुर्दा नहीं। यह वर्ण नहीं जानता है।

वर्णकी पुद्गलमें तन्मयता व ज्ञानसे भिन्नता—वर्ण पुद्गलद्रव्यके वर्ण गुणकी स्वतंत्र-स्वतंत्र पर्याय है काला, पीला, नीला, लाल, सफेद, हरा,

स्वतंत्र रंग नहीं है। नीला और पीला मिलानेसे हरा बनता है। तो यह वर्ण पर्याय और वर्ण नामक गुण यह पुद्गलमें ही तन्मय है। आत्मासे इसका सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान इस वर्ण विषयको जाने भी तो ज्ञान एक वर्ण विषय आया, पर यह ज्ञान खुद वर्ण नहीं बन गया। वर्ण आकारका बनना, वर्ण ज्ञेयका झलकना यह ज्ञानगुणका ही एक परिणमन है, वर्णका परिणमन नहीं है। यहीं बैठे-बैठे पचासों चीजोंको जान लें तो यह हमारी कला है, हमारी परिणति है। हममें पचासों चीजें आ नहीं जाती हैं, या पचासों चीजोंका असर नहीं है। वर्णादिक पदार्थ सब भिन्न हैं। यह मैं ज्ञान मात्र आत्मा भिन्न हूं। वर्ण अन्य चीज है और ज्ञान अन्य चीज है। इसी प्रकार गंधके विषयमें बतला रहे हैं कि गंध भी ज्ञान नहीं है।

गंधो णाणं ण हवइ जम्हा गंधो ण जाणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥३९४॥

गंध और ज्ञानका व्यतिरेक— गंध ज्ञान नहीं होता है क्योंकि गंध कुछ जानता नहीं है। कैसा यह विषयोंका खेल है कि अन्तरमें तो यह आत्मा है जो मात्र जाननहार है और ये विषय भी कितने सूक्ष्म हैं कि देखो गंध को कोई न पकड़े, न देखे, न दूसरेको दे दे, किन्तु गंधके ये परमाणु नाक में प्रवेश करते हैं और नाकमें किस जगहसे वास आने लगती है ? कोई ऐसी एक जगह है थोड़ा अन्दरमें आंखसे कुछ नीचे कि जिसका स्पर्श होते ही गंधका ज्ञान होने लगता है। यह गंध पुद्गल द्रव्यका गुण है। पुद्गलकी पर्याय है। बिल्कुल जुदा है।

गंध और गंधसंबंधित तत्त्वोंसे ज्ञानका व्यतिरेक—भैया ! ज्ञान चेतन है, गंध अचेतन है। चेतन और अचेतनका तीन कालमें भी मेल नहीं हो सकता अर्थात् वे कभी एक नहीं हो सकते। न गंधवान द्रव्य मैं हूं, न गंध गुण मैं हूं, न गंध पर्याय मैं हूं, और गंधका जो ज्ञान किया जा रहा है द्रव्येन्द्रिय द्वारा और भावेन्द्रियरूपसे गंधरूपसे प्रतीत हो रहा है वह भी मैं नहीं हूं। मैं सब को जानता हूं, तिस पर भी मैं सर्वरूप नहीं हूं। सर्वको जानकर भी मैं मैं ही रहता हूं और सब सब ही रहते हैं, ऐसा तत्त्वभेद है। तो ज्ञेय और विषयका साथ है पर यह अपनी ही जगह पर पड़े-पड़े कल्पना करके बेचैन होता है और अन्तरमें कितनी ही कल्पनाएँ बना डालता है।

भोगकी व्यर्थता—अरे इन विषयोंके भोगने में क्या सुख है ? लेकिन इस मोही जीवको भोगते समय बस वही-वही सार मालूम होता है, वही सुखमय प्रतीत होता है। खा चुकनेके बाद फिर तो यह खबर आ सकती है कि न मिष्ठ खाते साधारण खाते, तो ठीक था, क्योंकि पेटमें

पहुंचने पर मीठा कड़ुवा सब बराबर। कोई चाहे कि बंदर और ऊँटकी तरह पेटमें से निकाल-निकालकर स्वाद लेते जाएँ। बंदर और ऊँट पेटमें से नहीं निकालते किन्तु वे दाढ़के पास भर लेते हैं। थोड़ा तो हम आप भी भर लेते हैं पर ज्यादा नहीं, आधा, कौर किसी दाढ़के नीचे रख सकते हैं और धीरे-धीरे जरा-जरा खाकर स्वाद ले सकते हैं, पर इस बंदरका और ऊँटका बड़ा खजाना है दाढ़के पास। वे तो इतना भर लेते हैं कि कहो बड़ी देर तक खाते रहें। ऐसा अगर पेटका हिसाब होता तो बड़ा अच्छा था, कैसे कि यहाँ खूब खाया और दो तीन दिन तक थोड़ा-थोड़ा निकाल कर स्वाद लेते रहते। तो बतलावो भोग भोगने के बाद फिर क्या है? भोगा और न भोगा बराबर है। बल्कि भोगोंमें पछतावा ही रहता है।

भोगसे बरबादी—भैया! भोगको भोगनेकी स्थिति तो सुहावनी मालूम होती है, उस समय तो सुहावना लगता है पर बादमें उनसे विपदा ही आती है। परकी ओर दृष्टि है सो बेचैनी बराबर चलती रहेगी। अपनेको भूले हुए हैं। वस्तुतः पदार्थ तो अलग ही पड़े रहते हैं, पर मोह की इतनी तीव्रता है कि कुछ भी ख्याल नहीं है। सो उसीका स्वाद लेते हैं और उसमें आशक्त रहते हैं। यह गंध ज्ञान नहीं है। कैसा गंधका शौक है, बना बनाकर अच्छे तेल मिलाएँ। कुछ ऐसे कागज भी बन गए हैं कि जेबमें धर लिया और खुशबू ले रहे हैं। कितने शृङ्गारके साधन बने हैं कि जरासी नाकमें बदबू आ जाय, इसके लिए न जाने क्या-क्या करते हैं? इसके बाद मिलता कुछ भी नहीं। खुशबूसे स्वास्थ्य नहीं बढ़ता, बल्कि कहीं खुशबू ऐसी तेज होती है कि जिसमें रहकर कहो दुर्बलता आ जाय। जो गंधीगर होते हैं वे देखो खुशबूमें ही बने रहते हैं पर उनका चेहरा मुरझाया बना रहता है। इस जीवको उससे लाभ क्या है? हो गया सामान्यतया ठीक है। स्वच्छ हवा होनी चाहिए। पर कितना उस ओर लोग आसक्त रहते कि उन भिन्न-भिन्न प्रकारके तेलोंसे अपनी अलमारी सजा देते हैं।

यह गंध ज्ञान नहीं है और गंध विषयका जो विकल्प हो जाय वह भी ज्ञान ज्ञान नहीं है, किन्तु ज्ञानने जो ज्ञानवृत्ति की है वह ज्ञान है। गंध अन्य चीज है और ज्ञान अन्य चीज है। चेतन और अचेतनका मेल क्या? इस ही प्रकार रस गुणकी बात है।

> ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणए किंचि।
> तम्हा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥३९५॥

रस और ज्ञानमें व्यतिरेक—रस ज्ञान नहीं होता है क्यों कि रस

जानता कुछ नहीं है। यह मोही जीव रस लेते समय इसको कुछ नहीं जानता किन्तु कल्पनासे रसमें एकमेक बनकर एक कल्पित सुखका अनुभव लूटा करता है। उसे यह खबर नहीं है कि यह रस गुण भिन्न चीज है और यह मैं अनुभवन वाला, स्वाद लेने वाला, ज्ञान करने वाला कोई भिन्न वस्तु हूं। आत्मामें है ज्ञान रस। इसने अपने ज्ञानरसको खो दिया है और यह पौद्गलिक रसोंका भिखारी बन गया है।

संतोषरूप भोजनरसका महत्त्व—भैया! धैर्य हो तो रूखा सूखा भोजन हो, उसमें भी स्वाद है, रसवान हो तो उसमें भी उतना ही स्वाद है। विवेक और धैर्य हो तो दोनोंके स्वादोंमें समता रहती है। कभी बड़े साधुजन रूखे सूखे चौकेमें आहार कर जायें तो बताया है कि रूखा भोजन भी रसीला हो जाता है। जो खायेगा उसे ही उसमें रस मालूम होता है और ऋद्धिमें तो घृत और दुग्ध का भी स्वाद आने लगता है। भावोंका भी बड़ा महत्त्व है। तृष्णा हो तो उसे रसीले भोजनमें भी संतोष नहीं और न तृष्णा हो तो साधारण भोजनमें भी संतोष होता है। रही स्वास्थ्यकी बात। बोलते हैं आजकल फलां विटामिन खावो। अरे संतोष पूर्वक कुछ भी खावो उससे स्वास्थ्य बनेगा। कोई विटामिनकी तृष्णासे खूब बादाम चबा डाले तो दूसरे दिन ही उसे सब कसर मालूम पड़ जायेगी। पेट दर्द हो जायेगा। संतोषपूर्वक जो भी खानेमें आता है उसमें ही स्वास्थ्य बढ़िया हो जाता है।

विवेकीके रसमें अनासक्ति—रस रसकी जगह है, आत्मा आत्माकी जगह है, रस पुद्गल द्रव्यका गुण है। रस पुद्गलकी पर्याय है, उससे आत्माका सम्बन्ध नहीं है और विटामिन तो कभी-कभी लंघन भी बन जाती है। वैद्य दवा देते हैं तो कहते हैं कि भोजन न खाना। न खाया तो लो वह लंघन शक्तिदायक हो गई, विटामिन बन गया। ठीक हो गया। तो प्रकृतिसे रहने पर और साधारण रहन सहन भोजनादिकमें वे सब तत्त्व बने हुए हैं जो इसको अपने स्वास्थ्यके लिए चाहियें। रसकी आसक्ति भी इतनी कठिन आसक्ति है कि उतने समयमें निज स्वरूपके स्मरणकी पात्रता नहीं रहती है।

ज्ञानीकी दृष्टिमें भोजन एक संकट—भैया! भोजनसे पहिले लोग णमोकारमंत्र पढ़ते हैं और बादमें भी पढ़ते हैं। तो ज्ञानीजन तो इसलिए णमोकार मंत्र पढ़ते हैं कि भोजन करने की आफतमें हम पड़ रहे हैं, जहां हम अपने आपको भूल जायेंगे, इस लिए भगवानका यहां स्मरण किया जा रहा है कि मैं वहां भी अपना लक्ष्य बनाए रहूं। उसकी रसमें आशक्ति नहीं होती, परन्तु शायद मोहीजन इसलिए पढ़ते होंगे कि हे भगवन

तुम्हारे प्रसादसे बढ़िया हलुवा पूड़ी मिले। अन्तमें भी ज्ञानी यह समझ कर णमोकारमंत्र पढ़ता है कि यह मुझसे दोष बना है, सो माफ हो और अज्ञानी भगवानको शायद आशीर्वाद देनेके लिए पढ़ता होगा कि हे भगवन्! आपका नाम लेने पर मुझे स्वादिष्ट भोजन मिला है। तो रस ज्ञान नहीं है, रस अन्य है, ज्ञान अन्य है, ऐसा संत जन कहते हैं।

ज्ञानमें रसका अत्यन्ताभाव—ज्ञान रस नहीं है। रस पुद्गलद्रव्यसे भिन्न है। रस गुण आत्मामें नहीं पाया जाता है। पुद्गलद्रव्यसे यह ज्ञानमय आत्मतत्त्व अन्य है। आत्मामें तो ज्ञानगुण है जो कि पुदगल द्रव्यके रसगुण से अत्यन्त जुदा है। जिस समय यह जीव, मोही पुरुष किसी फलमें रसका स्वाद लेता है वहां यद्यपि यह उपयोगमें एकमेक बनाता है, लेकिन निरन्तर रस अपने द्रव्यमें ही तन्मय है और ज्ञान अपने ही द्रव्य में तन्मय है। जैसे अपने-अपने शरीरकी कैदमें कैदी होने पर भी प्रेमी लोग अपना उपभोग दूसरोंमें डालते हैं और दूसरेको अपनेमें एकमेक मानने हैं, याने फिर भी उनका कैदखाना न्यारा-न्यारा है। इस प्रकार यह ज्ञानगुण अपने स्वरूपमें केन्द्रित है। यह परवस्तुमें अपना उपयोग देकर चाहे अपनेको रीता मान ले और परमें गया हुआ मान ले, फिर भी ज्ञान अपने स्रोतभूत अपने आत्मामें ही रहता है और रस अपने स्रोतभूत पुद्गलमें ही रहता है।

ज्ञानके रसका स्वामित्व, अधिकारित्व व भोक्तृत्वका अभाव—यह रसका स्वामी भी नहीं है, फिर यह रस कैसे बने? रसका स्वामी वह है जिसमें रस शाश्वत रहे। रस गुण आत्मासे नहीं परिणमता है और आत्मामें शाश्वत रहनेका तो कोई सवाल ही नहीं है। यह रस द्रव्येन्द्रियके द्वारा जाना जाता है। इतने मात्रसे कहीं रस ज्ञान नहीं बन जाता। द्रव्येन्द्रिय भी अचेतन है, रस भी अचेतन है, ज्ञान चेतन है, यह न्यारा है और रस न्यारा है। यह ज्ञानरसका ज्ञान करता है। इस कारण रसको ज्ञानरूप मानने का भ्रम लग गया तो वह भी एक व्यामोह है। क्या यह आत्मा केवल रसको ही जानता है? यह तो अन्य सब ज्ञेयोंको भी जानता है, यह तो शुद्धात्मक हो गया। सबको जानकर भी उन रूप परिणमता नहीं है। ज्ञानरसको जानकर भी रसरूप परिणमता नहीं है। जैसे हमने चौकी, को जान लिया तो क्या हम चौकीरूप परिणम गए? नहीं। तब चौकी, चौकी है और ज्ञान, ज्ञान है। इसी तरह रस, रस है और ज्ञान, ज्ञान है।

पुद्गलके गुणका आत्मगुणत्व होनेका त्रिकाल अभाव—भैया! यह रस कुछ जानता नहीं है। इस कारण रस ज्ञानगुण नहीं हो सकता। ऐसा जिनेन्द्रदेवके आगममें बताया गया है। और कुछ प्रज्ञाका उपयोग करे तो

यह बात अपनेको भी विदित हो जाती है कि पुद्गलका गुण पुद्गलको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं रहता है। तब पुद्गलका रस गुण ज्ञानमें अथवा ज्ञानीमें कैसे चला जायेगा? ज्ञान रसके आकारको ग्रहण करता है पर रसरूप नहीं हो जाता। न रस ज्ञानमें आता है और न ज्ञान रसमें जाता है। इस मर्मका मोही जीवको कुछ पता नहीं है। वह तो खाता हुआ अपने सारे अंगोंको टन्नाकर एक चित्त होकर मस्त रहता है, ओह मैंने बहुत मिष्ट भोजन किया। ज्ञानीकी बातको अज्ञानी कहां पा सकता है ज्ञानी रसका ज्ञान करता हुआ भी रसमें अनासक्त है और अपने आत्माकी रुचिमें अन्तर नहीं डालता है। जब कि अज्ञानी जीव भूतकालके भोगे हुए रसमें भी शान बगराता है और वर्तमानकालके रसको भोगता हुआ अपना बड़प्पन मानता है और भावीकालके भोगके ख्यालमें अपने वर्तमान समयका भी दुरुपयोग करता है।

ज्ञानी और अज्ञानीके आशयका आहारविषयक अन्तर—देखा होगा जिनके खाने की बड़ी तीव्र रुचि है उनके घरमें बस खाने ही खानेका सारा कार्यक्रम रहता है। खाना तो जिन्दगीको रखनेके लिए है और जिन्दगी धर्मकी साधनाके लिए है और धर्मकी साधना शरीरके सारे संकट और अशुद्धियोंको मिटाने के लिए है। एक वह पुरुष है जो जीनेके लिए खाता है और एक ऐसा पुरुष है कि जो खानेके लिए जी रहा है। इस आत्माके और उस आत्माके आशयमें कितना अन्तर है? यहां वस्तुस्वरूपको स्वतंत्रताकी दृष्टिसे निरखें तो रस रसमें है, ज्ञान ज्ञानमें है, रस ज्ञान गुण नहीं होता।

अब यह बतलाते हैं कि यह रस ज्ञान नहीं है, ऐसे ही स्पर्श भी ज्ञान नहीं है। किसी इष्ट और अनिष्ट स्पर्शको छूकर तुरन्त ही यह जीव ज्ञान करता है और अज्ञानमें स्पर्श और ज्ञानका विवेक नहीं कर पाता। यहां आचार्यदेव कहते हैं कि स्पर्श भी ज्ञान नहीं है।

फासो ण हवइ णाणं जम्हा फासो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं फासं अण्णं जिणा विंति ॥३९६॥

स्पर्श और ज्ञानमें व्यतिरेक—स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श कुछ जानता नहीं है। इस कारण ज्ञान अन्य है और स्पर्श अन्य है; ऐसा जैन आगममें बताया है। इस प्रकरणमें इन ५ इन्द्रियोंके ५ विषयोंमें सबसे पहिले शब्दका वर्णन किया था कि शब्द ज्ञान नहीं है और सबसे अंतमें स्पर्शका वर्णन कर रहे हैं कि स्पर्श ज्ञान नहीं है। शब्द तो इस जीवके किसी उलझनमें आने के लिए एक पहिला धंधा है। मनुष्योंको समझाया जा रहा है, इसलिए पंचइन्द्रियोंकी बात कही है, उनमें सबसे पहिले शब्द

की बात रखी है और अंतमें स्पर्शकी बात रखी है। यह जीव सबसे अधिक आसक्ति स्पर्शमें रखता है और यह स्पर्श विषय बड़ी निकटताको लेकर सोता है। आग पड़ी है, आंखों दिख रही है। कोई यह कह दे कि आग गरम नहीं है आग तो ठंडी हुआ करती है, उसे कितना ही समझावो समझ में नहीं आता ? और समझमें न आये तो आगका एक तिलगा उठाकर हथेलीमें धर दो, फिर तो तुरन्त कहेगा कि अरे रे रे, हाँ आग गरम है। कैसा बढ़िया स्पष्ट बोध होता है ? कसर रही हो तो और ज्ञान करा दो कि पूरी गरम है।

स्पर्शविषयक सर्वचेष्टाओंमें ज्ञानका अत्यन्ताभाव—स्पर्शका अलंकार अनुभवको दिया जाता है। आत्माका स्पर्श करना अर्थात् आत्माका अनुभव करना। जिस आत्माके अनुभवमें बड़ी निकटताका बोध होता है, ऐसे ही इन बाह्य बोधोंमें स्पर्शका बोध बड़ी निकटतासे होता है और इस स्पर्शके विषयमें ठंडा गरम आदिकके छूनेकी ही बात नहीं कही गयी किन्तु इसमें काम भोगकी भी बात गर्भित है। उन सबमें जो ज्ञान होता है उस ज्ञानके समयमें यह जीव अपने ज्ञानसे अपनेको न्यारा नहीं समझ सकता है। यह स्पर्शविषयक जितना भी ज्ञान है वह ज्ञान भी ज्ञान नहीं है परमार्थसे और स्पर्श तो प्रकट अचेतन है। वह अचेतन स्पर्श ज्ञान कैसे होगा ? स्पर्श भिन्न चीज है और ज्ञान भिन्न चीज है। अब पंचइन्द्रियों के विषयका वर्णन करके द्रव्योंके सम्बन्धमें कह रहे हैं कि यह ज्ञान अन्य द्रव्योंरूप भी नहीं है।

कम्मं ण हवइ णाणं जम्हा कम्मं ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९७॥

कर्मका ज्ञानमें अत्यन्ताभाव—कर्म ज्ञान नहीं है, क्योंकि कर्म अचेतन है। वह कुछ जानता नहीं है, इसलिए ज्ञान भिन्न बात है और कर्म भिन्न बात है। लोग तो यहां तक कह डालते हैं कि ज्ञान भी कर्मसे मिलता है, भाग्यसे मिलता है। भाग्य बड़ा हो तो ज्ञान मिलेगा, परन्तु ज्ञान भाग्यसे नहीं मिलता, बल्कि भाग्यके फूटनेसे मिलता है। आनन्द भी भाग्यसे नहीं मिलता, किन्तु भाग्यके फूटने से मिलता है। शायद कुछ लोगोंको बुरा लगा हो कि हमको कह रहे हैं कि इनका भाग्य फूट जाय। अरे भाग्य फूट जाय तो सब लोगोंको तुम्हारे हाथ जोड़ने पड़ेंगे। यदि बहुत ही भाग्य फूट जाय तो बड़े बड़े मुनीश्वर राजा महाराजाओंको तुम्हारे हाथ जोड़ने पड़ेंगे।

कर्मका विवरण—भाग्य मायने है कर्म। जिन्हें पुण्यके फलमें रुचि है उन्हें भाग्यके फूटनेकी बात नहीं सुहाती। पर जिसे सुख और दुःख

एक समान मालूम होते हैं और सुख दुःखका कारणभूत पुण्य और पाप भी एक समान विदित होते हैं तथा पुण्य पापका कारणभूत शुभभाव और अशुभ भाव एक समान विदित हुए हैं वही ज्ञानी संत ऐसा साहस कर सकता है कि मुझे एक भी कर्म न चाहिए। मुझे यह कर्म अवस्था हित रूप नहीं है। ये कर्म कार्माणवर्गणाएँ नामक पुद्गल है। इन वर्गणाओंमें ऐसी योग्यता है कि जीवके विभावका निमित्त पाये तो यह कर्मरूप हो जाता है।

कर्मका कर्मसे बन्धन—देखिए कर्म-कर्मसे ही बँध गए हैं, जीवसे बँधे हुए नहीं हैं। वे बँधे हुए कर्म जीवके साथ निमित्तनैमित्तिक रूप बंधनको लिए हुए हैं। एक तो बंधन होता है मिलकर, जुड़कर और एक बंधन होता है इस निमित्तनैमित्तिक भावका लगना। इस शरीरका बंधन है मिलकर भिड़कर जुड़कर और हमारा किसीसे वात्सल्य हो, प्रीति हो तो हमारा उसका भी बंधन हो गया। वह बंधन, भिड़कर, मिलकर जुड़कर नहीं है किन्तु निमित्तनैमित्तिक रूप है। इसका एक मोटा दृष्टांत लीजिये जैसे गिरमेसे गाय बाँधी जाती है तो गिरमाका बन्धन मिलकर जुड़कर, भिड़कर, इठकर गाँठ उस गिरमासे ही है, गायसे नहीं है, पर गिरमाका और गायका बंधन निमित्तरूप है। जैसे गिरमाका एक छोर दूसरे छोरके साथ बाँध दिया जाता है, गाँठ लगा दी जाती है, ऐसी ही गाँठ कर्मोंकी कर्मोंसे जुड़ी हुई है। इसलिए जुड़कर मिलकर भिड़कर बंधन कर्मका कर्मके साथ है और उन पुद्गल कर्मोंका जीवके साथ बंधन निमित्तनैमित्तिक भावके रूपमें है।

उदयागत कर्ममें कर्मबन्धनकी निमित्तता—चूँकि कर्मका बन्धन कर्मसे है, इसी कारण सूक्ष्मदृष्टिसे आप जानेंगे कि नवीन कर्मोंके बंधनका निमित्त उदयागत कर्म है। जीवके रागद्वेष मोह भाव नहीं है, पर उदयागत कर्मोंमें नवीन कर्मोंके बंधनका निमित्तपना आ जाय, इस बातका निमित्त होता है जीवका रागद्वेष मोह भाव। जैसे मालिक तो कुत्तेको सैन करता है—छू-छू और सीधा आक्रमण करता है कुत्ता। ऐसे ही रागद्वेष मोह भाव तो उदयागत कर्मोंको सैन करता है, सीधा निमित्त बनना, आक्रमण करना, नवीन कर्मोंका लेना, ये सब कलाएँ बनती हैं उदयागत कर्मपुद्गलों में। ये कर्म कार्माणवर्गणा जातिके पुद्गलद्रव्य हैं, इनमें कर्मत्वरूप होने की योग्यता है, इस प्राकृतिकतासे सब हैरान हो गये। यह बात नहीं बदली जा सकती है। कृत्रिमता अपने मनकी कल्पनाके अनुसार दृष्टपदार्थों में बना लीजिए, किन्तु यह प्राकृतिकता नहीं टाली जा सकती है। निमित्त-नैमित्तिक भावका सही रूपमें बनना इसे कौन टाल सकता है? जैसे कर्मों

के उदयके निमित्तसे जीवमें विभाव होते हैं ऐसे ही जीवके शुद्ध भावोंके निमित्तसे अनन्तभवोंके बाँधे कर्म भी क्षणमात्रमें खिर जाते हैं।

अनन्त भवोंके बद्ध कर्मोंके वर्तमानमें सत्त्वकी संभवता—आप कहेंगे अनन्त भवोंमें बाँधे कर्म कैसे ? तो इतना तो अंदाज होगा कि ६०-६५ कोड़ाकोड़ी सागर तककी स्थितिके कर्म तो होंगे, हो सकते हैं। अब यह ५०, ६० कोड़ाकोड़ी सागर कितना समय होता है, उन समयोंके बीच में जरा एक सागर तक ही यह निगोद अगर बन जाय तो कितने भव हो जायेंगे ? जो अवधिज्ञानके विषयसे परे है उसका भी नाम अनन्त है। एक अनन्त उसे कहते हैं जिसका अंत न हो और अनन्त नाम उसका भी है जो अवधिज्ञानके विषयसे परे हो।

दृश्योंकी प्राकृतिकता—जब कभी लोग कहते हैं पहाड़ नदियोंका दृश्य देखकर शिमला मंसूरीकी घाटी निरखकर कि देखो कितना सुहावना प्राकृतिक दृश्य है ? यह सब प्रकृतिका खेल है। प्रकृतिका खेल, इसका क्या मतलब ? कुदरतका खेल। तो यह प्रकृति और कुदरत क्या है जिसकी यह सृष्टि है, खेल है, रचना है ? यह सब प्रकृति कर्म प्रकृति है, रंगबिरंगे फूलोंका होना, झाड़ियां, लतावोंके रूपमें इन वनस्पतिकायोंका फैलाव, नुकीले पाषाणोंका बनना. वृक्ष और हरियालीका खूब होना, यह सब प्रकृतिका ही तो खेल है। विभिन्न कर्म प्रकृतियां, उनके उदयमें स्थावर कायकी ये विभिन्न रचनाएँ हैं। उन्हीं बनियोंमें चिड़ियां भी चैंचैं करती हों, तालाब भी बना हो; सारस, हंस भी कल्लोल कर रहे हों, ये सब भी तो प्राकृतिक दृश्य हैं। उनमें भी सब कर्मप्रकृतिका परिणाम है। तो जो यह सब सुहावना लगता है यह कर्म प्रकृतिका खेल है। इसीको प्रकृति कहते हैं, कुदरत कहते हैं, प्राकृतिक दृश्य कहते हैं।

कार्माण वातावरण—भैया ! एक ऐसा सूक्ष्म कार्माण वातावरण है कि जहां जीवने रागद्वेष विभाव किया कि उसकी सैन पाकर उदयागत पुद्गल नवीन कर्म बंधका कारण हो जाते हैं। ऐसे ये कर्म जो जीवमें एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित हैं और इतना निकट सम्बन्ध है कि जैसे घड़ी की चाभी भर दें और घड़ीका ख्याल भी न रहे तो भी घड़ी अपना काम नहीं रोक सकती। इसी तरह ये कर्म जहाँ जैसे बद्ध हैं और ये विभाव हैं, इनका परस्पर जहां जैसा निमित्तनैमित्तिक योग है, यह सब काम चल रहा है। मनुष्य यशके लिए बड़ा श्रम करता है और अन्तरमें हो अयशः कीर्ति प्रकृतिका उदय तो अयश ही चलता है। लोग इष्ट विषय चाहते हैं और हो असातावेदनीयका उदय तो वह इष्ट सामग्री नहीं मिलती। जो न चाहिए ऐसे ही अनिष्टका समागम होता है, इसमें इतना निकट सम्बन्ध है।

निकट सम्बन्ध होनेपर भी कर्मकी ज्ञानसे भिन्नता—जीवका कर्मके साथ निकट सम्बन्ध होने पर भी यह भ्रम नहीं करना कि कर्म ज्ञान है अथवा कर्म प्रभु है या मेरा पालनहार है, वह तो अचेतन है। कर्म कुछ जानता नहीं है। इस कारण कर्म न्यारा पदार्थ है, ज्ञान न्यारा पदार्थ है। इस कर्मका रंग किसी ने देखा है? नहीं देखा होगा। इस कर्मका रंग सफेद बताया है। जब यह जीव मरकर दूसरे भवमें जाता है तो रास्तेमें उस कार्माण शरीरका शुक्ल रंग बताया है। करणानुयोग जानने वाले समझते होंगे कि कार्माणशरीरका शुक्ल रंग है, और कुछ ऐसा अनुमान आता है कि जो सूक्ष्मसे सूक्ष्म स्कंध हों उन्हें सफेद रंग पसंद है। पर वह दिख नहीं सकता। उन ६ प्रकारके स्कंधोंमें सूक्ष्म स्कंध बताये गये हैं। ये कर्म जो कि रूप रस गंध स्पर्शमय हैं, इस आत्माके साथ, जब मानी हुई दुनियासे बिलगाव बन गया है याने मरकर जीव अन्य भवमें जाता है तो साथ जाता है, ऐसा अत्यन्त निकट सम्बन्ध वाला भी कर्म ज्ञान नहीं है। कर्म अन्य तत्त्व है, ज्ञान अन्य तत्त्व है। ऐसा जैन आगममें स्पष्ट बताया है। इसलिए कर्म मात्रसे राग मत करो, चाहे शुभ कर्म हों, चाहे अशुभ कर्म हों, वहाँ आत्माकी स्वच्छताका आवरण होता है, उनसे विविक्त ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका ही अनुभव करनेका यत्न करना चाहिए।

शुभ अशुभ कर्मोंके ज्ञातृत्वकी प्रेरणा—कार्माणवर्गणा जातिके द्रव्य कर्म ज्ञान नहीं हैं, क्योंकि वे कुछ जानते नहीं हैं। द्रव्य कर्मके उदयका निमित्त पाकर होने वाला भावकर्म भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह कुछ जानता नहीं है। इस कारण ज्ञान अन्य बात है और कर्म अन्य बात है, ऐसा जानकर किसी भी प्रकारके कर्ममें चाहे वह पुण्य कर्म हो अथवा पापकर्म हो, चाहे वह शुभ भावकर्म हो, चाहे वह अशुभ भाव कर्म हो, ये सब चेतना जातिसे परे हैं। इस कारण इनमें किसीमें भी रागबुद्धि और विरोध न करो किन्तु सबके ज्ञाता द्रष्टा रहो।

सकलकर्म भेदभावना—कार्माण द्रव्य, कर्म अथवा ये भावकर्म अपनी पदवीके अनुसार ये अशुभ अथवा शुभरूपसे बँधते रहते हैं। शुभ और अशुभ दोनोंका बंधन तो दशम गुणस्थान तक सम्यग्दृष्टिके भी चलता रहता है। घातियाकर्म बँधते हैं दशम गुणस्थान तक। तो घातिया कर्म क्या पुण्य कर्म हैं? घातिया कर्मको पाप कर्म माना गया है और साथ ही विशिष्ट पुण्य कर्म भी बँधता है। सो बँधने वाले कर्म तो दृष्टि ध्यानमें नहीं हुआ करते हैं, जो भावकर्म हैं वह भाव कर्म अनुभवनके रूपसे आता है, उन्हें यह भिन्न समझता है, अपने को केवल चैतन्य मात्र मानता है।

सकलकर्मभेदभावना—अब धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन चार अमूर्त पदार्थोंके सम्बन्धमें भेदविज्ञानका वर्णन चलेगा, उनमें प्रथम कहते हैं—

धम्मो णाणं ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९८॥

धर्मद्रव्य और ज्ञानमें व्यतिरेक—धर्म ज्ञान नहीं होता है क्योंकि धर्म जानता कुछ नहीं है। धर्मसे यहाँ प्रयोजन धर्मास्तिकायसे है। धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य ज्ञानरूप नहीं है। इस ज्ञानमें धर्मास्तिकाय ज्ञेय तो होता है पर धर्मास्तिकायको जाननेके कारण कहीं यह ज्ञान धर्मास्तिकाय नहीं बन जाता है। लोगोंकी ऐसी प्रकृति है कि वे जिस ज्ञेयको जानते हैं वे उस ज्ञेयरूप अपनेको मानते हैं अथवा दूसरेको कहते भी हैं। जैसे कोई चने बेचने वाला जा रहा हो तो चने खानेकी इच्छा वाला पुरुष उसे यों कह कर बुलाता है कि ऐ चने ! यहाँ आवो, और वह चने वाला खड़ा होकर अपनी ठेलीके चनोंसे कहे कि ऐ चनो, जावो तुम्हें अमुक बुला रहा है ऐसा नहीं देखा जाता है। उसने बुलाया और वह पहुंच गया, यहाँ तो चनेका और पुरुषका निकट सम्बन्ध भी नहीं है, फिर भी वह आदमी चना बन गया। उसे लोगोंने चना बना डाला। यों ही ज्ञेय पदार्थसे इस ज्ञान का कोई संबंध नहीं है, लेकिन यह मोही प्राणी अपनेको ज्ञेयभूत बना डालता है।

तत्त्वचर्चामें विवादका कारण ज्ञेयविकल्पमें आत्मत्वका प्रत्यय—जब धर्मास्तिकायके बारेमें चर्चा हो रही हो—एक कोई कहे कि धर्मद्रव्य नहीं है, न मानो धर्मद्रव्य तो क्या हर्ज है, दूसरा कोई धर्मद्रव्यकी सिद्धि कर रहा है अथवा धर्मद्रव्यमें निमित्तके सम्बन्धमें चर्चा चल रही है और चर्चा चलते-चलते कुछ गरमागरमी हो जाय, झगड़ा तू तू बन जाय, तो भाई बतावो यह झगड़ा किस बात पर हो गया ? इस बातपर हो गया कि अपने को धर्मास्तिकाय मान लिया। धर्मके सम्बन्धमें जो बात हम कह रहे हैं उसको दूसरा न माने तो वह इतना अधिक महसूस कर डालता कि मानो वह बीमार ही हो गया। वह यों सोचता है कि मैं कुछ भी नहीं रहा। तो ज्ञेय पदार्थोंके जाननेमें भी यह आत्मा ऐसा भ्रममय हो जाता है कि अपने सत्त्व को मना कर डालता है और ज्ञेयरूप बन जाता है।

धर्मद्रव्यका संक्षिप्त विवरण—यह धर्मद्रव्य एक अमूर्त पदार्थ है, समस्त लोकाकाशमें एक है और व्यापक है। यह चलते हुए जीव पुद्गल के चलनेमें सहकारी कारण होता है अर्थात् निमित्त होता है। निमित्तका और उपादानका परस्परमें अत्यन्ताभाव है, तभी ये निमित्त कहलाते हैं

और यह उपादान कहलाता है। एक हो जायें इनमें कोई किसीको करने लगे। भोगने लगे तो निमित्त उपादानकी संज्ञा नहीं रह सकती। निमित्त और उपादान की संज्ञा रह सकती है तो इस ही बातका द्योतन करके रह सकती है कि निमित्तका और उपादानका परस्परमें अत्यन्ताभाव है।

धर्मद्रव्य व आत्मामें सादृश्य व वैलक्षण्य--यह मैं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व चेतन हूं, धर्मास्तिकाय मैं नहीं हो सकता। यद्यपि धर्मास्तिकाय और मुझ में अनेक बातोंका सादृश्य है। धर्मद्रव्य अमूर्त है तो मैं भी अमूर्त हूं। धर्मद्रव्य असंख्यातप्रदेशी है और मैं भी असंख्यातप्रदेशी हूं। धर्मद्रव्य बाह्य जीव पुद्गलके गमनमें निमित्त होकर भी उनसे न्यारा रहता है और यह मैं भी अनेक पुद्गल परिणमनोंमें निमित्त होकर भी उनसे न्यारा रहता हूं। फिर भी एक असाधारण लक्षणका महान् अन्तर है जिससे धर्मद्रव्य और इस ज्ञानमात्र आत्मद्रव्यमें अत्यन्ताभाव बना हुआ है। यह मैं चेतन हूं और धर्मद्रव्य अचेतन है। मैं धर्मद्रव्य नहीं हूं और धर्मद्रव्य के सम्बन्धमें होने वाले जो विकल्प हैं वे विकल्प भी मैं नहीं हूं, वे विकल्प भी अचेतन हैं, किन्तु यह मैं ज्ञान स्वरस निर्भर चैतन्य पदार्थ हूं। इस कारण ज्ञान अन्य चीज है और धर्म अन्य चीज है, धर्मास्तिकाय अन्य पदार्थ है ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं। धर्मद्रव्यका भेद बताकर अब अधर्म द्रव्यके सम्बन्धमें कह रहे हैं।

णाणमधम्मो ण हवइ जम्हाऽधम्मो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥३९९॥

धम्माधम्म--यह धम्माधम्मकी चर्चा है। लड़के ऊधम करते हैं तो कहते हैं कि देखो इन लड़कोंने धम्माधम्म मचाया। धम्माधम्म उठने और ठहरनेके बिना नहीं होता। यहाँ धर्मद्रव्यका काम है उठने में, चलने में निमित्त होना और अधर्मद्रव्यका काम है ठहरने में निमित्त होना!

पदार्थोंकी सन्मात्रता--भैया! जरा सर्वव्यापी एक सिद्धान्तको मानने वालोंके दोस्त बनकर थोड़ा उनकी ही सिफारिश करते हुए एक इस तत्त्व के बावत सोचो और इस रूपसे सोचो कि आखिरकार वे ऋषि भी तो जानते हैं, बुद्धिमान् हैं, उनको यह बुद्धि क्यों हुई कि ये समस्त पदार्थ एक ब्रह्ममात्र हैं, दूसरे कुछ भी नहीं हैं। अब इसके बारेमें सोचिए जितने जो कुछ पदार्थ हैं उन सब पदार्थोंमें सामान्य रूपसे पाया जाने वाला धर्म एक अस्तित्व है, जिस अस्तित्वकी रक्षा करने वाले वस्तुत्व आदिक शेष गुण हैं। उस अस्तित्व साधारणगुणकी अपेक्षा सर्व विश्व सद्भावरूप है और उस सत्त्वके नाते चैतन्य व परमाणुमें भी रंच अन्तर नहीं है किसी पदार्थमें परस्परमें रंच अन्तर नहीं है। क्योंकि सर्व सन्मात्र

है। इस तत्त्वको दृष्टिमें रखकर जब देखो तो सब कुछ एक सत्स्वरूप प्रतीत हुआ। उस सत्का नाम ब्रह्म रखलो।

अर्थक्रियाकारिताकी दृष्टिसे भेद—यों सद्भावकी दृष्टिसे सब कुछ एक ब्रह्म है, यहां तक तो यह दृष्टि चली। अब जैन सिद्धान्त तो अर्थक्रिया-कारिताकी दृष्टिसे सत्के भेद करता है, पर सद्ब्रह्मवादियोंकी मित्रता निभानी हो तो थोड़ा अर्थक्रियाकारिताके विषयको न रखकर इस दृष्टिसे भेद करो कि जगत्में जो कुछ होता है वह षडात्मक होता है, नामात्मक, स्थापनात्मक, द्रव्यात्मक, क्षेत्रात्मक, कालात्मक और भावात्मक।

तत्त्वकी षडात्मकता—जैसे सामायिक ६ प्रकार की है—नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्यसामायिक, क्षेत्र सामायिक, कालसामायिक और भाव सामायिक। सामायिकका नियम है बैठ गये सामायिक करने, बच्चे भी पास बैठे हैं, बच्चे ऊधम मचा रहे हैं, सो बच्चोंको भी बैठाते जाते और माला भी फेरते जाते हैं—तो यह सब है नाम सामायिक। चलो नाम सामायिक तो किया। स्थापनासामायिक वह है कि सामायिक करते बने अथवा न बने, ऐसी बुद्धि हो कि मैं सामायिक कर रहा हूं। नाम सामायिक वालेको कुछ फिक्र नहीं रहती, उन्हें तो केवल सामायिकका नाम पूरा करना है। पर स्थापना सामायिक वाले को अपनी पोजीशनका कुछ ध्यान रहता है। अगर टेढ़े मेढ़े रही आसनसे सामायिकमें बैठे हों, दो आदमी पासमें आ जायें तो कमर जरूर थोड़ी ऊँची हो जायेगी, और आँखें बंद हो जायेंगी क्योंकि उन्हें स्थापनासामायिक करना है। द्रव्य सामायिक माला आदि लेकर करना अथवा सामायिक की विशेष तैयारी बनाना सो द्रव्यसामायिक है। क्षेत्रसामायिक—सामायिककी जगहमें, क्षेत्र में सामायिक करना अथवा योग्य क्षेत्रमें बैठनेके भावसे सामायिककी बात बोलना, सो क्षेत्रसामायिक है, और समय पर सामायिक होना और समय का सामायिकके भावसे सामायिक बनाना, सो कालसामायिक है और भावपूर्ण सामायिक, समतापूर्ण सामायिक करना सो भाव सामायिक है।

षडात्मकताका तथ्य व अलंकार—हर एक पदार्थमें ६ बातें लगती हैं नाम भगवान, स्थापना भगवान, द्रव्यभगवान, क्षेत्र भगवान, काल भगवान और भाव भगवान। यों ही मान लो सारा विश्व सद्ब्रह्म है। यद्यपि यह सद्ब्रह्म तिर्यक्सामान्य की अपेक्षा है, जातिमें है, निगम रूप है, फिर भी एक उस साधारणजातिसे बढ़ कर पहिले तो बनाया व्यक्तिका अलंकार फिर धीरे धीरे अलंकारकी बात भूलकर व्यक्तिरूप ही बन गया। जैसे हम आप कुछ एक एक हैं इस तरहसे उस सिद्धान्तमें एक सद्ब्रह्मपरिपूर्ण एक व्यक्ति है, जो सर्वत्र व्यापक है। लो वह भी अब ६ रूप हो गया।

नामसत, स्थापनासत, द्रव्यसत, क्षेत्रसत, कालसत, भावसत।

सद्ब्रह्मके षडात्मकपद्धतिसे विकल्प—नाम ब्रह्म क्या हुआ? इस प्रकरण के रहस्यको खोजके लिए समझना है। इसमें कुछ ठीक है, कुछ गैर ठीक भी है। नाम होता है चलाने वाला। कहते भी हैं लोग कि हमारा नाम चला दो। जब बुढ़िया मरती है और घरमें धन हो तो मरते समय कह जाती है कि भाई ऐसा कार्य करना कि हमारा नाम चले। तो नाम चला करता है। नाम न हो तो चहलपहल सब खत्म। इतने भाई बैठे हैं नाम किसी का न हो तो आप क्या कहेंगे? कैसे व्यवहार चलेगा, कैसे बुला-वोगे? ओ ए करते रहोगे क्या? ओ ए यहां आवो? तो नाम जो है वह चलाने वाला होता है और चलानेका निमित्त है धर्मद्रव्य। तो उस एक व्यापक सद्ब्रह्ममें नामब्रह्म, स्थापनाब्रह्म, द्रव्यब्रह्म, क्षेत्रब्रह्म, कालब्रह्म और भावब्रह्म निकला। यहां उस एकान्तवादमें और अनेकान्तवादमें यह समन्वय और संधिका फैसला किया जा रहा है। कुछ अपन गम खा रहे हैं, कुछ अपनी ओर उसे ला रहे हैं। संधिमें पूरी बात एक की नहीं हो सकती। यहाँ नामब्रह्म धर्मद्रव्यका हुआ।

स्थापनामें क्या होता है? उसमें किसी चीजको बैठाला जाता है। जैसे मूर्तिमें भावनासे पार्श्वनाथको फिट कर दिया, इसही का नाम स्थापना है ना। अपनी भावना द्वारा किन्हीं पदार्थोंमें अन्य पदार्थोंको फिट कर ले सोई तो स्थापना है। ऐसी स्थापनाका काम यह अधर्मद्रव्य करता है। इस जीव पुद्गलको एक जगह फिट कर देता है। ठहर जावो। स्थापना भी ठहराता है और अधर्मद्रव्यने भी ठहरा दिया। यों यह अधर्मद्रव्य स्थापनासत या स्थापनाब्रह्म हुआ।

सद्ब्रह्ममें द्रव्य क्षेत्र काल भावके विकल्प—अब चलो—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। तो द्रव्यरूप तो पुद्गलमें प्रसिद्ध ही है। ये पिण्डरूप नजर आते हैं, इसे धरो, फैंको, यह द्रव्यकी मुख्यतासे नजर आ रहा है और क्षेत्रकी मुख्यतासे नजर आता है आकाश। वह क्षेत्रात्मक है और कालरूपसे देखा जाता है कालद्रव्य और भावकी मुख्यतासे देखा जाता है जीव। इसलिए इसे भावब्रह्ममें ले जाइए।

भावप्रधानतासे जीवका परिज्ञान—जीवका ग्रहण, परिज्ञान, द्रव्य, क्षेत्र कालके उपायसे नहीं होता है। यह जीव कैसा है? यह जीव दो चार हाथका लम्बा चौड़ा है कि नहीं? अरे आदमी तीन चार हाथका तो लम्बा है और देखो एक पौन हाथका चौड़ा भी है। तो जीवका प्रदेश इतना बड़ा है कि नहीं? है। यही जीवकी लम्बाई समझिए। समझ गए आप? अभी नहीं समझ पाये। जीव कुछ ग्रहणमें नहीं आया। भले ही

३॥ हाथका लम्बा है, ऐसे मूर्तरूपमें भी दृष्टि डालकर निहारें, ३॥ हाथ तकके आकारका यह फैलाव होता है, यह जीव है। लो अब भी ग्रहणमें नहीं आया तो फिर यह जीव कैसा है? अरे यह जीव क्रोधी है, घमंडी है, लोभी है, इतना बताने पर भी ध्यानमें नहीं आया, क्योंकि जानने वाला तो ज्ञान है और जाननमें आ रहे हैं ज्ञानके दुश्मन क्रोध मान आदिक तो अब ये विकल्प कैसे ज्ञान बनेंगे? अच्छा तो यों समझलो, यह जीव कैसा है? अनन्तपर्याय अनन्त गुणोंका पिण्ड है। इतने कहने पर भी जीव ग्रहणमें नहीं आया। जब यह बताया जाय कि जीव तो ज्ञानमात्र है, जानन मात्र है, जाननस्वरूप है। हाँ कोशिश करो। जानन किसे कहते हैं केवल जाननमें राग द्वेषकी बात नहीं होती, ऐसा जाननमात्र जीव है? ऐसा जब भावोंकी प्रधानतासे जीवका स्वरूप बताया जाता है तो समझमें आता है कि ओह, यह मैं जीव हूं।

द्रव्य क्षेत्र काल भावकी प्रधानतामें विशिष्ट अर्थ जातिका सुगम परिज्ञान—यह जीव भावप्रधान है और पुद्गल द्रव्यप्रधान है, आकाश क्षेत्रप्रधान है और काल कालप्रधान है। अब धर्म अधर्म द्रव्य बचे सो ये उन चारों की अपेक्षा भी बहुत देरमें समझमें आते हैं। सबसे पहिले झट समझमें आता है पुद्गल। यह धरा है, रूप आ गया समझमें और उससे कुछ देर में समझमें आता है जीव, और कुछ और श्रम करके समझमें आ जाता है आकाश। उसके बाद और श्रम करें तो काल भी समझमें आ जाता है, किन्तु ये धर्म और अधर्मद्रव्य बहुत युक्ति और श्रमसे श्रद्धासे ज्ञानमें आते हैं। इन धर्म और अधर्म रूप भी मैं नहीं हूं। ज्ञान भिन्न है और यह धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य भिन्न है। ऐसा जैन शासनमें कहा है। अब कालके सम्बन्धमें भेदविज्ञान बताते हैं।

कालो णाणं ण हवइ जम्हा कालो ण याणए किंचि।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ॥४००॥

कालद्रव्य व ज्ञानमें व्यतिरेक—काल ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि कालद्रव्य जानता कुछ नहीं है। कालद्रव्य एक प्रदेशप्रमाण अथवा एक परमाणु प्रमाण अपने स्वरूपको लिए हुए लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर अवस्थित है और उस कालद्रव्यका परिणमन समय है। जिससे व्यवहार काल बनता है, अपने-अपने कालाणु पर अवस्थित जो पदार्थ हैं उन पदार्थोंके परिणमनमें वह समयपर्यायपरिणत कालद्रव्य निमित्त कारण है।

अलोकाकाशके परिणमनका बाह्य निमित्त—एक यहाँ शंका की जा सकती है कि आकाश द्रव्य तो बड़ा व्यापक है। लोकाकाशमें भी वही आकाश है, लोकके बाहर भी वही आकाश है। तो लोकाकाशमें रहने वाले

कालाणु लोकाकाशके आकाशको परिणमाने में निमित्त कारण हो जायेंगे, ठीक हैं, पर लोकाकाशके बाहर जो अनन्त आकाश पड़ा हुआ है वह तो परिणमनके बिना रह जाएगा, क्योंकि वहाँ कालद्रव्य तो है नहीं। समाधान उसका यह है कि आकाश द्रव्य एक अखण्ड द्रव्य है। जैसे एक अखण्ड बांसका एक छोर हिला देने पर वह सारा बांस हिल जाता है, उस सारे बांसको हिल जानेके लिए पूरे बांस भरमें निमित्तके चिपकाने की आवश्यकता नहीं है, इसी प्रकार यह आकाश अखण्ड द्रव्य है, इसके परिणमनके लिए लोकाकाशमें अवस्थित काल निमित्त है और उसका निमित्त पाकर आकाश जो परिणमा तो चूँकि वह अखण्ड है इसलिए समस्त आकाश परिणमा और वह परिणमन एक है, क्षेत्रभेदसे भिन्न-भिन्न नहीं है। जो परिणमन लोकाकाशमें हुआ है वही का वही परिणमन सर्वत्र आकाशमें है। इस तरह एक जगह अवस्थित काल द्रव्य आकाशद्रव्यके परिणमनका निमित्त कारण है।

आयासंपि ण णाणं जम्हाऽयासं ण याणए किंचि।
तम्हा यासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४०१॥

आकाश व ज्ञानमें व्यतिरेक—अपने स्वरूपमें परिणमता हुआ यह आकाशद्रव्य इस ज्ञानमें ज्ञेय तो होता है, पर यह ज्ञान आकाश नहीं बन जाता है। आकाश-आकाश है और ज्ञान ज्ञान है। ये दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, ऐसी जैन शासनमें आकाश और ज्ञानके सम्बन्धमें भेदविज्ञान की बात बतायी गयी है। मैं आकाशरूप नहीं हूं किन्तु ज्ञानमात्र हूं, ऐसे भावसे इस आधारभूत आकाशसे भी अपनेको न्यारा करके मैं ज्ञानमात्रके ही अनुभवमें रहूं।

णज्झवसाणं णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४०२॥

अध्यवसान ज्ञान नहीं है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है। इस कारण ज्ञानतत्त्व और है और अध्यवसान बात और है।

अध्यवसान शब्दका तात्पर्य—अध्यवसान नाम है विभावोंका। ज्ञानातिरिक्त जितने भी परिणमन हैं विभावरूप, वे सब अध्यवसान कहलाते हैं। अध्यवसान शब्दका अर्थ कितनी ही प्रकारसे लगावो। अध्यवसान नाम निश्चयका भी है। वस्तुस्वरूपसे अधिक निश्चय करना, सो अध्यवसान है, अधि+अवसान। जैसा है उससे भी ज्यादा ज्ञान कर लेना सो अध्यवसान है। पदार्थ जितने हैं, जो हैं, स्वतंत्र हैं, अपने रूप हैं, इससे आगे और बात तो नहीं है, पर और भी ज्यादा जान लेना, जैसे कि शरीर मैं हूं, मकान मेरा है, परिवार मेरा है, ये अधिक जानकारी हैं, ऐसी अधिक जानकारीका नाम अर्थात् ऐसे अधिक अध्यवसानका नाम अध्यव-

सान है। जितने हम हैं उतना ही मानें, जितनी बात है उतनी ही माने तब तो भला है, उससे ज्यादा मानने चले उसही का नाम अध्यवसान है।

अध्यवसान शब्दका चरित अर्थ— अथवा अधिवसान अवसान नाम है खत्म हो जानेका, बरबाद हो जानेका। जिसमें बरबादी हो उसका नाम है अध्यवसान। रागद्वेषादिक परिणाम अचेतन हैं। यद्यपि ये चेतनके विकारपरिणमन हैं पर ये स्वयं अचेतन हैं, चेतन नहीं हैं। विभाव भी होता है अचेतक गुणके विकाररूप। जैसे श्रद्धा, चारित्र, आनन्द जो स्वयं चेतनेका, समझनेका, जाननेका माद्दा नहीं रखता है, ऐसे गुणके विकारका परिणमन हो सकता है। जानन और देखन गुण ये विकारको प्राप्त नहीं होते, फिर भी इसके अपूर्णविकासका नाम भी विभाव है।

अध्यवसानसे ज्ञानका व्यतिरेक— यहाँ यह कह रहे हैं कि राग द्वेषादिक अज्ञानमय परिणाम ज्ञान नहीं हो सकते। ज्ञान अन्य चीज है और अध्यवसान अन्य चीज है। अध्यवसानके स्वरूपके सम्बन्धमें इसी ग्रन्थमें पहिलेके अधिकारोंमें विस्तृत वर्णन आया है। ये कर्म कर्मविपाककी माया से उत्पन्न होते हैं। ये औपाधिक भाव हैं, अशुचि हैं, दुःख रूप हैं, दुःख के कारण हैं, विरुद्धस्वभावी है। ये सब अध्यवसान परिणाम अचेतन हैं। ये जानते कुछ नहीं हैं। मैं अध्यवसानसे भिन्न हूं।

मोही जीवकी पर्यायबुद्धता—इस मोही जीवकी सबसे अधिक एकता इस विभावपरिणाममें है अथवा अन्य पदार्थमें तो एकता है ही नहीं। विभावपरिणाममें यह एकता कर रहा है अपने आपके स्वरूपका स्मरण न रहने से अथवा परिचय न रहनेसे यह अपने को नानारूप मान रहा है। जैसे कोई सिद्धान्त कहता है कि 'एकोहं बहु स्याम्।' यह ब्रह्म एकरूप है किन्तु जब ही इसने अपने आपमें यह इच्छाकी कि मैं बहुत हो जाऊँ, सो यह नाना सृष्टियों रूप हो जाता है। इस बातको अपने आपमें घटावो। यह मैं ज्ञायक एकस्वरूप हूं, स्वरसतः, स्वभावसे जैसा हूं, वही एक हूं चैतन्यस्वभावमात्र, पर यह अपनेको इस एकरूप नहीं समझ पाता। इस एकसे विपरीत अन्य बहुरूप मानता है, यही इसका मर्म है। मैं यह शरीर हूं, मैं अमुक जातिका हूं, अमुक कालका हूं, अमुक मजहबका हूं, इस घर का हूं, इस गाँवका हूं, इस गोष्ठीका हूं, इस प्रदेशका हूं इत्यादि नाना प्रकार से अपने आपको मानता है और इसके फलमें नाना इसकी गतियां हो रही हैं। अज्ञानको आत्मरूप माना तो इसके फलमें यह अज्ञानी बनकर संसार में रुलता है।

ज्ञान और अध्यवसानका प्रकट कार्यभेद—अध्यवसान ज्ञान नहीं है। राग हुआ, सुहा गया। इस कालमें भी ज्ञान कुछ काम कर रहा है, इसलिए यह जाननेमें कठिन हो रहा है कि वाह सुहा रहा है, जान रहे हैं तभी तो

सुहा रहा है। तो सुहाना रागका काम है और वह जाननेको लिए हुए है, किन्तु वहाँ जितना जाननरूप परिणमन है वह तो है ज्ञानका कार्य और जितना अनजानन रूप परिणमन है वह है रागका कार्य। पर वह राग ही रहे और ज्ञानका कुछ परिणमन न हो, ऐसा तो कभी होता ही नहीं है। यह साथ है इसलिए यह कठिन पड़ गया है कि हम यह जान सकें कि रागादिक अचेतन हैं, किन्तु स्वरूपदृष्टिके द्वारसे हम इस बातको स्पष्ट जान सकते हैं कि रागादिक विभाव अन्य हैं, अचेतन हैं, यह मैं ज्ञान चेतन हूं, रागादिकसे विविक्त हूं, इसके स्वलक्षणका निश्चय करके यह निर्णय करना कि अध्यवसान भाव अन्य है और ज्ञान भाव अन्य है। मैं ज्ञानमात्र हूं, अध्यवसान नहीं हूं। मैं फिर क्यों अध्यवसानमें रमकर अपना घात करूँ?

इस प्रकार शब्द, रूप, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, कर्म, अध्यवसान—इनसे इस आत्माको भिन्नपनेसे निश्चय कराकर अब वह ज्ञान क्या है? ऐसा प्रतिपादन करते हैं।

जम्हा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४०३॥

आत्मा शब्दका तात्पर्य—जब कि ये सब भाव इस जीवसे भिन्न हैं इस कारण यह जीव तो ज्ञायक है, परिज्ञाती है, क्योंकि यह ज्ञायकस्वरूप ज्ञानमय तत्त्व निरन्तर जानता रहता है। जैसे कोई पुरुष कभी चलता है, कभी नहीं चलता है। इस तरह यह आत्मा कभी जानता है, कभी नहीं जानता है ऐसा नहीं है, किन्तु यह निरन्तर जानता रहता है, किस ही प्रकार जाने, इस कारण इस जीवका नाम आत्मा रखा है। आत्मा कहते हैं 'अतति सततं गच्छति इति आत्मा।' जो निरन्तर जानता रहे उसका नाम आत्मा है।

जाना और जानना, इन दोनोंके प्रयोगमें संस्कृतमें प्रायः एक धातु आती है। गच्छति मायने जाता है और अवगच्छति मायने जानता है। थोड़ा उपसर्ग लगाकर जरा भेद डाल देते हैं, पर उस धातुमें दोनोंको बतानेका भाव पड़ा है। अन्य-अन्य भी गत्यर्थक जो धातुयें हैं वे सीधा जाननका भी अर्थ रखती हैं और कुछ अपने आपकी समझमें भी ऐसा आता है कि कोई पदार्थ तो जानेका काम धीरे-धीरे करता है, किन्तु यह आत्मा तो बहुत जल्दी चला जाता है। आत्मा है ज्ञान मात्र। अभी यहीं बैठे-बैठे ही बम्बईका ख्याल आ जाय तो हवाई जहाजको तो ५ घंटे लग जायेंगे किन्तु आत्माको पहुंचनेमें पाव सेकेण्ड भी नहीं लगता है, बम्बई पहुंच गया। तो यह आत्मा ज्ञान द्वारसे बहुत तेज जाता है, ऐसा व्यवहार

होनेमें भी कुछ यह बात ठीक बैठती है कि जाने और जानने— इन दोनों की मूल धातु एक है।

आत्माका व ज्ञानका अभेद—यह आत्मा निरन्तर जानता रहता है। सो यह ज्ञान इस ज्ञायकसे अभिन्न जानना चाहिए। ज्ञानका समस्त ही परद्रव्योंके साथ भेद है, यह पूर्णतया निश्चित हो गया। अब ज्ञानके बारे में ऐसा जानना कि यह एक ही जीवस्वरूप ज्ञान है, क्यों कि जीव चेतन है, ज्ञान और जीव भिन्न-भिन्न बातें नहीं हैं। कोई भी परमार्थभूत द्रव्य अर्थात् इकहरा पदार्थ मात्र स्वयं अपने लक्षणरूप ही होता है। जैसे कुछ स्कंधोंमें हम यह व्यवहार कर डालते हैं कि इस खम्भेमें अमुक रूप है। तो ये खम्भादिक पदार्थ बहुत मिलकर एक द्रव्यपर्याय बने हैं। उसमें कुछ ऐसा लगता है कि यह सही है और इसमें रूप है। प्रथम बात तो यह है कि स्कंधमें भी ऐसा भेद रूपका नहीं है। यह खम्भा है और इसमें रूप है यह व्यवहारमें लगता है, पर परमाणुमें ऐसा सोचना कठिन है कि परमाणुमें अमुक रूप है वह इकहरा द्रव्य है, परमार्थ वस्तु है। वहाँ तो ऐसा लगता है कि रूपमात्र है परमाणु, मूर्तिकतामात्र है परमाणु। आत्मा कुछ अलगसे कोई पदार्थ हो और उसमें ज्ञान आता हो, भरा जाता हो, ऐसा तो है नहीं। ज्ञान ही आत्मा है। जब से ज्ञान है तबसे आत्मा है अथवा ज्ञानभावका ही नाम आत्मा रखा गया है।

अलंकारकी पद्धतिसे भी कथनभेद—वह ज्ञान कैसा है? सूक्ष्म है। यह ज्ञान कैसा है? अमूर्त है। यह ज्ञान कैसा है कि आत्मासे निरन्तर वृत्तियां उत्पन्न हो रही हैं। जिस रूपमें आत्मद्रव्यको आप उपस्थित कर सकते हो उस रूपमें इस ज्ञानको भी मैं उपस्थित कर सकता हूं। ज्ञानमात्र भावका नाम जीव है। लो अब चाहे जीव शब्दको कहो या ज्ञान शब्दको कहो। जैसे कुछ गुन्डे लोग ऊधम मचाने लगें तो कोई तो व्यक्तिका नाम लेकर कहते हैं कि अब गुन्डोंने ऊधम मचाया और कोई यों कहते हैं कि देखो कुछ अनिष्ट तत्त्वोंने ऊधम किया। बात एक ही पड़ी। पहिले हुआ पदार्थ रूपसे कथन, अब हुआ भावरूपसे कथन। तो ज्ञानका कथन भावरूपसे है और जीवका कथन पदार्थरूपसे है। जीव स्वयं ज्ञानस्वरूप है। जीवके ज्ञानरूपता है। इस कारण जीवसे भिन्न कोई ज्ञान होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए।

आत्मा और ज्ञानके भेदका मन्तव्य—क्या कोई ऐसी शंका भी करता है कि जीव एक पूर्ण वस्तु है और ज्ञान उसमें ऊपरसे लादा गया है, किसी का क्या ऐसा मंतव्य है? हाँ, एक सिद्धान्त ऐसा कहता है कि पुरुषका स्वरूप चैतन्य है, ज्ञान नहीं है। ज्ञान प्रकृतिकी तरंग है। आत्माकी वस्तु

नहीं है और राग, द्वेष अहंकार—ये जीवसे न्यारे हो जाते हैं तब मोक्ष मिलता है, इस ही भांति जब जीवसे ज्ञान भी अलग हो जाता है तब इसे मोक्ष मिलता है ऐसा भी एक मंतव्य है। उनका कहना है कि जीव यदि ज्ञानका काम करे तो वह आपदामें ही पड़ेगा। इसे ज्ञान मैल सब दूर करना चाहिए और आरामसे रहना चाहिए। यह है उनका सिद्धान्त।

ज्ञानस्वरूपताके अभावमें चैतन्यस्वरूपका अभाव—अब इस पर विचार करो—जानना कुछ है नहीं तब फिर जानना नाम किस बातका है? यह पुरुष चेतता है। किसे चेतता है? उस चेतनेका रंग ढंग क्या? यद्यपि जैसा हम लोग जानते हैं ऐसा जानना मेरा स्वरूप नहीं है। वह चेतनेकी शुद्ध वृत्ति नहीं है, ऐसे ज्ञानसे हम दुःखी रहते हैं। पर यह ज्ञानका असली स्वरूप नहीं है। इसके साथ रागद्वेषादिक अनेक विभाव लग बैठे हैं, इस कारण वहाँ एक मिथ्या रूपक बन गया है। ये कल्पनाएँ ज्ञानका स्वरूप नहीं हैं। ज्ञानका स्वरूप शुद्ध जानन वृत्ति है। इस अशुद्ध ज्ञानस्वरूपको हम बोलते हैं लेकिन शुद्ध ज्ञान और इससे सूक्ष्म सामान्यरूप व्यापक कोई जानन होता है, इसका परिचय न हो तो यह कथन ठीक बैठता है मेरे उपयोगमें, किन्तु ऐसा तो है नहीं। ज्ञान न हो तो चेतनेका स्वरूप भी नहीं रह सकता है। यह ज्ञान जीव ही है जीवसे भिन्न कुछ ज्ञान है, ऐसी रंच शंका न करनी चाहिए।

ज्ञानकी व आत्माकी समता—यह जीव ज्ञानमात्र ही है। न तो ज्ञानसे कम है यह जीव और न ज्ञानसे अधिक है यह जीव। यदि यह ज्ञानसे कम हो अर्थात् ज्ञान तो हो गया बड़ा और जीव रह गया छोटा तो जितना यह जीव है उतनेमें तो यह ज्ञान है ना, पर इस जीवसे बाहर भी जो ज्ञान पड़ा है उस ज्ञानका आधार क्या है? क्या कोई भाव आधारभूत द्रव्यके बिना भी हुआ करता है? नहीं। जब आधार नहीं है तो ज्ञानका अभाव होगा। यदि ज्ञान छोटा और जीव बड़ा है तो जितना यह ज्ञान है वहाँ तो जीव है ही क्योंकि जीव बड़ा है, ज्ञान छोटा है। तो जहाँ तक ज्ञान है वहाँ तकके जीवमें तो हमें शंका नहीं है पर उस ज्ञानसे आगे जो जीव और फैला हुआ है जहाँ कि ज्ञान नहीं है उस जीवका स्वरूप क्या है? क्या स्वभावके बिना भी पदार्थ रहा करता है? नहीं। इससे यह सिद्ध है कि यह जीव ज्ञानमात्र है।

ज्ञानभावनासे आत्मनिर्णय—अच्छा अब जरा प्रयोग करके देखो अपने आपमें यह मैं ज्ञानमात्र हूं, जो जाननस्वरूप है उतना ही मैं हूं—ऐसी बार बार भावना बनाए और उस ज्ञानमात्रको अपनाए याने यह मैं आत्मा हूं, इस तरहका अनुभव करे तो समग्र आत्मा जो कुछ है एक साथ हमारे

ग्रहणमें आ जाता है। जैसे हम किसी पुरुषको देखते हैं तो केवल रूप ही तो दिखता है, किन्तु रूपको रूप रूपमें देखने पर हमें केवल अपने आपमें निर्णय उसके बारेमें केवल रूपका नहीं होता है किन्तु उस पूरे मनुष्यका निर्णय हो जाता है। ज्ञानमात्र रूपसे आत्माका अनुभव किया जाने पर फिर आत्माका कोई तत्त्व छूटता नहीं है, समग्र वस्तु ग्रहणमें आ जाती है। इस ही कारण एक ज्ञानभावको अपनानेसे हमारे भविष्यके सारे निर्णय हो जाते हैं।

ज्ञानानुभूतिकी पद्धतिपर अपनी सृष्टिकी निर्भरता—हम किसी परवस्तुके वियोग होने पर इस ज्ञानको इस रूपसे अपनाते हैं कि हम दुःखी हो जाते हैं और कोई उस ही वियोगमें अपने ज्ञानको इस रूपसे अपनाते हैं कि उन्हें सम्यक्त्व हो जाता है। ज्ञानको अपनानेकी कलामें ही हमारी सारी सृष्टिका निर्णय है। बाहर बाहर ही बैठने पर हमारी सृष्टिका निर्णय नहीं है, इस ही बातको अब आगे कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस गाथामें कह रहे हैं-

णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥

ज्ञानका सम्यक्त्व—ज्ञान जीवसे भिन्न नहीं है, जीव ज्ञानरूप ही है इसलिए सर्वव्यवसाय करके इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको देखें। इस उपाय से, यहाँके विपरीत आशय सब दूर हो जाते हैं। ज्ञानमें विपरीत आशय का दूर हो जाना, स्वच्छता होना यही सम्यग्दर्शन है। पानीमें स्वच्छता गुण है, उस स्वच्छताका विकार परिणमन है और स्वभाव परिणमन है। स्वच्छताका विकार परिणमन तो विधिरूपसे समझमें आता है कि इसमें मैल है, कीचड़ है, गंदगी है, पर स्वच्छताका जो स्वभाव परिणमन है उसे विधिरूपमें क्या कहा जाय? वहाँ यही कहना होता है कि उस गंदगी का न रहना ही स्वच्छता है। इसही प्रकार आत्मामें एक श्रद्धा गुण है, सम्यक्त्वगुण है इसका शास्त्रपरम्परागत नाम है सम्यक्त्व गुण। उस सम्यक्त्व गुणकी दो परिणतियां होती हैं—एक मिथ्यात्वरूप परिणमन और एक सम्यक्त्वरूप परिणमन। सो मिथ्यात्वरूप परिणमन तो विधि रूपमें समझाया जा सकता है। खोटा आशय रहे उसे मिथ्यात्व कहते हैं। ये समस्त परपदार्थ भिन्न-भिन्न हैं और उन्हें अपना माननेका आशय हो तो इसे मिथ्यात्व कहते हैं। किन्तु सम्यक्त्वको समझाने के लिए विधि रूपमें कुछ शब्द नहीं है। वहाँ इस प्रकार बताया जायेगा कि जहाँ विपरीत अभिप्रायका अभाव हो गया है ऐसी शुद्धताका नाम है सम्यग्दर्शन। गंदा जल और साफ जल। इसी प्रकार मिथ्यात्व और सम्यक्त्व। पानीका साफ हो जाना इसका नाम है साफ जल, निर्मल जल। यों ही आत्मामें

मिथ्यात्वका मल दूर हो जाय, इसका नाम है सम्यक्त्व ।

ज्ञानके आश्रयसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रका स्वरूप— सम्यक्त्वके इसी मर्मके कारण अमृतचन्द्र सूरिने पुरुषार्थसिद्धयुपायमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका जो लक्षण किया है उसमें उत्पादव्ययध्रौव्य जैसी स्थिति बतायी है। विपरीत अभिप्रायको दूर करके और निज तत्त्वको निर्णीत करके इस ही निज तत्त्वमें स्थिरतासे ठहर जाना सो रत्नत्रय है। इसमें तीन अंश हैं। विपरीत अभिप्रायको दूर करना यह तो हुई सम्यग्दर्शन वाली बात, जो कि निषेध रूपमें व्यय रूपमें समझाया है और भली प्रकार निश्चय करके निज तत्त्वका निश्चय करना सो ज्ञान, इस अंशको उत्पादरूपसे बताया है यह है सम्यग्ज्ञान वाली बात, तथा उस ही में स्थिर हो जाना यह है स्थिति वाली बात। इसे सम्यक् चारित्र कहा है।

ज्ञानके ही संयमपना व श्रुतपना— यह ज्ञान ही विपरीत अभिप्रायसे रहित स्वरूपमें देखा जाय तो यही हुआ सम्यग्दर्शन और यह ज्ञान जैसा कि सम्यग्दर्शनमें देखा गया है उस ही रूपसे ज्ञानका ज्ञान बनाए रहना, यही हुआ संयम। सो ज्ञान ही संयम हुआ और श्रुत, आगम, अंग, पूर्ण श्रुत ये सब क्या बाहर हैं? पोथी पन्नोंका नाम अंगसूत्र नहीं है। जो शब्द बोले जाते हैं उन शब्दोंका नाम अंगसूत्र नहीं है, किन्तु एक विशिष्ट प्रकारका जो अवबोध है, जिसको शब्दों द्वारा समझाया गया है वह विशिष्ट बोध ही ज्ञान है, श्रुत है, सूत्र है। यहाँ ज्ञानदेवकी भक्तिमें सर्व कुछ ज्ञानमें ही समाया हुआ है। यह महिमा बतायी जा रही है।

भक्तको प्रभुताके विराट् दर्शन— महाभारतमें एक प्रकरण आया है कि अर्जुनका एक संदेह दूर करनेके लिए कि मैं ही भगवान हूं, मैं ही विराटरूप हूं, कृष्णने अपना विराट रूप दिखाया और उस विराटमें सारा लोक समा गया। उसका मर्म क्या है? कि वह विराट् रूप अर्जुन जैसे स्वच्छ हृदय वाला (अर्जुन कहते हैं चांदी को) जैसा चांदीका स्वच्छ रूप है ऐसे स्वच्छ आशय वाले भक्त अर्जुनको काम, क्रोधादिकके ध्वस्त करनेमें कृष्ण रूप लेकर अर्थात् कषायध्वंसिताको लेकर उपस्थित हुआ यह ज्ञान देव अपना विराट रूप दिखा रहा है। यह ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है, यह ज्ञान ही संयम है, यह ज्ञान ही सूत्र है।

लोकव्यवहारमें भी सर्वत्र ज्ञानकी विराट्ता— जरा लोकव्यवहारमें भी इस ज्ञानदेवकी विराट्ता निरखो, ज्ञान ही कुटुम्ब, परिवार है, ज्ञान ही लाखों और करोड़ोंका वैभव है, ज्ञान ही, सम्मान, अपमान, प्रशंसा, निन्दा, भला बुरा सब कुछ है। बाह्य पदार्थोंकी परिणतिसे यह ज्ञान

लखपति, करोड़पति नहीं बना है किन्तु ज्ञानमें जब जब यह विकल्प समा जाता है कि मैं लखपति हूं, करोड़पति हूं, तो इस विकल्पसे वह लखपति, करोड़पति बना है। यह बात आश्रयभूतपनेकी अवश्य है कि हो पासमें पुद्गलका ढेर तो उसका आश्रय करके यह विकल्प बना है कि मैं लखपति और करोड़पति हूं। कुटुम्ब परिवार बाहर नहीं है, यह निश्चयसे व्यवहार की बात बता रहे हैं, लोक-व्यवहार की बात है। ज्ञानमें विकल्प बना हो कि मैं कुटुम्ब वाला हूं तो वह 'कुटुम्बवाला हूं' ऐसा अनुभव करता है और ज्ञानमें यह विकल्प न बना हो तो बाहरमें कितने ही कुटुम्ब पड़े हों वह तो कुटुम्ब वाला अपनेको अनुभव नहीं करता। ज्ञानका विराट् रूप देखते जाइए। कहीं भी जाय यह ज्ञान, अपने विराट्रूपकी प्रकृतिको नहीं छोड़ता है।

ज्ञानका विस्तार—मेरा तो मेरे ज्ञान भावसे व्यतिरिक्त जगतमें अन्य कुछ नहीं है। किसी परपदार्थमें भ्रम करके कुछ विकल्प बनाऊँ तो वह भी ज्ञानके विराट् रूपकी एक कला है, कहीं असुहावनी कला है, कहीं सुहावनी कला है, पर ज्ञानदेव सर्वत्र अपने विराट् ज्ञान रूपमें समाया हुआ कभी सुखी होता है, कभी दुःखी होता है और कभी शुद्ध आनन्द रसमें मग्न होता है। हमारा यह विराटरूप कहीं तो लोकमें दूसरेकी निगाहमें फैलता हुआ व्यक्त होता है और कहीं अपने आपमें बुझता हुआ, संतुष्ट होता हुआ, ज्ञानानन्दरस मग्न होता हुआ अपने स्वाभाविक विराट् रूपको ग्रहण करता है। ज्ञान विषय नहीं है, विषयभूत बाह्य पदार्थ ज्ञान नहीं है, किन्तु यह ज्ञानस्वरूप अपने आप इस विषयविषयक रूपको बनाता है। लोक-व्यवहारमें भी इसकी विराटरूपता है और अपने आपके धर्म-पथमें भी इस ज्ञानकी विराटरूपता है।

स्वच्छताका उपाधिनिषेधमुखेन विवरण—ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है, ज्ञान ही स्वच्छ जल है। कूड़ा कचड़ा हट गया ऐसे स्वच्छ जलमें वह स्वच्छता हाथ पर रखकर बताई नहीं जा सकती। वहाँ तो यही दिखता है कि जो अब यह केवल जल रह गया है, यही इसकी स्वच्छता है।

अनादिकी भूल और अचानक झपकाटा—भैया! इस जीवपर मिथ्यात्व का विकट भार अनादिकालसे चला आ रहा है। अपने आपकी कुछ सुध भी नहीं रही। किस किस बाह्य पदार्थको यह अपनाता रहा, आज भी बता नहीं सकता। अनन्त शरीर पाये और अनन्त भवोंमें परिजन, बच्चे, मित्र, अचेतन समागम सर्व कुछ मिला, इस ३४३ घनराजू प्रमाण लोकमें प्रत्येक प्रदेश पर यह जन्मता रहा, मरता रहा अनेक कर्मोंके बीच पड़ा पड़ा यह परकी ओर दृष्टि बनाकर अपनेको भूला रहा। कितना मिथ्यात्व का इस पर बोझ था? जहाँ ही ज्ञानानन्दरस मात्र अमूर्त भावस्वरूप एक

निज तत्त्वका श्रद्धान हुआ कि अब भक्काटा हुआ, वह सब अंधेरा विलीन हो गया, एकदम स्पष्ट दीखने लगा कि सर्व परपदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, किसी भी परपदार्थका मुझसे रंच मात्र सम्बन्ध नहीं है, सब जुदे हैं। जहाँ यह प्रकाश हुआ कि मोह समाप्त हुआ। मोह जहाँ नहीं रहा ऐसा जो ज्ञानका परिणमन है उसका ही नाम है सम्यग्दर्शन।

ज्ञानकी संयमतांका वर्णन--संयमकी वात भी देखो। इस जीवके साथ अनादिसे चले आ रहे जो क्रोध, मान, माया, लोभ हैं, इन कषायोंमें से बदल बदल कर कभी कोई किसी कषायमें, कभी कोई किसी कषायमें यह वर्तता चला आ रहा था, सो जिस ही इस ज्ञानभावनाके प्रसादसे मोह विलयको प्राप्त हुआ था उस ही ज्ञानभावनाके प्रसादसे ये कषायें भी पृथक् हो जाती हैं, तो वहाँ ज्ञान ज्ञानमें स्थिर हो जाता है। अब वहाँ संयम नाम की चीज कुछ अलगसे है भी क्या? अरे ज्ञान, ज्ञानरूप स्थिर हो गया ऐसे ज्ञानकी इस महिमाको ही संयम कहा जाता है। ज्ञानका प्रसाद अतुल है। कोई भव्य पुरुष अपनेको केवल ज्ञानमात्र ज्ञानमात्र ही भाता चला जाय तो इस ज्ञानभावनाके प्रसादसे वह ज्ञानरसका अनुभव करता है और वहाँ जो अतुल आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दके स्वादसे वह समझ लेता है कि अब मुझे इस कार्यके अतिरिक्त कुछ भी कार्य करनेको नहीं रहा। यह ज्ञान ही संयम है।

ज्ञानमें ही ज्ञेयके सद्भावका व्यवहार—यह ज्ञान ही अंगपूर्व रूप सूत्र है, और क्या कहा जाय? यह मैं तो अपनी ओरसे अपनी बातको देखकर यह निर्णय करता हूं कि जो कुछ भी जगतमें बताया जाता है—चाहे सूक्ष्म धर्म अधर्म द्रव्य हो, पदार्थ हो और चाहे स्थूल पुद्गल स्कंध हो, पर्याय हो, सब कुछ यह ज्ञान ही है। यह ज्ञानकी महिमाके प्रकरणमें और इस संचालक ज्ञानकी कलामें यह बात कही जा रही है कि न मुझे पता पड़ता तो मेरे लिए कहीं कुछ न था। स्थूल पदार्थके सम्बन्धमें तो यह ज्ञानरूपता की बात इस प्रकरणमें कुछ देरमें आयेगी क्योंकि आँखों तो देखते हैं कि यह पड़ी है भींत, यह पड़ा है खम्भा, किन्तु सूक्ष्म धर्म, अधर्मद्रव्यके सम्बन्धमें जब कुछ चर्चा करते हैं तो हमें दूरमें कहां क्या नजर आता है, और समझमें खूब आ भी रहा है कि लोकाकाशमें व्यापक एक अमूर्त धर्म द्रव्य है, पर बाहर यह विशद नहीं हो रहा है, भीतरमें ही यह स्पष्ट नजर आ रहा है। तो यह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य भी ज्ञानस्वरूप हैं।

पुण्यपापरूप ज्ञानपद्धति--अथवा पुण्य और पाप ये और बात हैं क्या? ज्ञानमात्र स्वरूप वाला यह आत्मस्वरूप अपने ज्ञानको किस रूप परिणमाये तो वहाँ पाप होता है और अपने ही ज्ञानको किस रूप परिण-

माये तो वहाँ पुण्य होता है। ये सब बातें भी इस ज्ञानमें भरी हुई हैं।

प्रव्रज्याकी ज्ञानमयता—यह प्रव्रज्या और दीक्षा भी ज्ञान है। अहो इस भूले भटके हुए ज्ञानी ने जब अपने ज्ञानस्वरूपको संभाला तो यह उत्कृष्ट रूपसे अपने आपमें चला, इस ही का नाम प्रव्रज्या है। दीक्षाको प्रव्रज्या कहते हैं। उत्कृष्ट रूपसे जो व्रजे, व्रज धातु गमन करने के अर्थमें है व्रज् गतौ। बाह्य दीक्षा कोई ले रहा हो, नग्न हुआ, कमंडल लिया, पीछी लिया ये बाह्य बातें बन गयी हैं, मगर जिस भव्य आत्माके अन्तरमें ज्ञान की ज्ञानमें प्रव्रज्याके कारण बाहरकी ये बातें बन रही हैं उसके लिए तो भली बात है किन्तु जहाँ ज्ञानकी ज्ञानमें प्रव्रज्या नहीं बन रही है और बाह्यमें ये सब बातें बन रही हैं, वे सब एक व्यावहारिक बातें हैं। उसे परमार्थसे प्रव्रज्या न कहेंगे।

वैराग्यका आतिथ्य—भला एक मोटीसी बात तो बतावो—किसी को वैराग्य या मुनिदीक्षा लेनेका भाव पहिले से तिथि तय करके हुआ करता है क्या कि अब फलाने साहब फलाने दिन फलाने समयमें वैराग्य धारण करेंगे, सातवें गुणस्थानमें आवेंगे फिर छटेमें आवेंगे, दीक्षा लेंगे। चारों ओर निमंत्रण गए, लोग जुड़े, बड़े ठट्ट लग गए अब क्या होगा? यह साहब वैराग्य धारण करेंगे। अरे वैराग्य आता है चुपकेसे, कोई न जाने तब। तिथि दिन समय मुकर्रर करके वैराग्य नहीं आया करता है। इसी कारण पुराणोंमें जिन-जिनने दीक्षा ली है उन सब ने अचानक ली है। महीना भर या साल भर पहिले से तिथि दिन, समय मुकर्रर सब जगह निमन्त्रण भेज करके कि इस समय दीक्षा ली जायेगी, ऐसा हमें कहीं किसी ग्रन्थमें पढ़नेको मिला नहीं है।

वैराग्यके आमन्त्रण-पत्रिकाकी आधीनताका अभाव—कोई ऐसा कथन भी हो कहीं वैराग्यका विचार बताने वाला तो वह वैराग्यके लिए तिथि नियतका कथन न होगा किन्तु अपने झंझटों वाली बातकी अन्दाजिया व काल्पनिक तिथि हुई होगी। हम इन झंझटों से इतने दिनमें निपट पायेंगे, सोच लिया होगा कि हम तीन चार महीने बाद इस बातको करेंगे। शोरगुल करके दुनियाको आमंत्रण देकर यह बात नहीं होती। यह तो बड़े पुरुषोंकी विलक्षणता है कि अचानक ही वैराग्य हुआ और १० मिनट या १० घंटेमें ही सारा ठट्ट जुड़ जाय। जैसे मरनेकी कोई तिथि नहीं बताता, पर बड़े पुरुष मरें तो २४ घंटेमें ही लाखोंका समुदाय जुड़ जाता है। हुआ भी आपके यहां ऐसा गांधी, नेहरू गुजरे कि २४ घंटेमें ही लाखों की संख्या जुड़ गयी। तीर्थंकर प्रभु जिस समय दीक्षा लेते हैं, पता ही नहीं पड़ता लोगों को कि क्या होगा? सभामें बैठे थे। नीलांजनाका

नृत्य हो रहा था, बड़ी मस्तीसे सब देख रहे थे, अचानक ही वैराग्य हो गया और बड़े पुरुष थे ना, सो थोड़े ही समयमें लाखोंकी जमात जुड़ गयी। जुड़ जावो पर यहां यह बात कही जा रही है कि प्रव्रज्या ज्ञान ही का नाम है और ज्ञानका इस रूपमें परिणाम जाना यह पहिले से तिथि मुकर्रर करके नहीं होता। ज्ञान ही प्रवज्या है।

ज्ञानकी संभालमें सर्वस्व संभाल—ऐसे ज्ञानका समस्त पर्यायोंके साथ की अभिन्नता निश्चयसे समझ लेना चाहिए, यह ज्ञान सर्वविषयोंसे जुदा है और अपने आपके अन्तरकी रत्नत्रयकी कलावोंसे अभिन्न है। ज्ञानकी संभालमें सब संभाल जाता है। तप, व्रत, रत्नत्रय, समिति, गुप्ति सब कुछ, इस ज्ञानकी संभालसे ही संभालते हैं। एक ज्ञानभावको न संभाला और बाहरी क्रिया करतूत मन, वचन, कायकी करता रहे तो वह प्रवज्या नहीं है और वह साधुता भी नहीं है। इस प्रकरणमें यह बात कही गयी है कि जो तुझसे भिन्न हैं वे सब अहित रूप हैं, जो हितरूप हैं वे सब तुझ ज्ञानमात्रसे अभिन्न हैं, वे सब तेरे हितरूप हैं। तू हितकी खोज बाहर मत कर, अपने आपमें अपने आपकी ही रुचि करके अपने आपके सिवाय अन्य सबको भुला करके अपने आपके ज्ञानरसमें मग्न हो तो तुझमें अपने आपके सर्वविलाश विकासके चमत्कार अनुभूत होंगे और तू सर्व प्रकारके संकटोंसे मुक्ति पायेगा।

भेदाभेदका यथातथ्य अथवा त्रिदोषताका अभाव—इस प्रकार समस्त परद्रव्योंसे भिन्न रूपसे और समस्त ज्ञान दर्शन आदिक जीवोंके स्वभाव में अभिन्न रूपसे इस आत्मतत्त्वको देखना चाहिए और ऐसे लक्षणोंसे पहिचानना चाहिए जिनमें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का दोष न हो। जीवका निर्दोष लक्षण क्या बना है ? जीवमें धर्म बहुतसे पाये जाते हैं। साधारण धर्मसे तो पदार्थका लक्षण नहीं बनता और साधारणासाधारण धर्मसे भी पदार्थका लक्षण नहीं बनता, किन्तु जो अपनी जातिमें तो साधारण रूपसे पाया जाय और भिन्न अचेतनमें न पाया जाय वहां असाधारण हो, ऐसे लक्षणसे पदार्थकी पहिचान होती है।

अव्याप्तके लक्षणत्वका अभाव—जीवका लक्षण राग नहीं है, क्योंकि राग समस्त जीवोंमें नहीं पाया जाता है। जो अपनी समस्त जातियोंमें साधारण रूपसे रहे और अन्यत्र रंच भी न रह सके उसे लक्षण कहते हैं। यह राग यद्यपि इस जीवमें पाया जाता है और जीवको छोड़कर अन्य पदार्थोंमें कभी नहीं पाया जाता है, फिर भी समस्त जीवोंमें साधारण न होने से अर्थात् वीतराग, मुक्त जीवोंमें राग नहीं पाया जाता। सो राग जीवका लक्षण नहीं है पदार्थका लक्षण वह है जो पदार्थमें शाश्वत रह

रहा हो। जीवका लक्षण अमूर्तिकता भी नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि जीव अमूर्त है और जीवके अतिरिक्त अन्य पदार्थ भी तो अमूर्त हैं, इस कारण अमूर्तपना जीवका लक्षण नहीं है। जो जीवादिक सर्व परद्रव्योंसे भिन्न रूपसे रहे, किसी परद्रव्यमें न रहे और जीव जीवमें सम रहे, बराबर एक समान रहे उसे जीवका लक्षण कहा जायेगा।

जीवका निर्दोष लक्षण—जीवका लक्षण है ज्ञान। ज्ञान सामान्य सब जीवोंमें पाया जाता है। ज्ञानविशेषकी बात नहीं कही जा रही है कि जैसा हम जानते हैं वैसा जानना जीवका लक्षण हो, किन्तु ज्ञानस्वभाव, जिसका आश्रय कर करके ज्ञानकी वृत्तियां अर्थात् जानन प्रकट होता है, उसे जीव का लक्षण कहा है। यह ज्ञान जीवको छोड़कर अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं रहता है और समस्त जीवोंमें रहता है। ऐसे अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोंसे दूर रहने के स्वभाव वाले चित्स्वरूप आनन्दमयी आत्मतत्त्वको देखना चाहिए। इसके अतिरिक्त पुण्यरूप अथवा पापरूप शुभ-अथवा अशुभरूप जितने भी परिणमन हैं वे परिणमन सब स्वरसतः नहीं हैं। वे सब परपदार्थका निमित्त पाकर विभावरूप भाव हैं। स्वयमेव ही ज्ञानस्वरूपमें ज्ञान गमन करे, ऐसी दीक्षाको भव्यपुरुष ग्रहण करता है। दीक्षा वास्तवमें निज ज्ञानस्वरूपमें जो गमन करना है, इस ही का नाम प्रव्रज्या है। उत्कृष्ट पदार्थमें उत्कृष्ट रूपसे गमन करना, इसका नाम है प्रव्रज्या।

अपने अपराधके होने पर बाह्य साधनोंका प्रभुत्व—कर्मका बन्धन, कर्म का निर्जरण इस जीवके भावका निमित्त पाकर होता है। जो जीव अपने आपके ज्ञानस्वभावमें गमन करता है तो ये पर-लोग, मेहमान पर-बिरादरी के लोग इनकी हिम्मत इतनी नहीं हो पाती है कि वे इसके साथ अर्थात् जहां उपयोग जाय वहां ये भी पहुंच जायें, अर्थात् बंधन हो जाय, ऐसी परपदार्थोंमें हिम्मत नहीं है। ये बाहर ही बाहर रह कर उपद्रवके निमित्त होते हैं। जैसे कोई पुरुष बाहरसे घर आ रहा है तो जब तक बाहर है तब तक रास्तेमें प्रायः कुत्ते भौंकते हैं, छेड़ते, परेशान करते हैं। जैसे ही उस का मकान आया, दरवाजेमें घुसा तो वे कुत्ते विवश होकर लौट जाते हैं। जब यह उपयोग बाहर चलता फिर रहा है तो ये कर्म, विधि उपद्रव करते हैं, बंधन होते हैं, लगे रहते हैं, किन्तु जैसे ही यह उपयोग इस सहज शुद्ध ज्ञानस्वरूपके महलमें प्रवेश करता है तो यह द्रव्यकर्म फिर विवश होकर रह जाता है।

पुण्य पापकी अटक—पुण्य और पाप भावोंमें जिनकी अटक है, जो उनको आत्मरूप मानते हैं, उन्हें हितरूप मानते हैं, उनके अभी द्रव्यधर्म

की भी उलझन यथावत् बनी हुई है। ज्ञानी जीवके भी पुण्य भाव होता है, किन्तु पुण्य भावमें आत्मीयता नहीं करता है। पुण्यभावको हितरूप माननेका अर्थ यह है कि उसे आत्मरूप मानते हो। हितरूप तो आत्मतत्त्व है। औपाधिक भाव हितरूप नहीं है, किन्तु जो शुभ भाव पहिलेके अहितको बचाकर होते हैं ऐसे भावको हितरूप कहा जाता है। जैसे १०४ डिग्री बुखारसे पीड़ित मनुष्य १०० डिग्री बुखारमें आ जाय तो वह अपनेको स्वस्थ मानता है। कोई पूछे कि अब कैसी है तबियत है तो वह कहता है कि अब तबियत अच्छी है। परमार्थसे अब भी दो डिग्री बुखार है। इसही प्रकार कितने-कितने कठिन पापोंसे निकलकर पुण्यरूप भावमें आये, जहां संक्लेश नहीं है किन्तु खेद अवश्य है। उस भावको हितरूप यों कहा जाता है कि विषय कषाय पापोंके परिणामसे कुछ परे हुए हैं।

परसमयका वमन—भैया! परमार्थतः रागभाव जब तक है तब तक इस जीवका स्वास्थ्य उत्तम नहीं कहा जा सकता। अतः पुण्य पाप शुभ अशुभ भावरूप परसमयका उद्वमन करते हुए स्वसमयका ग्रहण करना चाहिये। वमन की हुई चीज फिर ग्रहणमें नहीं ली जाती है उसी तरह विभाव भावको ऐसी दृढ़तासे आत्मीयरूप मान लेना कि फिर ग्रहण न किया जाय, यही इसका वमन है। अब किसी भी विभावको आत्मरूप नहीं माना जाता है। मानले तो वह ज्ञानी न रहेगा। जैसे कोई वमन किए हुए को फिरसे ग्रहण कर ले तो वह स्वस्थ दिमाग वाला नहीं रहा, पागल की गिनतीमें आ गया। इस ही तरह पुण्य पापरूप समस्त विभावोंको अनात्मीय मानकर फिर कोई यदि आत्मीय मान ले तो वह अब ज्ञानियों की गोष्ठीमें नहीं रहा। वह अज्ञानी हो गया।

प्रव्रज्या और अप्रव्रज्या—यह प्रव्रज्या इस जीवके स्वयमेव अंतरंगमें होती है। उस प्रव्रज्या रूपको प्राप्त करके अब दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें स्थित रहने रूप स्वहितकी प्राप्ति करो। इस जगतमें चारों ओर सब क्लेश ही क्लेश हैं, क्लेश बाहर नहीं हैं किन्तु जहां यह आत्मा अपने स्वरूपसे चिगता है और बाह्य पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट रागद्वेष भावको करता है तो यह द्वेषमें पड़ जाता है। ऐसे निर्बाध स्वरूप महलमें विराज कर फिर जहां आग पानी बरस रहा हो, सो इस बाहरके मैदानमें निकले तो उसे कौन विवेकी कहेगा? बाहर घोर वर्षा चलती है जिस वर्षामें आग भी बरसती है और पानी भी बरसता है, पानी तेज बरस रहा है उसी बीच में जब आग बरस जाती है तो जिस पर वह आग गिरती है वह मनुष्य या पशु मर जाता है। तो ऐसे बड़े तूफानमें आग पानी बाहर बरस रहे हैं, बिजली तड़क रही है, गाज गिर रही है, ये सब उपद्रव जहां हो रहे

हों वहां यह भागने लगे तो उसकी बरबादी का ही समय समझिये। ऐसे ही ज्ञानानन्द करि परिपूर्ण निज आत्मतत्त्वके महलमें सुख शांतिसे विराजनेकी बात रहती है, फिर भी ऐसे आरामको छोड़कर रागद्वेष इष्ट अनिष्ट कल्पनावों के द्वारसे इन विषय कषायोंके पानी और बिजलीमें कोई भागने लगे तो वह विवेकी नहीं है, उसकी बरबादी निकट है।

आत्माकी ज्ञानघनता—अपने आपके दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वरूपमें स्थित होना यही है मोक्षमार्ग। इस ही मोक्षमार्गको अपने आपमें ही परिणत करके देखे अपने अन्तरमें विराजमान् परमार्थरूप एक इस शुद्ध ज्ञानस्वभावको, जो ज्ञानगुणभावको लिए हुए है। इस आत्मामें ठोस ज्ञान पड़ा है। ठोस कहो, घन कहो एक ही अर्थ है। इसका अर्थ वजन नहीं है किन्तु उस चीजके अतिरिक्त अन्य चीजको न छूना, इसका ही नाम ठोस है, घन है। एक ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भाव, अज्ञानभाव, अज्ञान पदार्थ इसमें कुछ नहीं है। यह तो एक ज्ञान ज्ञानसे भरा हुआ है। अन्य सब धर्म जो बखाने जाते हैं वे इस ज्ञान धर्मकी सिद्धिके लिए बखाने जाते हैं। हमें सूक्ष्मत्व गुणसे क्या पड़ी है; पर ज्ञान ही स्वरूपसे सूक्ष्म है। कैसा है स्वयं? जैसा है सो है।

भेदकथनकी आवश्यकता—जब हम ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वका निरूपण करने बैठते हैं तो गुणभेद हो जाता है, किन्तु अनुभवनमें पहुंचनेके लिए तो आत्माके सम्बन्धमें एक ज्ञानभावका ही आराधन चला करता है। वह ज्ञान कैसा है? ज्ञायक स्वभाव क्या है? वह आत्मस्वरूप क्या है? उसकी समझ जिन्हें है उन्हें तो वहां भी एकत्व नजर आता है किन्तु जब वह दूसरेको समझानेके लिए पुरुषार्थ करता है तो उसमें ही भेद करके और ऐसा भेद करके जो उस एकत्वका वर्णन कर सके, कहा गया है। इसही का नाम गुणभेद है। उन गुणोंकी भी जब समझ नहीं बैठती है तो गुणभेदसे आगे बढ़कर पर्यायभेदमें उतरकर समझाया जाता है। जगतके जीव सब व्यवहारके लोलुप हैं। व्यवहारमें जो बताया गया है उसको छोड़कर अन्य कुछ भी पहिचाना ही नहीं गया, तब उन्हें आत्मस्वरूप समझनेकी सुगम पद्धति यह है कि पहिले पर्यायमुखेन इस आत्मतत्त्वका वर्णन कर दिया जाय। जब पर्यायमुखेन यह जीव जीवके सम्बन्धमें विशेष परिचित हो जाता है तब उसे उन पर्यायोंके आधारभूत जिसका कि परिणमन हुआ है उस आधारभूत शक्तिके परिज्ञानकी प्रमुखता बनाये तब उस ज्ञानमें यह पर्यायरूप ज्ञान विलीन हो जाता है। फिर भेदरूप अभेदरूपसे जाने गये ये गुणपुञ्ज इनके स्रोतभूत एक अखण्ड जीवमें विलीन हो जाता है और वह योगी पुरुष उस समय केवल ज्ञानभावको ग्रहण करता है।

अद्वैतरूपता—भैया ! परभावके त्यागरूप और अपने आपके सब कुछ ग्रहण रूप इस आत्मतत्त्वको निरखना है अथवा न वहां किसीका त्याग है, न वहां किसीका ग्रहण है, वह तो जो है सो ही है, ऐसे त्याग और ग्रहणके श्रमसे रहित साक्षात् समयसारभूत परमार्थरूप एक शुद्ध ज्ञान स्वरूप स्थित है ऐसा देखना चाहिए। यह ज्ञान अन्य परद्रव्योंसे अत्यन्त जुदा है, अपने आपमें यह नियत है। इस नियतका भेद क्या है ? यह ज्ञान ही आत्मा है। यहां गुण गुणीका भी भेद स्वरूपकी सही दृष्टि करने वालेको सहन नहीं है। यह आत्मा एक पदार्थ है और उसमें ज्ञान पाया जाता है, ऐसा वहां कुछ भेद बड़ा नहीं है। समस्त वस्तुवोंके स्वरूपमें एक ही कायदा है। बस है। पदार्थ है और उसका यह स्वभाव है ऐसी बात वस्तुमें नहीं है। वहां तो है यह है—यह है—अब जो यह है उसे समझाने के लिए अपन व्यवहार मार्गमें आते हैं तो इस स्वभाव और स्वभावीका भेद किया जाता है। यह पदार्थ है और इसका यह स्वभाव है।

अभेदमें प्रथम भेदोपक्रम—एक आत्मा को ही देखिए, प्रथम तो यह अद्वैतस्वरूप है और यह अद्वैतरूपमें ही अनुभूत है। अद्वैत कहो, एकत्व कहो, एक ही बात है। इस अद्वैतस्वरूपी आत्माको जब हम समझनेके लिए चलें तो स्वभाव स्वभावीका भेद किए बिना हम समझ नहीं सकते हैं। यह है, यह है। मेरे ज्ञानमें आगया, यह है, यह है, इतने मात्रसे कोई काम नहीं चलता है या कह दिया कि आत्मा है आत्मा है। इतने मात्र से काम नहीं चलता है। उन्हें समझाना होता है कि देखो जो जानता है, जो देखता है, जो रमता है, जहां आनन्दका अनुभवन होता है ऐसे पदार्थों को जीव कहते हैं। तो सर्व प्रथम इस स्वभाव-स्वभावीमें भेद करना पड़ा।

सामान्य विशेषका भेद—अब और विशेष वर्णन करनेके लिए स्वभाव में भेद करनेकी आवश्यकता हुई। आत्मा तो एक स्वभावरूप है। उसे हम चित् स्वभाव शब्दसे कहा करते हैं। यह चित् सामान्यविशेषात्मक है। तब सामान्य चित्का नाम दर्शन हुआ और विशेष चित्का नाम ज्ञान हुआ। देखिए यहां तक स्वभावमें द्वैत चला। यह आत्मा चिदात्मक है, यह आत्मा ज्ञानदर्शनात्मक है।

ज्ञान ज्ञेयका भेद—अब ज्ञानकी ही बात निरखिए। ज्ञानका काम जानना है। जहां जानन हुआ वहां द्वैत हो गया कि एक तो जाननहार तत्त्व और एक जाननेमें जो कुछ आया हुआ है वह तत्त्व। अब यह ज्ञान और ज्ञेयका द्वैत हो गया। अब धीरे-धीरे छूट कर यह द्वैत भाव कैसी बरबादीके वातावरणमें पहुंचाता है, देखते जाइए। ज्ञान ज्ञेयके भेदके बाद इस ज्ञेयरूप जीवको ज्ञेयोंमें भी द्वैत होने लगा। अमुक मेरे लिए इष्ट है,

और अमुक मेरे लिए अनिष्ट है। यह विपदाकी बात अब चलने लगी। सबसे बड़ी विपदा है—अन्तरमें किसी पदार्थके प्रति इष्टकी कल्पना बन जाय और किसी पदार्थके प्रति अनिष्टकी कल्पना बन जाय। इससे बढ़कर और विपदा इस जीव पर क्या हो सकती है ?

भेदविस्तारमें विपदाका प्रसार—मोही जीवको तो इस भावात्मक विपदाका भी भान नहीं है, सो बाहरी वस्तुवोंके संयोग और वियोगसे विपदा समझता है। वहां उसके विपदा है कहां ? वह तो बाहरी पदार्थ है। वहां विपदा नहीं है। विपदा तो इसके अन्तरमें ही है। यह अपने ज्ञानस्वभावसे चिगा, चित् स्वरूपके अनुभवनसे हटा, बाहरी पदार्थोंमें इष्ट और अनिष्टकी बुद्धि की कि बस यही सबसे भयंकर विपदा है क्योंकि इस भावके होने पर इस भावके साथ ही होड़ मच जाया करती है।

ज्ञानीके आत्मस्वभावकी निर्दोषताका भान—ज्ञानी जानता है कि यह ज्ञान अन्य सब भावोंसे, पदार्थोंसे पृथक् है, सो वह ज्ञानी अपने स्वरूपमें ही नियत है। वह अन्य किसीको ग्रहण करे और अन्य किसीको छोड़े ऐसी अटपट बात भी पड़ी हुई नहीं है। यह निर्मल है। जैसा इसका स्वरूप है वैसा ही अवस्थित है। आदि अंतके विभागसे मुक्त सहज ही जो इसमें ज्ञानप्रभा है उस प्रभासे देदीप्यमान् ज्ञानज्योतिसे सदा चकचकायमान् यह शुद्ध ज्ञानघन आत्मा, जिसकी महिमा सदा उदित है, स्वभाव अन्तरमें सदा उदित है, निर्दोष है। जैसे जल कीचड़से गंदा भी हो जाय तो गंदा होने पर भी जलका स्वभाव उस ही जलमें निर्मल है और सदा उदित है। पर जानने वाले लोग उपाय करके उस निर्मल जलको प्रकट कर लेते हैं। इस ही प्रकार इस संसारी अवस्थामें भी यह आत्मा अपने निर्मल स्वभावको लिए हुए सदा प्रकाशमान् है। जो पहिचानता है वह प्रज्ञाके उपायसे इसे प्रकट कर लेता है।

आत्मोपलब्धिमें—जिस जीवने निजस्वरूपको, निजरूपको जान लिया है और पुद्गलादिक समस्त परद्रव्योंको और पुद्गल उपाधिके निमित्तसे होने वाले भावोंको, परभावोंको जिसने पररूपसे मान लिया है ऐसा यह जीव सब कुछ अपने आपमें अपने ज्ञानतत्त्वको देख रहा है। जो कुछ मेरा है वह सब मेरे में है, मेरे से बाहर कहीं कुछ नहीं है। ऐसा जानकर परसमयका वमन करता है, स्वसमयको प्राप्त करता है और वह ज्ञानमात्र आत्मामें स्थिर होता है। तब यह समझिये कि इस ज्ञानी जीवको जो कुछ छोड़ने योग्य है वह सब कुछ छोड़ देता है और जो कुछ ग्रहण करने योग्य है वह सब कुछ ग्रहण कर लेता है, क्यों कि अब इस आत्माने अपनी सर्वशक्तियोंको संग्रहित करके इस निज पूर्ण आत्मतत्त्वको अपने

आपमें ही धारण कर लिया है। यही तो मोक्ष मार्ग है।

आत्मवृत्तिमें मोक्षमार्ग—भैया! मोक्षमार्ग कहीं बाहर शरीरादिककी चेष्टामें नहीं है। छूटना है जीवको, तो मार्ग भी मिलेगा जीवमें, अचेतनमें मार्ग न मिलेगा, पर इस भावमोक्षमार्गमें चलने वाले जीवके साथ जब तक शरीरादिक का सम्बन्ध लगा हुआ है तब तक शरीरादिक किस तरह चलते बैठते उठते हैं? यह लौकिक जनोंसे विलक्षणताको लिए हुए बात है। इस प्रकार समस्त परद्रव्योंसे यह ज्ञान बिल्कुल भिन्न व्यवस्थित हो चुका है। जो ज्ञान पुद्गलादिक समस्त पदार्थोंसे भिन्न है उस ज्ञानको फिर आहारक कहना, आहार करने वाला बताना, यह कैसे युक्त हो सकता है? इस ज्ञानको इस आत्मतत्त्वको आहारक होनेकी शंका नहीं की जानी चाहिए। इस ही बातको कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं।

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुग्गलमओ उ ॥४०५॥

अमूर्तमें मूर्ताहारकी असंभवता—शुद्धनयके अभिप्रायसे आत्मा मूर्तिक नहीं है, आत्माके स्वरूप और स्वभावको देखकर विचार करो तो यह आत्मा मूर्तिक नहीं है, अमूर्त है; रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिसे रहित है। जब ऐसा यह अमूर्त है आत्मा तो फिर यह आहारक कैसे हो सकता है? आहार तो स्पष्ट मूर्त है। यह स्वरूप देखकर बात कही जा रही है। अपने आपमें परख लो, तुम्हारा आत्मा रूप रस गंध स्पर्श वाला है क्या? वह तो ज्ञानमात्र अमूर्त तत्त्व है। तो उसमें भोजन रोटी, लड्डू, क्या चिपक सकते हैं? क्या इसका ग्रहण कर सकते हैं? इस कथनमें स्वभावदृष्टिको न छोड़ना, उसको नजरमें रखकर यह सब उपदेश ग्रहण करना। यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा भोजन ग्रहण नहीं करता हूं पर हुई कुछ खामी इस मुझमें जिसके कारण धीरे-धीरे बढ़कर यह इसकी नौबत आ गयी है कि आज कल अब तो भोजन ही सर्व कुछ है। आहार, भय, मैथुन परिग्रह—इन चारों संज्ञावोंसे पीड़ित ये जीव पाये जा रहे हैं, पर स्वरूपको देखें तो तुरन्त ही यह विवेक हो सकता है और उत्साह जग सकता है। आत्माका भोजनसे तो कुछ सम्बन्ध ही नहीं है।

अपनी प्रभुताकी स्मृतिमें बलप्रयोग—एक क्षत्री पुरुष था और एक बनिया था। क्षत्री तो दुर्बल शरीरका था और बनिया हृष्ट पुष्ट शरीरका था। दोनोंमें हो गयी लड़ाई। उस लड़ाईमें बनियाने क्षत्रीको पटक दिया और फिर छाती पर बैठ गया। बहुत देर तक उसने हैरानी सही, आखिर वह एक बात पूछता है कि यह तो बतावो कि हो तुम किसके बेटा? वह बोलता है कि मैं बनियेका बेटा हूं। अरे तू बनियेका बेटा है, इतना

सुनते ही उसके ऐसा जोश आया कि जैसे ही उसने हिम्मत की कि वह वनिथा नीचे और वह क्षत्रीय ऊपर हो गया। यह विभाव परिणाम राग-द्वेषादिक भाव ये ही इस प्रभु पर लदे हुए क्षोभ बनाए हुए इसें हैरान किए जा रहे हैं। बहुत हैरान होनेके बाद यह प्रभु भीतरसे आवाज देता है कि यह तो बतावो कि तुम हो किसके बेटा ? तो विभावोंके पास कोई उत्तर मजबूत है ही नहीं और कुछ है तो जैसी दृष्टि बनावो तैसा उत्तर है। उन्हें चाहे पुद्गलके बेटा कह लो, चाहे विकारोंके बेटा कह लो, कुछ पता ही नहीं है कि किसके बेटा हैं, ये कैसे हो गए हैं ? चाहे इन्हें फालतू बेटा कहलो और प्रायः पुद्गलके उद्भव समझें, जैसे ही उनका लटथड़ उत्तर सुना कि यह प्रभु ज्ञानदेव अपने अंतरमें उत्साह करता है कि इन व्यर्थके राग द्वेषोंसे मैं क्यों दबूँ ? ये कुछ नहीं हैं। एक अन्तरमें उपयोगको संभालने भरकी ही तो बात है। फिर सन्मार्ग इसका निर्बाध पड़ा हुआ है।

आत्माका व आहारका अत्यन्ताभाव होने पर भी कल्पनामें एकरसता— यह मैं आत्मा रूप रस गंध स्पर्शसे रहित हूं, अमूर्त हूं और ये पुद्गल द्रव्य मूर्त हैं, इनका ग्रहण करने वाला आहार करने वाला मैं नहीं हूं; इतना तो भेद है, पर इस मोही जीवमें भोजनके प्रति इतना अधिक आकर्षण है कि यह क्षुधाके विनाशके प्रयोजनसे भी नहीं खाता किन्तु खूब मजा हो, सुख हो इसलिए नाना तरहके भोजन बना-बनाकर खाता है। भोजन की विविधताका क्या ठिकाना है ? अभी देख लो बेसनसे बनने वाली कोई ५० तरहकी चीजें होती हैं, एक ही गेहूंके आटेसे पचासों तरह की चीजें बनायी जाती हैं, उनकी शकल भी अच्छी हो, रूप भी अच्छा हो, रस भी बढ़िया हो और कैसे-कैसे रसोंसे यह मोही जीव बँधा हुआ है। सम्बन्ध कुछ है नहीं। इस समयकी हालतमें यह भी एक कठिन बात है कि बाहर की कुछ परवाह नहीं करके केवल अपने आपके प्रयोजनकी बात कर लें। आत्महितके लिए आवश्यक है कि वर्तमान कमजोरीमें शरीरका कुछ स्वस्थ रहना, इसके ही प्रयोजनसे बात हो तिस पर भी यह जानता रहे कि मैं आत्मा अमूर्त हूं। ये पुद्गल, भोजन सब मूर्त हैं, इनका मेरे साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। इस विषयको बढ़ाते हुए अब और कह रहे हैं।

णवि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जंय जं परद्दव्वं।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वावि ॥४०६॥

आत्मामें आहारकत्वका अभाव—आत्मामें ऐसा कोई गुण नहीं है जिस गुणके द्वारा यह आत्मा आहारादिक परद्रव्योंको ग्रहण कर सके अथवा छोड़सके। न तो आत्मामें स्वभावसे ऐसा गुण है और न किसीके

प्रयोगसे ऐसा गुण उत्पन्न होता है। हे आत्मन्! यह आत्मा जब केवल अपने ही परिणमनको ग्रहण करता है और अपने ही परिणमन को विलीन करता है, अर्थात् पदार्थके नातेसे जैसे कि सभी पदार्थ यह काम करते हैं, यह भी मैं कर रहा हूं; तब इसमें परद्रव्योंको ग्रहण करनेकी और त्यागनेकी बात कहांसे कही जा सकेगी ?

प्रायोगिक गुणसम्बन्धी शंका समाधान--यहाँ शंका हो सकती है कि देख तो रहे हैं कि समस्त लोग आहार करते हैं। कर्मजनित एक प्रायोगिक गुण हुआ है अन्य आत्मामें जिसके कारण ये सब आहार ग्रहण किये जा रहे हैं और तुम कहते यह आत्मा ज्ञान अनाहारक है। यह आहारको ग्रहण नहीं करता है, यह बात कैसे समझमें आए ? इसका उत्तर है कि बात तो तुम्हारी ठीक है, भोजन बिना गुजारा नहीं देखा जा रहा है और यहां सभी जीव उसमें प्रवृत्त भी हो रहे हैं, लेकिन स्वरूपकी बात कही जा रही है, क्या यह ज्ञान अथवा आत्मा उस पौद्गलिक आहार में तन्मय होता है ? यह व्यवहारकी सब बात है कि जीव खाता है, चलता है, फिरता है, बैठता है, उठता है, यह सब व्यवहारनयका कथन है। व्यवहारनयके कथनका अर्थ यह है कि स्वभाववाली बात नहीं है, किन्तु परपदार्थजनित ये सब चेष्टाएँ हैं। यह तो निश्चयका आलम्बन करके स्वरूप दृष्टिसे कथन किया जा रहा है।

ज्ञानकी वृत्ति--ज्ञान पौद्गलिक आहारको ग्रहण नहीं करता है इतनी बात खा चुकने के बाद भी समझलें तो भी गनीमत है। खाते समय तो ध्यान न रहता होगा, और जो ज्ञान खाते समय भी ध्यानमें रख सकते हैं, खाते जा रहे हैं और यह दृष्टि बराबर बनी भी जा रही है कि यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूं, इस आत्मामें तो इस भोजनरसका सम्बन्ध भी नहीं होता है, आकाशवत् निर्लेप यह ज्ञानमात्र आत्मा हूं. इतना ध्यान यदि बना रह सके तो इसीको ही तो कहते हैं कि आहार करते हुए भी आहार नहीं करता है। जीवका जो कुछ करना हो रहा है वह ज्ञान गुणके द्वारा हो रहा है। यह ज्ञान जिस ओर प्रवृत्त होता है कार्य करना वही कहलाता है। जिसे स्वभावकी खबर है और इस ही ओर जिसकी दृष्टि है वह अपने आपमें अपने आपका दर्शन ज्ञान आचरण करने वाला है। वैसे कर्मोदयजनित प्रायोगिक गुणके निमित्तसे जो कुछ आहार गुणकी क्रिया हो रही है उसके करने वाले इस ज्ञानमात्र आत्माको नहीं देख सकते हैं। यह आत्मा यह ज्ञान आहारक नहीं है। जब ऐसी बात है तब इसका निष्कर्ष क्या निकला ? इस बातको इस शेष सम्बंधित इस तीसरी गाथामें कह रहे हैं।

तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो ग्गेव गिण्हए किंचि ।
गोव विमुंचइ किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७॥

आत्माके अनाहारकत्वका सिद्धान्तपक्ष— निश्चयनयसे यह जीव आहारक नहीं होता है, परन्तु जो विशेष रूपसे शुद्ध रागादिक रहित परिणमन करता है अथवा ऐसा ही जिसका स्वभाव है वह किसी भी प्रकारके आहारको ग्रहण नहीं करता है। इस सचित्त और अचित आहार का यह आत्मा ग्रहणकर्ता नहीं है। आहार होते हैं ६ तरहके—१ कर्माहार, २ नोकर्माहार, ३ लेप्याहार, ४ ओजाहार, ५ मानस आहार, ६ कवलाहार।

कर्माहार व नोकर्माहार—कर्माहार, कर्मोंका ग्रहण किया जाना। जैसे विग्रह गतिमें इसके कर्माहार ही तो मात्र रह गया। एक होता है नोकर्माहार अर्थात् शरीरवर्गणावोंका ग्रहण करना। यह आहार होता है सयोग केवली भगवानके और सबके भी। अरहंतदेवके शरीरमें शरीरवर्गणाके स्कन्धाणु आते रहते हैं। और इसही शरीर परमाणुके आते रहने रूप आहारके बल पर ही लाखों करोड़ों वर्षों तक मुखसे आहार किए बिना, पौद्गलिक आहार किए बिना जीवित रहते हैं।

लेप्याहार—एक आहार होता है लेप्याहार। जैसे ये वृक्ष अपनी जड़ों से कीचड़ मिट्टी पानीको खींच कर आहार करते हैं और जीवित रहते हैं। इन पेड़ोंके कहां मुख है, वे जड़से ही आहार ग्रहण करते हैं और देखो जड़से तो सभी आहार लेते हैं। क्या मनुष्य जड़से आहार नहीं लेता है? पर मनुष्यकी जड़ ऊपर है, पेड़ोंकी जड़ नीचे है, यह मनुष्य मानो उलटा पेड़ है, जो आहार लेनेका मूल स्थान है उसका नाम जड़ है, मूल है। मूल कट जाय तो फिर वह जीव जिन्दा नहीं रहता है। जैसे वृक्षकी जड़ कट जाय तो वृक्ष फिर नहीं रहता यों ही इस मनुष्यकी जड़ है सिर। इसीसे ही भोजनका आहार ग्रहण करता है। ये पेड़ जड़से आहार लेते हैं और लेप्य आहार लेते हैं। ये पेड़ मिट्टी, कीचड़ पानी आदिका ही आहार करते हैं।

ओजाहार—एक आहार होता है ओजाहार। जैसे ये चिड़ियां अंडे सेया करती हैं। उनमें जीव कई दिनों तक भीतर पड़ा रहता है। उनको आहार कहां से चिड़िया दें, तो अंडोंपर बैठे रहती हैं और अपनी गर्मी को, अपने ओजको उन अंडोंमें पहुंचाती रहती हैं।

मानसाहार—एक होता है मानसिक आहार। जैसे देवता लोग भूखे प्यासे होते हैं तो मनमें उनके वाञ्छा हुई कि कंठसे अमृत झड़ गया। वह अमृत क्या है? कुछ हम आपके थूकसे जरा बढ़िया थूक होता होगा। हम आप लोग भी तो जब थूक गुटकते हैं तो कितना अच्छा लगता है?

जब कंठसे ही थूक झरता है तो हम आप लोग कुछ रहृष्ट से हो जाते हैं, कुछ ठंडा दिमाग हो जाता है, भूख प्यास नहीं रहती, कुछ ऐसा इनमें भान बन जाता है, उनके कोई और विलक्षण झर जाता है।

कवलाहार और आत्माके आहारकत्वका अभाव--तो ये उक्त ५ प्रकारके आहार हैं--इन आहारोंमें एक आहार जो शेष रहा छटवां कवलाहार--खाकर आहार लेना उसकी यहां चर्चा चल रही है। पुद्गलद्रव्य सचित्त अचित्त पदार्थ इनका आहार यह जीव ग्रहण करता है, भोगता है। इस कारण नोकर्म आदारमय यह शरीर जीवस्वरूप मेरा नहीं है और जब शरीर ही नहीं रहा तो शरीरमय ये जो द्रव्यलिङ्ग हैं, साधु हो गए, नग्न हो गए, चर्या कर रहे हैं, व्रत पाल रहे हैं, तपस्या कर रहे हैं यह भी जीवका स्वरूप कहांसे होगा ? जब शरीर ही जीवका स्वरूप नहीं है तो शरीरका भेष, साधुभेष यह जीवका स्वरूप कैसे होगा ?

धर्मक्रियाओंमें पर्यायबुद्धता-- भैया ! स्वभावकी दृष्टि करिये, जो जीव अपने स्वभावको नहीं परखता और ऐसा ही कल्पनामें बना हुआ है मैं साधु हूं, मुझे देखकर चलना चाहिए, ऐसी पर्यायमयी कल्पना बन रही है विविक्त अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति ही नहीं है तो उस साधुके मिथ्यात्व बना हुआ है। सम्यक्त्व ही अभी नहीं जगा, साधुता तो बहुत आगेकी बात है। जैसे गृहस्थ जन या अन्य कोई मिथ्यादृष्टि जीव अपने आपमें ऐसा विश्वास रखता है कि मैं अमुक गांवका हूं, अमुक नामका हूं, इतने परिवार वाला हूं, ऐसी पोजीशनका हूं और मैं चिदानन्दस्वरूप चैतन्यतत्त्व हूं इसकी खबर नहीं है तो जैसा वह मिथ्यादृष्टि है इसही प्रकार जिसके यह कल्पना लगी है कि मैं साधु हूं, मैं मुनि हूं, मुझे यों चलना चाहिए, अब गरमीमें बैठकर खूब तपस्या करनी चाहिए, अब इन कर्मोंको जलाया जाय ऐसी कल्पना बनती है पर्यायमयी और चिदानन्द स्वरूप मैं चेतन-तत्त्व हूं, जिसकी वृत्ति केवल जानन देखन है, इस स्वरूपकी खबर नहीं है तो वह भी लौकिक पुरुषोंकी तरह मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए।

देहमयलिङ्गका आत्मामें अभाव--यहां स्वरूपदृष्टिका प्रतिबोध कराके उपदेश दिया जा रहा है कि जरा सोचो तो सही, यह अमूर्त आत्मा क्या पौद्गलिक आहारको ग्रहण कर सकता है ? नहीं। तो आहारसे या अन्य शरीरवर्गणावोंसे बना हुआ यह शरीर इस मुझ आत्माका कुछ है क्या ? नहीं। तो क्या यह शरीर हमारा नहीं है ? नहीं है। तो शरीरका जो भेष बनाया गया है वह चाहे गृहस्थका भेष हो और चाहे साधुका भेष हो, चाहे धोती दुपट्टा ओढ़कर, चाहे, कमण्डल पिछी उठाकर भेष बना हो या लंगोटी चादर लेकर पिछी कमण्डल लेकर भेष किया गया हो या सब

कुछ उतार कर नग्नरूपधरा गया हो, यह भेप क्या जीवका है ? नहीं है। विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी परमात्माके इस ज्ञायकस्वरूप आत्मदेवके जब नोकर्म आहार ही नहीं होते तब इन नोकर्माहारोंमें कमलाहार भी समझ लेना। तो फिर आहारमय देह ही इस जीवके कैसे भी नहीं है।

देहमय लिङ्गकी मोक्षहेतुताका अभाव—जब देह भी जीवके नहीं है तो देहमय द्रव्यलिङ्ग ही जीवके नहीं है। और जो चीज जीवकी नहीं है वह मोक्षका कारण नहीं है। निश्चयसे ज्ञानवृत्ति ही मोक्षका कारण है। शुद्ध ज्ञानदृष्टि रहना, निश्चयके साथ व्यवहारका मेल कैसे होता है ? यह भी एक रहस्य है। पर यह स्वरूपदृष्टि रखकर यह सब वर्णन चल रहा है। इस प्रकार इस शुद्ध ज्ञानके देह ही नहीं है तो देहमय कोईसा भी भेष और लिङ्ग इस ज्ञाताके मोक्षका कारण नहीं होता। इस गाथाके भावको अब अगली गाथामें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव सीधे स्पष्ट शब्द बोल कर बता रहे हैं।

ज्ञानमें परद्रव्यका असम्बन्ध, अग्रहण, अविसर्ग—ज्ञान किसी भी परद्रव्य से न कुछ भी ग्रहण करता है और न कुछ भी छोड़ता है, न उनमें प्रायोगिक गुणकी सामर्थ्य है और न उनमें कोई वैस्रसिक गुण है ऐसा जिसके कारण परद्रव्यको ग्रहण करनेमें यह आत्मा समर्थ हो सके या परद्रव्यके छोड़नेमें यह आत्मा समर्थ हो सके, परद्रव्यपना ज्ञानमें नहीं है। वह तो परद्रव्यमें ही है। ऐसा परद्रव्यरूप जो मूर्त पुद्गल द्रव्य है उसका आहार जीवके नहीं होता। और यों यह ज्ञान आहारक नहीं है। जब ज्ञान आहारक ही नहीं है तब यह ज्ञान शरीरवर्गणावों को और मूर्त पुद्गल द्रव्योंको ग्रहण ही नहीं करता है। तो फिर इसके देह है ऐसी तो शंका ही न करना चाहिए। ज्ञान तो केवल जाननस्वरूपको ही लिए हुए रहता है। शुद्धके ज्ञानमें देह ही नहीं है तो आत्माके देहमय लिङ्ग उस दोषके कारण कैसे होंगे ? इस विषयका वर्णन अब कुन्दकुन्दाचार्यदेव अगली दो गाथावोंमें कर रहे हैं।

पाखंडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥४०८॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाण चरित्ताणि सेयंति ॥४०९॥

व्यवहारमें धार्मिक दो लिङ्ग—जैन सिद्धान्तमें मोक्षमार्गके दो लिङ्ग कहे गए हैं—एक पाखण्डी लिङ्ग और एक गृहस्थोंका लिङ्ग अर्थात् एक तो धर्म है पाखंडियोंका और एक धर्म है गृहस्थोंका धर्म। पाखंडीका अर्थ है मुनि महाराज। पाखंडी शब्द सुनकर गालीरूप भाव न लेना। पाखंडी

शब्दका असली अर्थ है मुनि महाराज जो पापका खंडन कर दें। पर न जानें कैसी प्रथा चल गयी है कि खराब धारणा वालेको लोग पाखंडी कहा करते हैं। पर पाखण्ड का अर्थ है शुद्ध २८ मूलगुणोंका पालन करने वाले मुनि महाराज। तो दो धर्म हैं—एक पाखंडियोंका और एक गृहस्थोंका। ये मोही जीव इन लिङ्गोंको धारण करके ऐसा मानते हैं कि यह ही मोक्ष का मार्ग है। मोक्षका मार्ग वास्तवमें भावलिङ्ग है। रागादिक विकल्प उपाधिरहित परमसमाधिरूप भावलिङ्ग मोक्षका मार्ग है, ऐसा ज्ञान नहीं है। तो इस द्रव्य लिङ्गको ही मुक्तिका कारण मानते हैं।

पाखण्डीलिङ्गकी विशुद्धता—इन लिङ्गोंमें पाखण्डी लिङ्ग तो एक ही प्रकारका है और गृहस्थोंके लिङ्ग कई प्रकारके हैं। गृहस्थ अविरत भी होते हैं और प्रतिमाधारी भी होते हैं और पाखण्डी महाराज केवल एक ही प्रकारके होते हैं, शुद्ध २८ मूल गुणोंका पालन करने वाले होते हैं। इसी कारण साधु महाराजमें कोई भी मूल त्रुटि नजर आए तो वह साधु नहीं कहला सकता। साधु तो परमेष्ठीका नाम है। परमेष्ठीका दर्जा कितना विशुद्ध होता है? उन साधुजनोंसे गृहस्थोंको कुछ मिलता नहीं, गृहस्थोंको दुकान नहीं करा देते, गृहस्थोंके शादी विवाह नहीं करा देते, कुछ भी लाभ नहीं है, फिर भी उन साधुवोंके चरणोंमें मस्तक झुकाते, अपना सर्वस्व त्याग करते हैं। तो उन साधुवोंमें बड़ी विशुद्धि होनी चाहिए।

साधुकी निरारम्भता—साधुवोंके किसी भी प्रकारके विषयोंकी चाह नहीं होती, किसी भी प्रकारका आरम्भ परिग्रह नहीं होता। उनके तो जो ६ आवश्यक कार्य हैं वंदना, प्रतिक्रमण स्तुति आदिक बस इतना ही मात्र उनका आरम्भ है और पिछी कमण्डल पुस्तक इनको ही ग्रहण करना इनको ही समितिपूर्वक धरना, उठाना इतना ही मात्र आरम्भ है, सो ये आरम्भ नहीं कहलाते। ये तो साधनाके उपकरण कहलाते हैं। इसके अलावा अन्य किसी भी प्रकारका आरम्भ हो तो वह साधु नहीं है; आरम्भी साधुके तो द्रव्यलिङ्ग भी नहीं है, भावलिङ्गकी बात दूर रही। गृहस्थजन नाना प्रकारके कर्तव्योंमें रहते हैं उनके लिङ्ग प्रकार बहुत हैं। उनमें कोई कितनी चूकें रहा ही करती हैं तभी तो वे गृहस्थ हैं। पर गृहस्थ अन्तरमें श्रद्धानका इतना विशुद्ध होता है कि मेरा जो आदर्श है अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये मेरे आदर्श निर्दोष हैं। स्वयं आचरण कुछ नहीं कर पा रहा गृहस्थ, मगर जिन्हें पूज्य माना गया उन्हें निर्दोषताके कारण ही पूज्य माना करता है। यों साधु लिङ्ग और गृहस्थ लिङ्ग दो प्रकारके धर्म व्यवहारमें जिनशासनमें कहे हैं।

व्यवहारमुग्धोंकी व्यवहारमें अटक—द्रव्यलिङ्गोंको धारण करके मूढ

जन ही कृतार्थताका ख्याल करके संतुष्ट होते हैं, जैसे कि गृहस्थ संतुष्ट हो जायें। हम रोज पूजा कर लेते हैं, थोड़ा स्वाध्याय कर लेते हैं, सुन लेते हैं, हमने तो अपने हितका काम पूरा निभा लिया है, और इसीसे ही हम तिर जायेंगे। यों गृहस्थोंके व्यावहारिक कर्तव्योंमें मोक्षमार्ग मान लेना जैसे गृहस्थका अपराध है, इसी तरह साधुके व्रत निर्दोष पालन करनेमें निर्दोष समितिमें कहीं बाधा न हो, देखकर चलें, भाषा भी बहुत प्रिय बोलें कि लोग सुनते ही अपना भय समाप्त कर लें, हितकी वाणी बोलें। यों बड़ा निर्दोष चारित्र पाल रहा है कोई साधु और अन्तरमें यह दृष्टि न बन सकी कि मैं तो अमूर्त एक चिदानन्दस्वरूप हूं, मेरा कर्तव्य तो ज्ञाता द्रष्टा रहने का है और केवल ज्ञानवृत्ति विशुद्ध बने, यही मोक्षमार्ग है, ऐसी निर्विकल्प समाधिरूप अंतरङ्ग चारित्रकी भावना जिनके नहीं है, उसे जानते ही नहीं हैं, वे इतना ऊँचा बाह्य चारित्र पालते हुए भी उनके लिए आचार्य महाराज कहते हैं कि 'इदं लिङ्गं मोक्षमार्गः' ऐसा मूढ़ ही कहते हैं।

पर्यायमूढ़की वृत्ति—भैया! मूढ़ नाम है मोहीका। जो पर्यायमें मुग्ध हो उसका नाम मूढ़ है, चाहे गृहस्थ हो और चाहे साधु हो। पर्याय मायने शरीर और शरीरकी चेष्टाएँ, इनमें ही जो मुग्ध हो ऐसे मूढ़जन गृहस्थ लिङ्गको धारण करके कहते हैं कि, यह मोक्षमार्ग है और पाखंडी लिङ्ग को भी धारण करके कहते हैं कि यह मोक्षमार्ग है, किन्तु भावलिङ्गरहित यह द्रव्यलिङ्ग मोक्षका मार्ग नहीं हो सकता। साधु नाम है ज्ञानकी मूर्तिका, चारित्रकी मूर्तिका। जैसे ज्ञान अंतरङ्ग ज्ञायकको संकेत करता है इसी प्रकार चारित्र अंतरङ्ग चारित्रको संकेत करता है। मोक्षमार्ग कहीं बाहरी वृत्तियोंमें नहीं है। जो बाहिरी वृत्तियोंमें मोक्षमार्ग मानते हैं वे पर्यायमूढ़ हैं।

द्रव्यलिंगमें ममता न करने वालोंके उदाहरण—जिस कारण अरहंत भगवान देहसे निर्मम होकर, लिङ्गके आधारभूत शरीरकी ममताको छोड़कर दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी सेवा करके थे, भावना करते थे, इससे भी सिद्ध है जीवोंके देहके आश्रित जो चिन्ह हैं, लिङ्ग हैं, भेष है वे मोक्षमार्ग नहीं हैं। यदि शरीरका कपड़ारहित हो जाना मोक्षका मार्ग होता तो पुराण पुरुषों ने इस शरीरकी दृष्टि छोड़कर आत्मामें दृष्टि क्यों लगायी? जब शरीरका भेष मोक्षका मार्ग है तो शरीरपर ही दृष्टि बनाए रहते, किन्तु ऐसा किसी ने नहीं किया, ऐसा करके कोई मोक्षमार्ग पा नहीं सका। इससे यह जानिए कि यह द्रव्यलिङ्ग मोक्षका मार्ग नहीं है।

द्रव्यलिङ्गमें मोक्षमार्गत्वकी प्रसिद्धिका कारण—द्रव्यलिङ्ग मोक्षका मार्ग है, ऐसा प्रसिद्ध क्यों हो गया? इसका कारण यह है कि भाव लिङ्ग का

और बाहरमें होने वाले इस द्रव्यलिङ्गका कोई मेल सम्बन्ध है। वह किस प्रकार? जिस पुरुषको आत्माके ज्ञानानन्दस्वरूपकी रुचि तीव्र हुई है उस मनुष्यकी वृत्ति ज्ञान और आनन्दस्वरूपमें मग्न होनेके लिए होगी। जो पुरुष ज्ञानानन्दस्वरूपमें मग्न होनेका यत्न करेगा वह धन वैभव मित्रजन देश कैसे चिपका सकेगा? उसकी तो रुचि निज शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर लगी है। औरोंकी तो बात जाने दो, जो आत्मस्वभावका प्रबल रुचिया है, उसे एक धागेका उठाना और बाँधना भी विपत्ति मालूम होती है, ऐसी जिसके अपने आत्मस्वभावकी तीव्र रुचि जगी है उसके समस्त बाह्यपदार्थोंसे हटे रहनेका ढंग बन गया और जिसके आत्मकल्याणकी ही धुनि है उसके अभी शरीर लगा है ना, क्षुधा, तृषा, आदिक बाधाएँ भी लगी हैं और काम करना है इस मनुष्य भवमें अभी आत्मकल्याणका। बहुत दिन तक इस शरीरको रखना भी एक गौणरूपसे आवश्यक हो गया है। इस ही हेतु यह सब द्रव्यलिङ्ग भी हो जाता है।

द्रव्यलिङ्गकी साधनासहायकता—भैया! जब चलेंगे साधुजन तो क्या ऊपरको सिर उठाकर चलेंगे? जिनका इतना विशुद्ध ज्ञान वैराग्य है कि अपने आत्मा की दृष्टिसे रंच भी नहीं हटना चाहते, वे चलेंगे कभी कारणवश तो क्या अगल बगलमें बातचीत हँसी ठट्ठा करते हुए चलेंगे? क्या जहाँ चाहे सिर उठाकर चलेंगे? यह वृत्ति नहीं हो सकती। गमन होगा नीची दृष्टि रखकर, मौन लेकर। वहां तो केवल जीवरक्षाका ख्याल होता है। तो यह वृत्ति बनती है पर कोई अपने अंतरङ्ग प्रयोजन को तो जाने नहीं और इन बाहरी वृत्तियोंमें ही मोक्षमार्ग है, ऐसा श्रद्धान रखे तो कहते हैं कि वे पर्यायमूढ़ हैं। इस वृत्तिसे वे मोक्षमार्गमें नहीं हैं और न उनकी साधुता है, न गृहस्थापना है। बहुत मोटी युक्ति यह जानना कि जो अरहंत भगवान हुए हैं उन्होंने क्या द्रव्यलिङ्ग धारण नहीं किया, मगर द्रव्यलिङ्ग की ममता त्याग करके शुद्ध ज्ञायकस्वभावमें दृष्टि जगाई, इससे यह विदित होता है कि द्रव्यलिङ्ग मोक्षका कारण नहीं है किन्तु मोक्षकी साधना करने वाले भावलिङ्गी पुरुष को यह द्रव्यलिङ्गका वातावरण उसके कर्तव्यमें सहायक है।

भैया! बाह्य क्रियाएँ द्रव्यलिङ्गी और भावलिङ्गी मुनिके यद्यपि एक सी होती हैं, फिर भी अन्तरमें सम्वर और निर्जराका कारण भावलिङ्ग है। ज्ञानी शुद्ध अन्तस्तत्त्वका आश्रय कर रहा है और अशुद्ध कर्मोंसे हट कर अपने अंतरङ्गमें प्रवेश करके सम्वर और निर्जरा कर रहा है।

ज्ञानीकी बाह्यचेष्टाकी नकलमें सिद्धिके अभावका उदाहरण—जैसे एक कोई व्यापारी है। वह गया चावल निकालनेके बड़े मिल पर, वहां बहुत

धानके ढेर रखे हुए थे, सो उस व्यापारीने धान खरीद लिया। उसके पीछे एक गरीब मूर्ख लग गया। उसने सोचा कि यह कैसे धनी बन गया है, देखें तो सही, यह क्या काम करता है ? जो काम यह करेगा हो वही काम हम करेंगे तो हम भी धनी बनेंगे। देखा उसने कि सेठ साहब कुछ मटमैले रङ्गकी ऐसे आकार प्रकार की कोई चीज खरीद लाए हैं। ठीक है, वह व्यापारी तो चला गया। भाव भी उस व्यापारीसे उस गरीबने पूछ लिया था। मानो उसने १०) मन भाव बताया। तो दो तीन दिन बाद वह भी उसी चीजको खरीदने के लिए उसी मिल पर गया। तो चावलों का जो छिलका होता है ना, वहीं वहां ढेरों पड़ा हुआ था। पूछा भैया ! यह क्या भाव हैं ? कहा २) रुपये मन। वह बड़ा खुश हुआ। मैं तो सेठ साहबसे भी अधिक धनी बन जाऊँगा। वह तो ले गया था १०) मन, हमें दो रुपये मन मिल रहे हैं। सो कहा कि अच्छा भर दो जितने हों। खरीदकर वह बाजार ले गया। बाजारमें वही भाव बिके जो भाव वह ले गया था, बल्कि उससे भी कुछ कम भाव पर बिके। सोचा कि क्या बात है ? वैसी ही चीज, वैसा ही रंग, फिर भी हमें घाटा हो गया और सेठ मालोमाल हो रहा है।

ज्ञानीकी बाह्यचेष्टाकी नकलमें सिद्धिका अभाव--इसी तरह भावलिङ्गी मोक्षमार्गका सफल व्यापारी इन २८ मूलगुणोंका पालन कर रहा है। एक मूढ़ने सोचा कि इनकी इज्जत भी बहुत बड़ी है। हर एक कोई इनके हाथ जोड़ता है, पैर पकड़कर खिलाते हैं, इनका तो शासनसा चल रहा है। सो ऐसा करें ना कि यह लिङ्ग अपन धारण कर लें तो दुनियाका मजा भी मिलेगा, खानेको मिलेगा, सभी लोग हाथ जोड़ेंगे और साथ ही कर्म कट जायेंगे क्योंकि इनके कर्म कट रहे हैं। धर्म भी हो जायेगा। सो द्रव्यलिङ्ग धारण कर लिया। धारण करनेके बाद भावलिङ्गी तो मोक्षमें बढ़ गया और द्रव्यलिङ्गी बढ़ना तो दूर रहा, जैसे कि आजकल बतलाते हैं कि कई करोड़ साधु इस पंचम कालमें दुर्गतिमें जायेंगे, तो ऐसी ही स्थिति उस द्रव्यलिङ्गी की हो गयी। इस गरीब व्यापारीको यह पता न था कि छिलकोंके भीतर जो सफेद-सफेद चावल है उसकी सारी कीमत है, इस ऊपरी छिल्के की कीमत नहीं है। इसी तरह इस द्रव्यलिङ्गी साधु को यह पता नहीं है कि अन्तरमें आत्मस्वभावकी रुचि ज्ञान और उस ज्ञानरूप वर्तते रहना इस रत्नत्रयको कीमत है। इस शरीरकी अथवा इसके बाह्य खटपटोंकी कीमत नहीं है। जैसे चावलके पीछे धान का छिल्का भी बड़े व्यापारियोंके हाथमें शोभा देता है इसी तरह इस अंतरङ्ग रत्नत्रय के साथमें इस शरीरकी पूज्यता लगी हुई है। यह बात उस द्रव्यलिङ्गीको पता नहीं है। इस कारण वे द्रव्यलिङ्गको ही ग्रहण करके यह ही मोक्ष का

मार्ग है इसी प्रकार कितने ही लोग द्रव्यलिङ्गको ही अज्ञानसे मोक्षमार्ग मान रहे हैं। और इसी कारणके मोहसे द्रव्यलिङ्गको ही ग्रहण करते हैं।

आत्मसाधनाका उद्यम—भैया! जिसे आत्मसाधना चाहिए उसे अपने बारेमें दुनिया मुझे कुछ जान जाय, ऐसा भाव तो करना ही न चाहिए। अंतरङ्गमें ऐसी कल्पना न जगनी चाहिए और ज्ञानके अभ्यासकी, ज्ञान भावना की वृत्ति बनाए रहना चाहिए, गृहस्थ हो अथवा साधु हो। जैसे जन्ममरण सबका एकसा होता है इसी तरह संसार और मोक्षकी पद्धति भी सब जीवोंमें एक किस्मसे होती है। वहाँ ऐसा भेद नहीं है कि गृहस्थ तो भगवानकी पूजा करके, द्रव्य चढ़ाकर मोक्ष चला जायेगा और साधु महाराज इस-इस तरहसे चर्या करके मोक्ष चले जायेंगे। मोक्षका मार्ग केवल एक ही प्रकारका है—यह शुद्ध ज्ञायक स्वभाव अपनी दृष्टिमें आये और इस ही रूप अपना अनुभवन करे, विकल्पोंका परिहार हो, निर्विकल्प ज्ञानानुभूति जगे, ऐसी वृत्ति ही मोक्षका मार्ग है। गृहस्थोंके कभी-कभी होती है इसलिए ही परम्परया मोक्षमार्ग है और साधुपनेमें यह वृत्ति निरन्तर हो सकती है। इसलिए वह भव्य प्राणी साक्षात् मोक्षमार्गी है।

द्रव्यलिङ्गके ममत्वके त्यागकी अनिवार्यता—देखो जितने भी भगवान अरहंत बने हैं वे शुद्ध ज्ञानमय ही तो है। उन्होंने द्रव्यलिङ्गका आश्रयभूत जो शरीर है उस शरीरके ममत्वका त्याग किया था तब उन्हें मोक्ष मिला है। तो द्रव्यलिङ्गीके आधारभूत शरीरकी ममतासे मोक्ष है या ममताके त्यागसे? इसी प्रकार इस द्रव्यलिङ्गकी ममतासे मोक्ष है या द्रव्यलिङ्गकी ममताके त्यागसे? त्यागसे ही मोक्ष है, जब उन अरहंत भगवंतोंने शरीर का आश्रयभूत द्रव्यलिङ्गका त्याग करके दर्शन ज्ञान चारित्र मात्र आत्मतत्त्वको ही मोक्षमार्गके रूपसे अपनाया, उपासा, तब उनको मोक्ष मिला।

मोक्तव्य और मुक्तिस्वरूपके परिज्ञानकी आवश्यकता—सो भैया! यह अबाधित सिद्ध है कि जिसे मुक्ति दिलाना है, उसकी पहिचान करनी है और जैसी स्थिति दिलानी है उसकी पहिचान करनी है। इन दो परिचयों के बाद फिर मोक्षमार्ग मिलता है। जिसे मुक्त कराना है उसका ही सही पता नहीं तो बेपतेके लिफाफेकी तरह यहाँसे वहाँ भटकना बना रहता है। किसी लिफाफेको बिना पता लिखे लेटर बाक्समें डाल दो तो डाकिया उसे कहाँ ले जाये, वह लिफाफा तो इधर उधर ही भटकेगा। इसी तरह अपने आपका पता नहीं है और डाल दिया निर्ग्रन्थ लिङ्गके लेटर बाक्स में तो उस लिफाफा जैसी उसकी स्थिति है। अब वह कहाँ जाय बतावो? कभी किसीके संघमें घुसा, कभी किसीके संघमें घुसा, कभी कहीं मन बहलाया। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि जिन्हें आत्महित करना हो

वे अपने आत्मतत्त्वका यथार्थ परिचय करें और इस विविक्त ज्ञायकस्वरूप आत्मतत्त्वकी अंतरंगसे रुचि करें तो इससे कल्याणके पात्र हो सकते हैं।

देहपरिणतिके ममत्वकी मुक्तिबाधकता—साधुलिङ्ग और गृहस्थलिङ्ग इन्हें ग्रहण करके मूढ़ पुरुष 'यह ही मोक्षमार्ग है' ऐसा माना करते हैं, पर उन्हें यह खबर नहीं है कि इस देहका ममत्व त्यागने पर ही मोक्षका मार्ग मिलता है। देहके आश्रित जो लिङ्ग, चिन्ह बनता है उसमें ममताका भाव होना सो देहकी ममता कहलाती है, इसही बातको अब अगली गाथामें सिद्ध करते हैं।

णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहमयाणि लिंगाणि।
दंसण णाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४१०॥

द्रव्यलिङ्गके मोक्षमार्गत्वका निषेध—पाखंडी लिङ्ग और गृहस्थ लिङ्ग ये मोक्षके मार्ग नहीं हैं। पाखंडी लिङ्ग कहते हैं २८ मूल गुणोंका धारण करना। पा मायने पाप, खंडी मायने नष्ट करने वाला अर्थात् जो पापोंको नष्ट करदे उसका नाम है पाखंडी। तो इन कर्ममल पापोंका नष्ट करने वाला है साधु, इसलिए वास्तवमें साधुका नाम पाखंडी है। और उस पाखंडी का जो चिन्ह है २८ मूल गुणों का पालन करना सो यह बाह्यरूप रहता है, इसलिए द्रव्यलिङ्गी साधुके जो देहाश्रित क्रियामें ममता रहती है। उसका अर्थ ही यह होता है कि उसका देहमें ममत्व है। इसी प्रकार गृहस्थजनोंके जो लिङ्ग हैं, क्रियाकाण्ड हैं उन क्रियाकाण्डोंमें ममता यदि रहे तो उसका भी अर्थ यही है कि उसे पर्यायमें देहमें ममत्व है।

परद्रव्यरूपताके कारण द्रव्यलिङ्गके मोक्षमार्गत्वका अभाव—ये लिङ्ग देह के आश्रित हैं, परद्रव्य रूप है। ये मोक्षके मार्ग नहीं हो सकते। मोक्षका मार्ग तो स्वद्रव्यरूप है, परद्रव्यरूप नहीं है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र ही मोक्षका मार्ग है क्योंकि यह रत्नत्रय भाव आत्माके आश्रित है, इस कारण स्वद्रव्यरूप है। आत्माके मोक्षका मार्ग स्वद्रव्यरूप हो सकता है परद्रव्यरूप नहीं हो सकता। परद्रव्यका बंधन, आश्रय, दृष्टि तो संसारको बढ़ाने वाली होती है। जहां निर्विकल्प समाधिभाव नहीं है अर्थात भावलिङ्ग नहीं है, ऐसी स्थितिमें चाहे साधुलिङ्ग हो, चाहे गृहस्थलिङ्ग हो अर्थात् चाहे नग्न अवस्था हो और चाहे लंगोटी चद्दर आदि की अवस्था हो, ये सब मोक्षमार्ग नहीं हो सकते हैं क्योंकि जिनेन्द्रदेवने तो एक शुद्ध बुद्ध आत्म-स्वभावके आलम्बनको ही मोक्षका मार्ग कहा है। वह है परमात्मतत्त्वके श्रद्धान ज्ञान और अनुभवनरूप निज कारणसमयसारका आलम्बन। वह किस रूप होता है? वह परमात्मतत्त्वके श्रद्धान ज्ञान और अनुभवनरूप होता है। इसी को कहते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

मुक्तियत्नकी जिज्ञासा—जिनेन्द्रदेव ने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकताको मोक्षका मार्ग कहा है। जब ऐसी बात है कि देहाश्रित लिङ्ग मोक्षका कारण नहीं है किन्तु आत्माश्रित भाव ही मोक्षका कारण है तब मोक्षकी प्राप्ति के लिए भव्यपुरुषोंको कौनसा यत्न करना चाहिए, ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्यदेव समाधान करते हैं।

तम्हा दु हित्तु लिंगे सागारणगार एहिं वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ।४११।।

स्वरूपदृष्टिमें संकटमोचनताका स्वभाव—जब कि देहाश्रित लिङ्ग मोक्ष का कारण नहीं है, द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है, इस कारण समस्त द्रव्य लिङ्गोंका त्याग करना अर्थात् द्रव्यलिङ्गकी ममताका त्याग करना चाहिये व दर्शन ज्ञानचारित्रमें ही अपने आत्माको लगाना चाहिए, क्योंकि छुट-कारे का मार्ग यही है। अभी लौकिक बातोंमें भी देख लो। यदि आप किसी प्रकारकी चिन्तामें बैठे हों, धनहानि हो गयी हो या अन्य अनिष्ट आपत्ति आयी हो, चिन्तातुर बैठे हों तो जिस काल इस देहके और देहके सम्बन्धमें हुए परद्रव्योंकी बात भूलकर आत्माके सहजस्वभावको जब निरखने लगें तो उस कालमें आपको कुछ संकटोंसे मोक्ष हो जायेगा। यह मोक्ष है सर्वथा संकटोंसे छूट पाना। और सम्यग्ज्ञान होने पर जब तक छद्मस्थ अवस्था है तब तक। जब जब यह ज्ञानस्वभावका उपयोग करता है तब यह संकटोंसे छूट जाता है। फिर उपयोग बदल गया, बाह्यमें लग गया तो फिर संकट आ गये, आयेंगे। संकटोंसे मुक्त होनेका उपाय दर्शन ज्ञान चारित्रमें अपने आपको लगाना है।

समीचीनता—दर्शन क्या है? परद्रव्यसे भिन्न, परभावसे भिन्न एक सहज ज्ञायकस्वभावरूप अपने आपमें 'यही मैं हूं' ऐसी प्रतीति करना और इसकी ही रुचि करना यह है आत्मदर्शन। सम्यग्दर्शन वस्तुतः ज्ञान की स्वच्छताको कहते हैं। ज्ञानमें मल पड़ा हुआ है तो वह है मोहका, मिथ्या भावका। विपरीत आश्रय न रहे ऐसी स्थितिमें जो स्वच्छता प्रकट होती है उसीका नाम सम्यक्त्व है अर्थात् परमार्थका फक्काटा है। सम्य-ग्दर्शन ज्ञानकी ऐसी स्वच्छ स्थितिका नाम है और सम्यग्ज्ञान ऐसे स्वच्छ वर्त रहे ज्ञानका, जाननका नाम है और सम्यक्चारित्र ऐसी स्वच्छ वर्त रही ज्ञान की वर्तनाका नाम है। हे आत्मन्! धुनि बनावो अपने आत्म-दर्शन, आत्मज्ञान और आत्मरमण की। इस धुनिके रहते हुए जो इतने ही उद्देश्यकी पूर्तिके लिए कोशिशें होंगी उनमें यह सागार लिङ्ग और अनागार लिङ्ग ये अवश्य आयेंगे, पर उन लिङ्गोंमें ममता न करना।

पर्यायबुद्धिका अंधेरा—भैया! बड़ी कठोर साधना करने पर भी

११ अंग नौ पूर्वका पुष्कल परिपूर्ण पुष्ट ज्ञान होनेपर भी अंतरङ्गमें मिथ्या भाव रह सकता है, ऐसी पर्यायबुद्धिकी सूक्ष्मता है कि उसको पकड़कर नहीं बताया जा सकता है और न उन ज्ञानी पुरुषोंकी ही पकड़में आ पाता है। जो ११ अंग ९ पूर्वका विशद ज्ञान कर रहे हैं। अब कौनसा भाव रह गया है ? यदि इसकी परख युक्तिसे करनी है तो यह जानलो कि जो मोटा भाव अपनी समझमें मिथ्यात्वविषयक आ रहा है कि इसका नाम है मिथ्यात्व, तो उस ही जातिका संक्षिप्त कोई भाव रहता है जिसका नाम है मिथ्यात्व। मिथ्यात्वकी एक ही पद्धति है। फिर शाखाएँ अनेक फूट जाती हैं। मिथ्यात्वकी पद्धति है अपनी पर्यायमें 'यह मैं हूं' ऐसी प्रतीति करना। अब इस ही परिभाषाको आप सर्वत्र घटाते जायें।

पर्यायबुद्धिका सूक्ष्म भेष—जो व्यक्ति तीव्रमोही है उसमें भी यही परिभाषा घटेगी और ११ अंग ९ पूर्वके पाठी द्रव्यलिङ्गी जो साधु हैं उनमें भी यही परिभाषा घटेगी—पर्यायमें आत्मबुद्धि करना। यह व्यक्त मिथ्यादृष्टि देहमें ममता करता है। धन वैभवको सकोचते हैं, समेटते हैं उसमें प्राण, बुद्धि बनाया है और यह आगमपाठी, अपनी अन्तरभावनाके अनुसार सच्चाईके साथ साधुव्रत पालने वाला, २८ मूल गुणोंमें कोई दोष और अतिचार नहीं हो पाते, ऐसे बड़े विशुद्ध चारित्रसे बाह्य चारित्रसे अपना जो साधन बनाए हुए हैं ऐसे द्रव्यलिङ्गी मिथ्यादृष्टिमें भी पर्यायमें आपा माननेकी बात बड़ी हुई है। यद्यपि वहाँ इतनी मोटी बात नहीं नजर आती कि देहको वह कहता हो कि यह मैं हूं, बल्कि शत्रुके द्वारा कोल्हूमें भी पेल दिया जाय तो उस समय भी वह साधु यह भाव नहीं लाता कि यह मेरा दुश्मन है, उसके प्रति वह अनिष्टपनेका ख्याल नहीं करता है। इतना तक उस साधु पुरुषका विशुद्ध अभिप्राय रहता है। इतने पर भी कैसी पर्यायबुद्धि सूक्ष्मतासे पड़ी हुई है कि उनके गुणस्थान मिथ्यात्व ही रहता है। कोल्हूमें पिलता हुआ यदि यह प्रतीति रखे है कि मैं साधु हूं, मुनि हूं, मुनिको रागद्वेष न करना चाहिए। मुनिको तो मित्र और शत्रु सब एक समान हैं— ऐसा परिणाम, ऐसी प्रतीति अन्तरमें साधु की हुई है और चिदानन्दस्वरूप निजतत्त्वका भान भी नहीं है तो वही तो मिथ्यात्व है क्योंकि जो वर्तमान परिणमन है, साधु अवस्था है उस साधु पर्यायमें आपापनेकी बुद्धि हो गयी है कि मैं साधु हूं।

द्रव्यलिङ्गीकी पर्यायबुद्धता—जैसे कोई कहता है कि मैं गृहस्थ हूं, अमुक मुन्नाका बाप हूं, अमुकका रिश्तेदार हूं, अमुक गाँवका वासी हूं, अमुक अधिकारी हूं ऐसे ही उस द्रव्यलिङ्गी साधुने भी ऐसा समझा है अपने बारेमें कि मैं साधु हूं। उसे यह खबर नहीं है कि मैं साधु नहीं हूं,

मैं गृहस्थ भी नहीं हूं, और तो बात जाने दो, मैं मनुष्य तक भी नहीं हूं, तो साधु तो कहलायेगा कौन ? मैं एक ज्ञायकस्वभावी चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व हूं। यह प्रतीति नहीं आ पाती और बाह्य व्रत तप आचरणकी बड़ी संभाल भी की जाती है, पर द्रव्यलिङ्गमें उसे ममता है, इस कारण उसके मोक्षमार्ग नहीं बन पाता। जब कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र ही मोक्षका मार्ग है, ऐसा जिनेन्द्रदेव निरूपण करते हैं।

आत्महितार्थीका कर्तव्य—भैया ! तब क्या करना ? हे भव्य पुरुषो ! निर्विकार स्वसम्वेदनरूप भावलिङ्गसे रहित जो ये बहिरङ्ग द्रव्यलिङ्ग हैं, गृहस्थोंके द्वारा धारण किए गए अथवा साधुवोंके द्वारा धारण किए गए इन लिङ्गोंको छोड़कर याने इन पर्यायोंमें ममताको न करके अपने आत्मा को मोक्षके मार्गमें लगावो। वह मोक्षका मार्ग क्या है ? असीमह् ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शक्तिस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्वके यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और आचरण रूप अभेद रत्नत्रयमें, मोक्षके मार्गमें इस अपने आत्माको युक्त करना। देखो जिस संगमें हो जिस समागममें हो, वे परिकर आपको हितरूप नहीं हैं, आपको शरणभूत नहीं हैं। आप स्वयं एक सत् हैं, कुछ समयसे इस पर्यायमें रह रहे हैं। कुछ ही समय बाद इस पर्यायको त्यग देंगे, आगे की यात्रामें बढ़ जायेंगे। फिर यहाँ का क्या रहा ? यहाँ का यह सब कुछ यहाँ भी कुछ नहीं है, पहिले तो क्या था और आगे क्या होगा ? इस इन्द्रजालसे ममताको हटा लेनेमें ही कुशलता है। इस आत्मा की कुशलता निर्मोह होनेमें है। मोह करके, राग करके कुछ यहाँके परिग्रहों में कुछ व्यवस्था या वृद्धि करके अपनेको चतुर मानना, यह एक बड़ा धोखा है, अकुशलताकी बात है। गृहस्थको यह भी करना पड़ता है, पर उसका परमार्थ कर्तव्य तो रत्नत्रयकी उपासना ही है।

साधुका आन्तरिक जागरण—भैया ! आगममें बताया गया है कि साधुवोंको नींद अन्तर्मुहूर्त तक आती है क्योंकि निद्रा एक प्रमाद है और प्रमत्त अवस्था साधुके अन्तर्मुहूर्तसे ज्यादा नहीं चलती। अन्तर-अन्तर्मुहूर्तमें प्रमत्त अवस्था और अप्रमत्त अवस्था बदलती रहती है, यदि अन्तर्मुहूर्तसे अधिक निद्रामें मग्न हो गया तो उस साधुके गुणस्थान भंग हो जाते हैं। उसके बाद या तो उसे अप्रमत्त गुणस्थानमें पहुंचना चाहिए या फिर नीचेके गुणस्थानमें गिरना चाहिए। प्रमत्त गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं रहता। तो जहां इस साधुका इतनी सावधानीका परिणाम है, अन्तर्मुहूर्त बाद फिर अप्रमत्त अवस्थामें पहुंचता है। शुद्धोपयोगका प्रेक्टिकल रूपसे पदवीके अनुसार अन्तर्मुहूर्तमें स्पर्श किया करता है। उस साधुकी महिमा को कौन कह सकता है? वह ही तो परमेष्ठी

में शुमार किया गया है। अपने आत्मतत्त्वका श्रद्धान् ज्ञान, आचरणरूप अभेदरत्नत्रयमें पहुंचनेकी स्थिति साधुके क्षण-क्षणमें हुआ करती है।

साधुके दीर्घनिद्रा न आनेका कारण— साध महाराजको लम्बी नींद क्यों नहीं आती ? वैसे तो प्रमत्त गुणस्थानका जो काल अन्तर्मुहूर्त है वह तो सेकेण्डोंका ही है। मानलो लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे बहुत अधिक सोते भी तो लोकव्यवहारका अन्तर्मुहूर्त मान लो। पौन घंटे तक सो लिया, इसके बाद तो नींद रह नहीं सकती। तो कम क्यों सोते हैं, इसका कारण है कि उनको एक तो भय लगा है और एक आनन्द मिला है। इन दो कारणोंसे ज्ञानी संतोंको, साधुजनोंको निद्रा अधिक देर तक नहीं आती।

साधुके दीर्घनिद्रा न आनेका प्रथम कारण—जैसे यहाँ पर किसी गृहस्थ को भय लग जाय। डाकूका या किसी पशुका तो उसे नींद नहीं आती। तो साधुको एक महान् भय लगा है कि विषयकषाय न आ जायें, कर्म बंध न हो, जन्ममरणका दुःख लगा है उसका उसे ख्याल है, उसे वह आपत्ति मानता है, तो संसारमें रुलनेका उसे भय लगा है। अपने स्वरूपसे चिगकर बाह्य पदार्थोंमें जहाँ ही इसने रागद्वेष किया वहां ही महान् संकट हो जाते हैं, ऐसा उसे पूरा ध्यान है। इस परमार्थ संकटसे उसे भय लगा है। निर्भय तो ये मोही बने हुए हैं जिन्हें रंच भय नहीं है और कोई कोई कह भी देता है कि कल नरक जाना है सो आज चले जायें, क्या परवाह है ? अरे जो निर्भय है वह ही तो पैर पसारकर अच्छी तरह सोवेगा। साधुजनों को तो बड़ा भय है संसारके विषय कषायोंका, कर्मबंधोंका। इस कारणसे साधुको लम्बी नींद नहीं आती है।

साधुको दीर्घनिद्रा न आनेका द्वितीय कारण—साधुको दीर्घनिद्रा न आनेका दूसरा कारण है आनन्दका। उनको स्वाधीन आत्मानुभवका ऐसा अनुपम आनन्द मिला है कि उस आनन्दकी धुनिमें वे जल्दी-जल्दी जागते रहते हैं। जैसे बड़ी तेज खुशी हो तो आपको नींद नहीं आती है, शरीर थक जाता है, बहुत समय हो जाता है, पलक झपकती है, फिर जल्दी नींद खुल जाती है क्योंकि किसी बात की बड़ी तेज खुशी है। तो साधुजनोंके आत्मीय आनन्दकी प्राप्तिकी इतनी बड़ी प्रसन्नता है कि उस प्रसन्नतासे वह क्षण भर भी ओझल नहीं हो सकता। ऐसे बड़े सावधान साधुसंत निर्विकल्प समाधिके रुचिया भावलिङ्गमें प्रवृत्त होते हैं।

परभावका परिहार और स्वभावका आश्रय—आचार्यदेव यहाँ यह उपदेश कर रहे हैं कि तू देहमें, देहके आश्रित लिङ्गमें, देहके क्रियाकाण्डोंमें ममता मत करो। आखिर यही करना पड़ेगा। यद्यपि साधु भोजनको

जायेगा, चलना पड़ेगा, फिर भी इतनी ज्ञानसाधना तो होती ही है कि प्रवृत्ति तो उसकी भी कदाचित् वही होगी किन्तु प्रवृत्ति करते हुए भी उसमें ममता न करेगा। तो द्रव्यलिङ्ग ही मोक्षमार्ग है, ऐसी दृष्टि मत दो। जैसे गृहस्थोंको उपदेश है कि घरका काम करते हुए भी उस काममें ममता न करो, इसी तरह साधुवोंको उपदेश है कि तुम व्रत, तप समितिका पालन करके भी व्रत, तप समितिका पालन करके भी व्रत तप समितिके आचरण में ममता न करो और अपने सहज शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी प्रतीति और उसकी ही ज्ञप्ति और उसकी ही अनुभूतिमें रहो। इस प्रकार इस प्रसंगमें आत्माका दर्शन ज्ञान चारित्रादिक आत्माको ही कहा गया है और वही मोक्षमार्ग है।

परद्रव्यरूपताके मोक्षमार्गत्वका निषेध—हे मुमुक्षु जीवो! मोक्षमार्ग तुम्हारा यह स्वयं आत्मा ही है। तुम इस मोक्षमार्गकी सेवा करो। इसको छोड़कर अन्य भाव, अन्य द्रव्य, अन्य प्रसंग ये मोक्षके मार्ग नहीं हैं। इनकी उपासनामें मत रहो। ऐसा यहां आचार्यदेव आत्मामें ही आत्मस्वरूपसे परिणमने वाले आत्माके एकत्वकी अनुभूतिमें पहुंचाने के लिए कितना निर्भय होकर स्पष्ट बात कह रहे हैं। उस ही लिङ्गके सम्बन्धमें कितना निर्भय होकर बोलते हैं कि यह चिह्न क्रिया काण्ड ये सब आचरण ये मोक्षमार्ग नहीं हैं। इनसे ममत्व हटाकर अन्तरमें अपने उपयोगको ले जाकर शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका अनुभव करो। इस आत्माके स्वभावके एकत्व में परिणम जाना यह ही वस्तुतः मोक्षका मार्ग है। संकटोंसे छूटनेका उपाय परद्रव्यरूप न होगा किन्तु वह स्वद्रव्यरूप ही होगा, परकी संभाल करके झगड़ा न मिटेगा, खुदकी संभालमें ही झगड़ा मिटेगा। अब इस ही उपदेशको और विशेषरूपसे कहा जायेगा।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेव।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

आचार्यदेवका मूल उपदेश—हे भव्य पुरुषो! आत्माका तत्त्वदर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रय ही आत्मा है। इस कारण मोक्षमार्गके प्रयोजन के लिए एक इस मोक्षमार्गस्वरूप आत्माकी ही सदा सेवा करनी चाहिए। यह आत्मा अनादिकालसे रागद्वेषादिक परद्रव्योंमें, परभावोंमें अपनी ही प्रज्ञाके दोषसे ठहराते हुआ चला आ रहा है, फिर भी संकटोंसे दूर होना है तो अपनी ही प्रज्ञाके गुणसे उन रागद्वेषादिक भावोंसे अपनेको हटाकर दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूपमें अपने इस आत्माको अतिनिश्चलरूपसे अवस्थित करो।

मुक्तिके उपायमें एकमात्र निर्णय-- यह जीव संसारमें रुलता है तो

अपनी प्रज्ञाके दोषसे और संसारके समस्त संकटोंसे छूटता है तो अपने ही प्रज्ञाके गुणोंसे। सो प्रज्ञाके दोषसे अब तक रुलता आया। अब प्रज्ञामें ऐसा गुण प्रकट करें, ऐसा उत्कर्ष हो कि इन सर्वविषय बाधावोंसे निवृत्त होकर अपने आपमें अपनेको लगा सकें। यह केवल अन्तरमें भावात्मक प्रज्ञाकी बात है। इसमें किसी परद्रव्यकी अपेक्षा न चाहिए। मेरे पास इतना धन हो तो मैं इस धर्मको कर सकूँ, ऐसी धर्म करनेमें धनकी अपेक्षा नहीं है, मेरे कुटुम्ब परिजनके लिए इतना हो तो धर्म कर सकूँ, ऐसी आत्माको कुटुम्ब परिवारकी अपेक्षा नहीं है। धर्म तो इस ज्ञानस्वभावके दर्शनके आश्रयसे अपने आपमें ज्ञानात्मक होता है। इस कारण एक ही निर्णय रखो, अपने इस आत्मतत्त्वको अपने आपमें अति निश्चलरूपसे ठहरावो और समस्त अन्य चिन्तावोंका निरोध करके एक उपयोगमय इस आत्मामें ही एकाग्रचित्त होकर इस दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप आत्माको ही ध्यावो।

परमार्थ शरण—हे भव्य! तेरे आनन्दके लिए, तेरे कल्याणके लिए तुझे संकटोंसे बचनेके लिए मात्र एक तेरे सहज अंतस्तत्त्वका आलम्बन शरण है। इस शरणको छोड़कर जगतमें कहीं भी भटक कर देखलो, खोजलो, परमाणु मात्र भी अन्य पदार्थ कुछ भी शरण नहीं हो सकते। कैसे शरण हों? प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप रूप रहते हैं। इस कारण तेरा इस लोकमें अन्य कोई आत्मा शरण नहीं है। देखो इस ज्ञानामृतका पान करते रहोगे तो तुझे कोई संकट न होगा। और इस ज्ञानामृतको छोड़ कर अज्ञान कल्पना विषका पान करोगे तो खुद ही बरबाद होओगे, संसार में रुलोगे। जो बन सकता हो सो करो और जो न बन सकता हो तो करने की प्रतीति तो दृढ़ रखो कि मेरा आत्मा ही मेरेको शरण है, इस आत्माकी सहजवृत्तिरूपसे हमें परिणति करना है। ये सर्व परिजन मित्रजन उतने ही जुदे हैं जितने जुदे संसारके अन्य समस्त जीव हैं। न अन्य जीवोंसे मुझे कुछ मिलेगा और न इन परिजनोंसे मुझे कुछ मिलेगा। बल्कि अन्य जनोंसे बिगाड़ तो न होगा, परिजनोंके रागसे एक बिगाड़ ही हाथ रह जायेगा, लाभ कुछ न होगा।

ज्ञानसंचेतनका उद्यमन—भैया! अन्य सर्वचिन्तावोंको छोड़ो और समस्त चिंतावोंका निरोध करके, अपने आत्मामें एकाग्र होकर एक दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक आत्माको ही ध्यावो और चेतो तो इस रत्नत्रय स्वरूप आत्माको ही। एक इस ज्ञानचेतनाके अतिरिक्त अन्य सर्व चेतना दो भागों में विभक्त है—कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। इसका वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक किया गया है। अज्ञानको छोड़ कर अन्य भावोंमें अन्य

पदार्थोमें मैं इसे करता हूं, इस प्रकारकी भावनाका नाम कर्मचेतना है। ज्ञानके अतिरिक्त अन्य भावोंमें, अन्य द्रव्योंमें मैं इसे भोगता हूं ऐसी चेतनाका नाम कर्मफलचेतना है। इन दोनों चेतनावोंका संन्यास करके शुद्धज्ञान चेतनामय होकर इस रत्नत्रयस्वरूप आत्माको ही चेतो।

कर्तव्यकी जीवनमें करणीयता—जब कभी परिजनोंकी ओरसे, मित्र जनोंसे धोखा होता है तो हैरान होकर उनसे अलग होकर रूसे से बैठ जाते हैं। यदि ज्ञानबलसे पहिले ही समस्त पदार्थोंको भिन्न अहित असार जानकर उनकी उपेक्षा करके अपनेमें विश्राम कर लें तो इसका कुछ सुफल भी है। जैसे लोग मरते समय सब कुछ छोड़ जाते हैं, उन्हें छोड़ना ही पड़ता है। यदि जीवनमें कुछ संन्यास करें तो इसे कुछ सुफल भी मिले अथवा जैसे मरते समय हजारों लाखोंका दान किया जाता है, यदि जीवन में ही थोड़ा ही थोड़ा कुछ दान करनेकी प्रकृति बनाए तो उसे कुछ विशिष्ट सुफल भी मिलता है। मरते समय तो यह सब कुछ नजर आ रहा है कि छूट तो रहा ही है, इस द्रव्यको ऐसी जगह लगा दें जिससे हमारा नाम चले। जान रहे हैं कि छूट तो रहा ही है, जरा कुछ भले भी बन जायें लोगोंके। यह तो रिपट परेकी हर गंगा जैसा हुआ। विवेक पूर्वक प्रज्ञाके गुणोंसे अपने जीवनमें वे सब बातें की जाती रहें जो धर्म बुद्धिवाले पुरुष मरते समय सोचते हैं तो उन्हें कुछ मार्ग भी मिलता है।

चिद्‌ब्रह्मविहारका संदेश—अज्ञानी जीव कहां-कहां भटक रहा है, किन-किन क्षेत्रोंमें विहारकर, मरकर, जीकर किन-किन समयोंमें इसने अपना रंग बदला, किन-किन भावोंमें यह विहार करता रहा, रुलता रहा, घूमता रहा। अरे उन सब घटनावोंको त्यागकर उनकी ओर दृष्टि न कर इसको दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप आत्मतत्त्वमें विहार करा। देख, द्रव्यके स्वभाववशसे यह दर्शनज्ञानचारित्रमय गुण बढ़ते रहते हैं। इस आत्मा का नाम ब्रह्म है, अर्थात् जिसके गुणोंके बढ़नेका स्वभाव हो उसे ब्रह्म कहते हैं। जैसे कोई किवाड़ ऐसे होते हैं ना कि लगे ही रहते हैं, खोलनेके लिए श्रम करना पड़ता है। उसमें ऐसा ही एक स्प्रिङ्ग वाला पेंच लगा होता है कि वह अपने आप लगनेके लिए ही तैयार बना रहता है। यों ही आत्मा का यह ब्रह्मगुण चैतन्यस्वभाव अपने उत्कृष्ट विकाससे बढ़नेका ही स्वभाव रखता है। ये विषय कषाय, ये कर्मोंके उदय निमित्तरूपसे, साक्षात्‌रूपसे आक्रमण किए हुए हैं, दबाये हुए हैं। इस कारण ये दबे पड़े हैं। जरासा आक्रामक हटे तो, इसके बढ़ने का ही स्वभाव है और यह बढ़ता ही है। इसी कारण इस चैतन्यको चित्‌ब्रह्म कहते हैं।

परद्रव्योंमें विहारका निषेध—आत्मद्रव्यके स्वभावके वशसे आत्माके

गुणोंका प्रतिक्षण बढ़ते रहनेकी शीलता है, अतः आत्महितार्थी दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक परिणामी होकर दर्शन ज्ञान चारित्रमें ही विहार करता है। हे भव्य पुरुषो, बहुत जगह भटके, बहुत जगह रुले, अनेक विभावोंमें अनेक क्षेत्रोंमें, अनेक प्रसंगोंमें अपनेको भटकाया है, अब इन सब घटनावों को त्यागकर एक निज ज्ञायकस्वरूपमें ही विहार करो। अर्थात अपने उपयोगको इस ज्ञायकस्वरूपके दर्शनमें ही लगाओ। देखो अब किसी भी परद्रव्यमें तू जरा भी मत विहार कर। मनाक् भी विहार मत कर। हिन्दी में बोलते हैं ना, तनक मनक। वह मनक शब्द अत्यन्त रंच बातको बताने वाला है। तू परद्रव्योंमें मनाक् भी विहार मत कर। किन-किन परद्रव्यों में ? ये बाहर पड़े हुए खम्भा, चौकी, मकान इनमें विहारके मना करने की, बात नहीं कही जा रही है, वे तो अत्यन्त पृथक् ही हैं, किन्तु स्वक्षेत्र रूपसे उपाधि बन बन कर चारों ओरसे सर्व आत्मप्रदेशोंमें दौड़कर जो परद्रव्य आ रहे हैं अर्थात् जो ज्ञेयाकार बन रहे हैं उन परद्रव्योंमें अपने आपमें मौजूद हुए परद्रव्योंमें तू विहार मत कर।

आत्मा द्वारा बाह्य पदार्थोंमें विहारकी अशक्यता—इन बाह्य पदार्थोंमें तो कोई जीव विहार कर ही नहीं सकता। अपना आत्मा किसी परद्रव्यके स्वरूपमें प्रवेश कर जाय, विहार करने लगे ऐसा हो ही नहीं सकता, किन्तु ज्ञेयाकार रूपसे सर्व ओरसे दौड़ रहे इन परद्रव्योंमें तू विहार मत कर। इस आत्माके उपयोगमें जो ये सर्व पदार्थ आ जाते हैं कोई बता सकता है कि इस ज्ञानमें सामने से आता है कि पीछेसे आता है कि ऊपरसे आता है कि नीचेसे आता है। कैमरेके फोटोमें कुछ ऐसा मालूम होता है कि फोटो तो इस द्वारसे आया। ज्ञानमें यह ज्ञेयाकार उस फोटोके मानिन्द है, वह किस ओरसे आया करता है ? भले ही हम आँखोंसे देखते हैं और इन पदार्थोंका ज्ञान करते हैं किन्तु ये पदार्थ ये ज्ञेय आँखके द्वारसे नहीं धंसते हैं किन्तु ये समस्त ज्ञेय सर्व ओरसे प्रवेश करते हैं। तो चारों ओर से धावा बोलने वाले इन समस्त परद्रव्योंमें तू रंच भी विहार मत कर अवश होकर बड़ी ही जल्दी दौड़कर कोई घुस जाय तो उसे धावा बोलना कहते हैं।

विभावोंमें विहारका निषेध—द्रुतगतिसे दौड़कर आनेमें संस्कृतमें धाव् धातुका प्रयोग होता है, सर्वतः एव प्रधावत्सु। आत्मामें सर्व ओरसे धावा बोलने वाले परद्रव्यविषयक ज्ञेयाकारोंमें तू विहार न कर, किन्तु इन ज्ञेयाकारोंका आश्रयभूत जो एक स्वच्छ ज्ञानस्वभाव है तू ऊपरके जलसे हटकर, इस भीतरके गंभीरजलमें डुबकी लगाकर भीतरमें अपने स्वच्छ ज्ञानस्वभावके रसमें मग्न हो। यहां बाहर विहार मत करो, बाहरसे मत-

तब शरीरसे बाहरकी बात नहीं कही जा रही है किन्तु अपने ही ज्ञान-सिन्धुमें ऊपरसे तैरने वाले ज्ञेयाकारोंको बाहर बताया जा रहा है और उन बाहर तैरने वाले ज्ञेयाकारोंके स्वरूपसे विविक्त, इसके आधारभूत, जिस पर ये तरंगें उठी हैं ऐसा भीतरमें पड़ा हुआ निस्तरंग जो स्वच्छ ज्ञानस्वभाव है उस ज्ञानस्वभावमें विहार कर। उसका उपाय क्या है कि उसको ज्ञानरूपसे ही अचलितपनेके ढंगसे अवलम्बित करो।

आत्महितके अर्थ सकलसंन्यास—जैसा देखेगा तैसा ही पावेगा। अपने आपके सहजस्वभावका अवलम्बन दृढ़तासे करके अब तू ज्ञेय उपाधिके रूपसे ज्ञेयरूपसे चारों ओरसे धायकर आये हुए इन परद्रव्योंमें तू रंच भी विहार मत कर। एक दर्शनज्ञानचारित्रात्मक ही मोक्षका पथ है। भला बतावो जो ज्ञानमें आया हो परद्रव्यविषयक विकल्प तरंग, उनमें जब विहार करनेका मना किया जा रहा है वहाँ तन, मन, वचनकी चेष्टा रूप जो असहज प्रवृत्तियां हैं, बाह्य व्रत हो, बाह्य तप हो, बाह्य संयम हो उनमें विहार करनेका, रमनेका तो विवेकी इच्छा नहीं करेगा। इस भव्य पुरुषने सर्वोत्कृष्ट अनुपम आनन्दका लाभ लिया है, किसी कीमत पर यह इसको छोड़ना ही नहीं चाहता। हजारों लाखों मनुष्य चरणोंमें गिर रहे हैं, पूजा कर रहे हैं, स्तुति-गान गा रहे हैं, भक्ति कर रहे हैं, लेकिन यह भव्य ज्ञानी संत सर्वोत्कृष्ट सारभूत इस चिदानन्दमय स्वरूपकी दृष्टिका परित्याग नहीं करना चाहता और लोगोंकी प्रशंसामें हाँ में हाँ मिलाकर अपनेको मस्त नहीं बनाना चाहता। उन सबसे यह विविक्त ही रहता है। पाया है कोई ऐसा अमूल्य निधान जिसके कारण यह जीव अपनेमें प्रसाद पाये है। किसी घटनामें यह आकुल व्याकुल नहीं होता। हो गया ऐसा ठीक है। वह उस ही पदार्थमें हो गया।

परपरिणतिसे आत्महानिका अभाव—भैया! ये बाह्य पदार्थ छिद जावो पर क्या यह निज आत्मतत्त्व उनके छिदनेसे छिद जाता है? नहीं। ये बाह्य पदार्थ छिद जायें, भिद जायें, टुकड़े-टुकड़े हो जायें तो क्या यह आत्मतत्त्व भी खण्ड-खण्ड हो जाता है? कोई इन बाह्य परिग्रहोंको कहीं भी ले जावो, क्या उनके कहीं खोये जानेसे यह आत्मा भी खोया जाता है? और खोये जाते तो परपदार्थ भी नहीं हैं, आपके पास कोई पदार्थ न रहा तो उसे आप कहते हैं कि यह पदार्थ खो गया। अरे कहाँ खो गया? क्या उसकी सत्ता मिट गयी? क्या उसका कोई जाननहार नहीं रहा? अरे वह तो जहाँ होगा वहाँ परिपूर्ण है। कहाँ खोया? ये बाह्य पदार्थ कहीं चले जावो, कोई ले जावो, तिस पर भी कोई परिग्रह मेरा कुछ नहीं है। मैं तो परिपूर्ण अनादि अनन्त चिदानन्दस्वरूप यह ज्यों का त्यों हूं। ऐसे अपने

ज्ञानानन्द दर्शन, ज्ञान चारित्रात्मक आत्मतत्त्वमें ही उपयोग करो।

आत्मवर्तना—शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले अर्थात रागद्वेषादिककी जहां तरंग नहीं है ऐसा जानन और देखनका ही जिसका स्वभाव है ऐसे ज्ञानदर्शनस्वभावी निज आत्मतत्त्वको सहज स्वभावके रूपमें अपनाना, उसका ही ज्ञान करना तथा उसमें ही रमण करना यह ही अभेदरत्नत्रय स्वरूप आत्मवृत्ति मोक्षका मार्ग है। उस ही मोक्षपथका अनुभव करो निर्विकल्प स्वरूपमें ठहर करके अपने इस रत्नत्रयस्वरूप आत्मतत्त्वकी भावना करो, उस ही में अपनी वर्तना बनावो। देखो अन्य विकल्पोंमें चाहे शुभ हो अथवा अशुभ हो, चाहे वे देखे सुने अनुभवे हों, भोगोंकी इच्छा रूप निदान बंध हो, अन्य किसी भी प्रकारके रागादिक भाव हों उनमें मत जावो अर्थात् उनमें परिणति मत करो। ऐसी हिम्मत तो बनाओ कि जो परिणमन इस समय हो रहा है वह भी मेरा स्वरूप नहीं है।

आत्मतत्त्वकी परिपूर्णता—देखो वह प्रभु पूर्ण है, यह मैं आत्मतत्त्व भी पूर्ण हूं और इस मुझ पूर्णसे प्रति समय पूर्ण ही पूर्ण व्यक्त होता है। मेरी जो कुछ भी परिणति है वह अधूरी नहीं होती है। प्रतिसमय जो परिणमन है वह पूरा ही परिणमन है। आधा काम कुछ नहीं कहलाता है। जैसे एक द्रव्य आधा नहीं होता, एक प्रदेश भी आधा नहीं होता, एक समय भी आधा नहीं होता, इसही प्रकार कोई भी एक परिणमन आधा नहीं होता। जो होता है वह पूरा ही होता है। इस मुझ पूर्णसे पूर्ण ही प्रकट होता है। नया पूर्ण प्रकट होते ही पुराना पूर्णका पूर्ण ही पूर्णरूपसे विलीन हो जाता है और देखो इस मुझ आत्मतत्त्वसे ये पूर्ण-पूर्ण सब निकल भागते हैं। तिस पर भी मैं सदा पूर्णका पूर्ण ही रहता हूं। ऐसे परिपूर्ण चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्वमें ही तू विहार करा चारों ओरसे दौड़कर इस ज्ञानमें जो ज्ञेयाकार बन जाते हैं उन ज्ञेयाकारोंमें विहार मत कर। देख तू ज्ञानस्वभावमात्र है, तू ज्ञेयाकार नहीं है। होता है तुझमें यह चित्रण, पर तेरा स्वरूप नहीं है, इस ज्ञानमें ज्ञेयाकार आया, आश्रव हुआ। इस ज्ञानमें ज्ञेयाकार न आने दो किन्तु ज्ञानाकार ही रहने दो। आया है ज्ञेयाकार तो झड़ने दो, और तू ज्ञान संचेतन रूपसे ही रह जा। यह आध्यात्मिक तत्त्वकी व्यवस्था है। तू किन्हीं भी परद्रव्योंमें विहार मत कर।

आत्मसेवामें ही आत्मानुभवन—विशुद्ध ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मतत्त्व का श्रद्धान ज्ञान और आचरण होना ही मोक्षका मार्ग है, यह बात पूर्णतया नियत है। मुक्तिका उपाय अन्य कुछ नहीं है। जो पुरुष उस ही मोक्षमार्गमें स्थिति करता है उसका ही सदैव ध्यान करता है उसको ही चेतता है और

इस ही आत्मविलासमें विहार करता है, ऐसे परम अनुरागके साथ किसी भी द्रव्यांतरको, किसी भी भावांतरको न छूता हुआ अपनेमें रमाता है वह नियमसे अपने आत्माका जो निज सहज स्वरूप है उसका अनुभवन कर लेता है।

प्रभुकी विकासपरता—जैसे एक कथानक कहा था ना कि मुनि और धोबी दोनों लड़ पड़े और धोबी का तहमद भी खुल गया था उस समय। मुनि कहता है कि अरे कोई देवता नहीं है क्या, कोई देवता जानता नहीं है क्या कि यहाँ मुनि पर उपद्रव हो रहा है? तो देवतावोंका उत्तर आया कि हम तो पहिलेसे तैयार खड़े हैं सहायताके लिए, पर हम नहीं समझ पा रहे हैं कि इनमें मुनि कौन है और धोबी कौन है? इसी प्रकार अपने आपमें बसा हुआ यह समयसार मानो कह रहा है कि हम तो आनन्दको लिए ही तैयार खड़े हैं, तुमको आनन्द देने वाले हम ही हैं, पर तू उलटा चल रहा है सो तू इस आनन्दको प्राप्त नहीं कर पा रहा है। यदि तू मेरी ओर अपना मुख कर ले तब फिर तुझे आनन्द देनेके लिए मेरा वश चलेगा। तू मेरी ओर मुख नहीं करता सो मेरा वश भी तुझे आनन्द देने के लिए नहीं चल पाता। देख तू मेरी ओर मुख कर, तब तो तेरा विलास और विकास होगा ही। तू सदाके लिए आनन्दमग्न होगा।

ममताके अभिशाप—भैया! कुछ समयको चर्चा चलती है, पर ढाक के तीन पात हो जाते हैं। कोई कितना ही प्रस्ताव करे, मगर ढाकके पेड़ में एक छोटी डालीमें जब पत्ते होंगे तब तीन ही होंगे। ऐसी ही प्रकृति इन मोहियोंमें पड़ गयी है कि तिकड़ममें ही सदा रहेगा। जो अपने इस निज आत्मतत्त्वका सेवन करता है उसको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। अपने इस स्वयंके स्वरूप रूप मोक्षमार्गको छोड़कर, व्यवहारमार्गमें अपने आत्माको स्वच्छन्दतया छोड़कर इस द्रव्यलिङ्गमें इस निर्ग्रन्थ भेषमें जो अपनी ममताको ढोते हैं वे तत्त्वज्ञानसे शून्य हुए इस जगतमें रुलते रहते हैं। अब तक भी वे अपने आपमें बसे हुए समयके सारको नहीं देखते हैं।

ज्ञाननेत्रपर ममताकी फुली—भैया! जगतके जीव बाह्य पदार्थका करते कुछ नहीं हैं किन्तु ममता को ही ढोते रहते हैं। किसी बाह्य चीज का इसमें बोझ नहीं आता है और न किसी बाह्य बातोको ढोते हैं किन्तु एक ममत्वको ही ढोते हैं। ऐसे पर्यायव्यामोही अज्ञानीजन समयसारको कुछ भी नहीं देख सकते हैं जो कि हमारी सर्वसिद्धिके लिए पर्याप्त है। स्वभावकी किरणोंसे जिसका वैभव सुशोभित है, नित्य उदित है, उद्योत रूप है। इसका कोई बाधक नहीं है। ऐसा जो अपने आपमें स्वभाव है उस अखण्ड पारिणामिक भावको यह तत्त्वबोधसे रहित पुरुष देख नहीं

सकता है कि इस आत्माकी कैसी भी निम्न अवस्था हो जाय, फिर भी आत्माके स्वभावको कोई ठेस नहीं पहुंचा सकता है। यह जब भी है तब भी अपने स्वभावमें उसही समान है जैसा कि परमात्मा। उस स्वभावके तत्त्वमर्मसे अपरिचित पुरुष कितना भी बाह्यमें क्रियाकांड और बाह्य व्रत तप करे किन्तु अन्तरकी गुत्थी नहीं सुलझती है। वह अन्तरमें कारण-परमात्मतत्त्वके दर्शन तो नहीं कर सकता।

त्यागका महत्त्व—जो बाहरी बातोंका त्याग करता है उनमें ममत्व नहीं रखता है उसके अन्तरमें कोई अपूर्व निधि प्रकट होती है। जैसे घरके ५-७ बालकोंमें से जो बालक सीधा है, न ऊधम करे, न चीज मांगे, न पैसा मांगे और बड़ी अच्छी प्रकारसे रहे, खाने पीनेकी चीज भी कोई दे तो उसमें राग न करे, मना करे उसको माता पिता अधिकसे अधिक क्या दे दूं ऐसा परिणाम रखते हैं और जो लड़-लड़ करके चीज मांगे उससे तो माता पिता चीज छुपाते हैं कि देख न ले। त्यागकी महिमा सब जगह है, चाहे बालक हो, चाहे कोई हो। यों ही सब कुछ धर्माचरण करके व्यवहारके विभावोंको जो मना करता है, न प्रशंसा चाहिए, न प्रतिष्ठा चाहिए, न यश नाम चाहिए, सबको जो मना करता है उसके अन्तरमें अपूर्व निधि प्रकट होती है और बाहरी चीज मांग ले तो उसको अन्दरकी चीज नहीं मिलती है। ११ अंग ६ पूर्वका साधन हो जाने पर, सिद्धि हो जाने पर अब विद्यानुवाद नामक दशम पूर्वकी साधनामें आता है और अनेक विद्याएँ सामने आती हैं और वे प्रार्थना करती हैं कि हम आपके सेविका हैं, आप आज्ञा करो नाथ! जो हुक्म दोगे उसको पूर्ण करेंगी! तब ये नवाब सब हर्षके मारे फूले नहीं समाते, बस वहींसे पतन हो जाता है।

माया और परमार्थका परस्पर विरुद्धत्व—जो संसारके मायामय तत्त्वों में रुचि करता है उसे परमार्थ कहाँसे प्राप्त हो? मा और या तो विरोधी हैं। जो इन्द्रजाल नहीं है वह या है। ऐसा यह अपने आपके तत्त्वका रुचिया इस अखण्ड नित्य उद्योतरूप अपने स्वभावकी प्रज्ञासे प्रागभाररूप इस समयसारको प्राप्त करता है और तत्त्वविमुख पुरुष द्रव्यलिङ्गमें, निर्ग्रन्थ भेषमें अथवा गृहस्थभेषमें एक ममताको ढोना रहता है। इस ही बातको कुन्दकुन्दाचार्यदेव अगली गाथामें स्पष्ट बताते हैं।

पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु वि बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तिं तेहिं ण णायं समयसारं ॥४१३॥

द्रव्यलिङ्गव्यामोहियोंकी अज्ञातसमयसारता—जो जीव पाखण्डी भेषमें और बहुत प्रकारके गृहस्थके भेषमें ममताको करते हैं वे समयसारको

नहीं जानते हैं। उन्होंने समयसार जाना ही नहीं है। पाखण्डी नाम है साधु महाराजका, पर जैसे किसी कंजूस आदमीको कुबेर जी, कुबेर जी कहने लगें तो कुबेर शब्द भी गाली बन जाता है। इसी तरह मोहीको पाखण्डी पाखण्डी कहो तो पाखण्डी शब्द भी गाली बन जाता है। यहां पाखण्डी शब्दका ऊंचा अर्थ है, साधु परमेष्ठीको पाखण्डी कहते हैं। जो पापोंके टुकड़े टुकड़े करदे उसे पाखण्डी कहते हैं, और गृहस्थके लिङ्ग हैं नाना प्रकारके। इन चिन्होंमें, इन भेषोंमें जो ममत्व करते हैं उन्होंने समयसारको जाना नहीं।

परमार्थकी अनुपलब्धिसे द्रव्यलिङ्गमें ममकारता—मैं श्रवण हूं, मैं साधु हूं, मैं श्रमणका उपासक हूं, इस प्रकार द्रव्यलिङ्ग ही में ममता कर करके, मिथ्या अहंकार कर करके यह मुग्ध प्राणी अपनेको बरबाद कर डालता है। कई जगह तो इसी बात पर झगड़ा हो जाता है कि देखने आया, मुझे नमस्कार करके नहीं गया। अरे तुम नमस्कारके योग्य ही कहां हो जो तुम्हारे यह परिणाम आया कि मैं साधु हूं। जिसके यह बुद्धि लगी है कि मैं साधु हूं उसने अपने समयसार स्वरूपको निगाहमें ही नहीं लिया, फिर वह साधु कैसे ? मैं श्रमण हूं इस प्रकारका मिथ्या अहंकार अध्यवसायीको तत्त्वज्ञानसे दूर रखता है। मैं पुजनेके पद वाला हूं और ये सब पूजनेके पद वाले हैं, ऐसा जहां परिणाम होता है वह तो अत्यन्त मलिन परिणाम है। मेरा तो इन्हें सम्मान करना चाहिए। ठीक है, पर यह भी तो बतायो कि जिससे सम्मान चाहते हो कुछ आपसे उसके आत्माकी भी सेवा बनती है या नहीं ? नहीं बनती है। ज्ञानी संतकी तो शान्तिमुद्राके दर्शनसे भी सिद्धि होती है।

परमार्थदर्शन बिना मुक्तिमार्गकी अप्राप्ति—मैं मुनि हूं, मैं श्रमण हूं, मैं ब्रह्मचारी हूं, मैं क्षुल्लक हूं ये सब विश्वास अज्ञानके विश्वास हैं। हां ये सब धर्ममार्गमें बढ़ते हुए इस जीवको एक गुजारेका साधन हैं आत्मसेवा के गुजारेका साधन और शरीरसेवाके गुजारेका साधन। उसमें यह अलंकार करना कि मैं त्यागी हूं, मैं साधु हूं, मैं क्षुल्लक हूं, यह मिथ्या अहंकार है और ऐसा जिसका विश्वास बना है कि मैं आत्मा तो मुनि हूं उसको जैन आगममें मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसने पर्यायबुद्धता अपनायी है, उसे रंच भी कभी यह अनुभव नहीं हुआ है कि मैं तो सर्वजीवोंके सहजस्वरूपके समान शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूं। इस कारण परमात्मतत्त्वके अनुभव बिना इस जीवको मोक्षमार्ग नहीं हो सकता है।

पर्यायव्यामुग्धगेही व अनगारोंमें समानता—यह जीव जो अपनी वर्तमान पर्यायमें ममता रखता है उसके सम्बन्धमें बताया है कि अपनी

पिछी को भी सजाकर रखना साधुपनेका दोष है, अपने कमण्डलको भी चिकना चुपड़ा चमकीला रखना और उसे बार-बार देखना ये सब साधुपनेके दोष हैं। अपने शरीरको निरखकर यह मैं साधु हूं सो थोड़ी ऐसी छाती उठ गयी जैसे धनके लाभ वाले धनिक पुरुषकी अभिमानसे कभी छाती ऊँची उठ जाती है। फिर उनमें और इसमें फर्क ही क्या रहा? इस द्रव्यलिंगीका कहीं वीतराग परिणाम नहीं हो गया है, जो कोई पूजा स्तुति बड़ी ऊँची करता हो और उसके एवजमें कभी भी ऐसी बात न आती हो, चेष्टा न होती हो, रहने दो भाई, बहुत हो गया और इतना ही नहीं किन्तु अन्तरमें उसकी पूजा करानेका उपाय बने जो किसी पंडितसे कुछ कह दिया कि तू मेरी पूजा बना देना या कोई मेरे नामका ग्रन्थ लिख देना आदि बातें ये तो द्रव्यलिङ्गियोंसे निकली बातें हैं।

अज्ञात विषका भी प्रभाव—भैया! ये सब तिकड़म क्यों होते हैं? मैं चिदानन्द स्वरूप हूं ऐसा भान नहीं है। मैं व्यक्ति संसारकी घोर आपत्तियोंमें फँसा हूं ऐसा उसे ज्ञान नहीं है अन्तरमें, इस कारण बाह्यमें ऐसी चेष्टा हो जाती है कि जिसके बारेमें छहढालामें दौलतराम जी ने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है— जो ख्याति लाभ पूजादि चाह। धरि करन विविध विधि देहदाह ॥ आतम अनात्मके ज्ञानहीन, जे जे करनी तन करन छीन, ते सब मिथ्याचारित्र। तो दूर रहो, संयमरूप आचरण करते हुए भी, शत्रु पर रागद्वेष न करते हुए भी, उपसर्ग करने वालों पर द्वेष न करते हुए भी यदि यह परिणाम उठता है कि मैं तो साधु हूं, मुझे द्वेष न करना चाहिए और अन्तरमें रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका भान नहीं है तो वहाँ पर भी मोह और मिथ्यात्व बताया गया है।

अनादिरूढव्यवहारमूढता—ऐसे पुरुष जो कि अपने को समाज और श्रमणोपासक मानकर द्रव्यलिङ्गकी ममतासे मिथ्या अहंकार किया करते हैं वे अनादि कालसे प्रसिद्ध चले आए हुए व्यवहारमें ही मूढ़ होकर अपने वैभवको खोकर निश्चयसे विमुख होकर इस भगवान परमार्थ सत् समयसारको नहीं चेतते उनके ममता का ढंग ही बदला, किन्तु उन्होंने ममता त्यागी नहीं है। पशु अपनी ममताका ढंग और रखते हैं, पक्षी और ममता का ढंग रखते हैं, गृहस्थ लोग अपनी ममताका और ढंग रखते हैं और साधुजन जो निश्चयतत्त्वसे अनभिज्ञ हैं वे अपनी ममताका और ढंग रखते हैं। मात्र ममताके ढंगमें परिवर्तन है इस द्रव्यलिङ्गी साधुका, पर गृहस्थमें और साधुमें भेद कुछ नहीं रहा। न संवर निर्जराका पात्र अज्ञानी गृहस्थ है और न संवर निर्जराका पात्र यह अज्ञानी साधु है। जो 'चला आया है अनादि कालसे उस ही व्यवहारमें यह मूढ़ हो गया है। सो इस

परमार्थसत् परमब्रह्मस्वरूप कारणसमयसार जो एक है इतना भी नहीं कह सकते हैं, किन्तु है, ऐसा अनुभवके द्वारा ही गम्य है। एक अनेकके विकल्पसे रहित केवल परमार्थ ब्रह्म ही जहां ज्ञानगोचर है ऐसी स्थिति वह प्राप्त नहीं कर सकता है।

कारणसमयसारके अपरिचितोंका भ्रम, श्रम और क्रम—भैया ! बड़े दुर्धर तप करते हुए भी जिसके आत्मसिद्धि नहीं, वहां हुआ क्या कि भाव लिङ्ग नहीं मिला, वीतराग शुद्ध ज्ञायक जो स्वभाव है, स्वरूप है उसका परिज्ञान नहीं हुआ। सो निर्ग्रन्थ भेषरूप जो पाखण्डी द्रव्यलिङ्ग है, साधु का द्रव्यलिङ्ग है अथवा लंगोट चिन्ह आदिरूप जो गृहस्थका द्रव्यलिङ्ग है उसमें ममता ही की है, और मैं क्षुल्लक हूं. मुझे इस तरह पहिनना ओढ़ना चाहिए, मैं ब्रह्मचारी हूं, मुझे इस तरह धोती चद्दर ओढ़नी चाहिए, ये कर्तव्य माने जाने लगे। अरे ज्ञानी पुरुषको तो इस ओर विकल्प भी नहीं होता है। ऐसे द्रव्यलिङ्गोंमें जो ममता करते हैं उन्होंने इस निश्चय कारण-समयसारको जाना ही नहीं है।

कारणसमयसार व कार्यसमयसार—कारणसमयसार कार्यसमयसारको उत्पन्न करने वाला है, जिस कार्यसमयसारमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त शक्तिकी व्यक्ति है, जो कारणसमयसार पूर्ण कलश की तरह भरा हुआ है, जैसे कलशमें पानी भरा हो तो अन्तरमें कहीं पानी न हो ऐसा नहीं होता है। पानी जहां तक भरा है वह ठसाठस भरा है, अन्तर नहीं आता है। जैसे कलशमें लड्डू भरदें तो उनके बीच सांस रहती है, पानीमें कहीं सांस न मिलेगी। इसही तरह यह ज्ञानस्वभाव ज्ञान से लबालब भरा है, किसी जगह अन्तर नहीं पड़ता।

समता व ज्ञातृत्वका परस्पर सहयोग—यह ज्ञानस्वभाव परम समता भावके परिणामके द्वारा ही आश्रित किया जाता है। जहां चिदानन्द एक स्वभाव शुद्ध आत्मतत्त्वका भली प्रकार श्रद्धान् है, ज्ञान है, अनुभवन है ऐसी निर्विकल्प समाधिसे जो अनुपम आनन्द प्रकट होता है उस आनन्द में जो एक साम्य अवस्था बनती है उसके द्वारा ही यह कारणसमयसार परिचयमें आता है। जिसमें किसी भी प्रकारका संकल्पविकल्प नहीं है कषायोंसे दूर है, ऐसा शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ज्ञाताको ज्ञात ही होता है।

व्यवहारव्यामोहमें परमार्थका अग्रहण—जिन जीवोंकी दृष्टि व्यवहारमें मुग्ध हो गयी है वे अज्ञानीजन परमार्थको ग्रहण नहीं कर सकते। जैसेकि छिलकोंमें ही जिनकी बुद्धि मुग्ध हो गयी है वे पुरुष छिलकेको ही ग्रहण करेंगे, चावलको ग्रहण नहीं कर सकते। यह देह मायामय है, परमार्थभूत नहीं है। यह आत्मासे भिन्न है, अचेतन है। खैर, अचेतनमें ही देखो तो

यह शुद्ध अचेतन द्रव्य नहीं है किन्तु अनन्त पुद्गल अचेतन द्रव्यका पिण्ड बना है, आना और बिखरना सदा बना रहता है और फिर काष्ट पाषाणों की तरह ठोस हो ऐसा भी नहीं है, किन्तु अन्दरमें बाहरमें मिनट-मिनटमें अपना रंग बदलने वाला है। ऐसी अचेतन देहसे प्रकट हुआ जो द्रव्य-लिङ्ग है उसमें ही जिसकी बुद्धि मुग्ध हो गयी है वे परमार्थ सत्यको नहीं जानते हैं।

देहाश्रित दृष्टिमें स्वत्वकी प्रसिद्धि—कितने ही तो सोचते हैं कि बहुत भवोंमें मनुष्य भव मिला, अनन्त कालमें बड़ी दुर्लभतासे मनुष्यभव प्राप्त हुआ, इस भवमें मुनि तो बन ही लो, ऐसी वासनामें भी उनकी दृष्टि केवल देह पर है। ऐसा बन लो। तो ऐसा बनना बताया है कि यह ऐसा साधु जितने बार हुआ है एक-एक भवका एक-एक कमण्डल रखा जाय तो बताते हैं कविजनोंका, लेखकजनोंका ऋषीजनोंका संतजनों का मेरुपर्वतके बराबर ढेर बन जाता है। इस बात पर जोर दिया है कि अरे निर्ग्रन्थ पुरुषों! तुम द्रव्यलिङ्गमें ही मुग्ध मत होओ। यह तो ठीक है. उत्कृष्ट साधनामें द्रव्यलिङ्ग तो होता ही है, जब ममता नहीं रही बाह्यपदार्थोंमें तो चरम साधनाके समय द्रव्यलिङ्ग तो हुआ ही करता है। कहीं परिग्रहके संचयके वातावरणमें निर्विकल्प समाधिकी पात्रता नहीं होती किन्तु द्रव्य-लिङ्गमें ही मुग्ध हो जायेंगे तो परमार्थकी प्राप्ति न हो सकेगी।

ज्ञानीका लक्ष्य—जैसे जानकार व्यापारी धानको खरीदता हो तो उसकी छिलकों पर दृष्टि मुग्ध नहीं होती किन्तु भीतरमें जो चावल रहता है उस चावलका लक्ष्य रहता है, इसही प्रकार जो ज्ञानी साधु हैं उनके इस नग्न और जो निर्ग्रन्थ भेष है उसमें उनकी बुद्धि मुग्ध नहीं होती, किन्तु अन्तरमें जो शुद्ध ज्ञायक स्वरूप है इस स्वभावका स्वरूपका जो कि अनादि मुक्त है ऐसे शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका वहाँ लक्ष्य रहता है। जिसकी आंखें द्रव्यलिङ्गकी ममतामें ही मिच गयी हैं, द्रव्यलिङ्गकी ममताकी नींद में ही सो गई हैं ऐसे पुरुषके द्वारा यह समयसार दृष्ट ही नहीं होता है।

द्रव्यलिङ्ग व भावलिङ्गके उपादानोंकी भिन्नता—अरे! यह द्रव्यलिङ्ग तो अन्य पदार्थोंसे हुआ है और मोक्षका मार्गभूत जो ज्ञान तत्त्व है, वह ज्ञानतत्त्व स्वयं यह आत्मा ही है, द्रव्यलिङ्गका उपादान क्या? एक शरीर उसही की अवस्था है और निर्विकल्प समाधिरूप ज्ञानरूप जो भावलिङ्ग है उस लिङ्गका उपादान यह आत्मा है। तब द्रव्यलिङ्गमें ममत्व न रखना। द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है, किन्तु ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्त्वको आत्मरूप अनुभव करना सो ही छुटकारेका मार्ग है। इस ही बातको इस प्रकरणमें अंतिम गाथा द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है।

ववहारिओ पुण णओ दोण्णि वि लिंगाणि भणइ मोक्ख पहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

मोक्षमार्गका व्यवहार वचन—व्यवहारमें गृहस्थलिंग और पाखण्डी लिंग दोनोंको मोक्षमार्ग कहते हैं। श्रमण लिंग और श्रमणोपासक लिंग ये दोनों मोक्षमार्ग हैं ऐसा जो कहनेका प्रकार है वह एक व्यवहारनयकी बात है, परमार्थ नहीं है क्योंकि ये दोनों प्रकारके देहलिंग अशुद्ध द्रव्यके अनुभवन रूप हैं। बताओ किसी एक द्रव्यमें यह भेष है। एक परमाणु में होता, यह द्रव्यलिंग तो भी बड़ा अच्छा था। एक द्रव्यके अनुभवनरूप तो हुआ अथवा आत्मामें होता तो भी एक द्रव्यके अनुभवन रूप हुआ। किन्तु यह तो अनेक परमाणुस्कंधोंके पिण्डरूप देहमें हुआ है ना, सो ये सब गृहस्थ साधुके भेष अशुद्ध द्रव्यके अनुभवनरूप हैं, इसलिए परमार्थपना इन चिन्होंमें नहीं है।

मुक्तिसाधक परमार्थभूत लिङ्ग—भैया! तब फिर परमार्थरूप लिंग क्या है, मोक्षमार्ग क्या है? श्रमण और श्रमणोपासक इन दोनों प्रकार के विकल्पोंसे परे दर्शन, ज्ञान, आचरण मात्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप यह एक है ऐसा बेलाग संचेतन करना सो परमार्थ है। अपने आपके अंतस्तत्वको बेलाग और बेदाग अनुभवन करना सो ही मोक्षका मार्ग है। बेलाग तो यों कि इसमें शरीरके लगावका कुछ भी ध्यान न हो और बेदाग यों कि रागद्वेषादिक जो अन्तर मल हैं उन दागोंका अभाव हो, ऐसे ज्ञानमात्र तत्त्वका निष्तुप संचेतन करना सो ही परमार्थ है। जैसे कोई चतुर व्यापारी धानके भीतर ही यद्यपि चावल अवस्थित है किन्तु अपने ज्ञान बलसे उस चावलको वह निष्तुष संचेतन करता है। छिलकेसे ढका हुआ होकर भी छिलकासे रंच सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकारसे चावलको अन्तर में निरख लेता है। ऐसे ही द्रव्यलिंगमें अवस्थित होकर भी साधुजन अपने आपको द्रव्यलिंगसे अत्यन्त दूर केवल शुद्ध ज्ञानस्वभाव मात्र निरखते हैं। यही मोक्षमार्ग है। व्यवहारनय दोनों लिंगोको मोक्षपद मानता है, परन्तु निश्चयनय सभी लिंगोंको मोक्षमार्गमें रंच भी इष्ट नहीं करता है।

द्रव्यलिंगकी व्यवहारनयसे मोक्षमार्गताका कारण—भैया! ये दोनों साधुधर्म और गृहस्थधर्म व्यावहारिक चिह्न व्यवहारनयसे मोक्षमार्ग क्यों माने जाते हैं? कुछ तो बात होगी। उसमें इतना तथ्य है कि निर्विकार स्वसम्वेदनरूप मात्र लिंगके लिए यह द्रव्यलिंग बहिरंग सहकारी कारण है अर्थात् निरारम्भ निष्परिग्रहकी स्थितिमें निर्विकल्प समाधिका अवसर मिलता है। द्रव्यलिंगका अर्थ क्या है, कोई आरम्भ कोई परिग्रह न रखना। जो ऐसा आरम्भ करता हो, जो गृहस्थों द्वारा किया जाता हो तो वह द्रव्य-

लिङ्ग भी नहीं है और परिग्रहका संचय रखना गिनना छूना आदिक परिग्रहमें भी जिनकी चेष्टा चलती हो उनको द्रव्यलिङ्ग ही नहीं कहा गया है। इसपरिस्थितिमें तो निर्विकल्प समाधिका अवकाश ही नहीं है। हाँ, जो द्रव्यलिङ्गी साधु आगमोक्त अत्यन्त निरारम्भ और अत्यन्त निष्परिग्रह के रूपमें हो तो उसको द्रव्यलिङ्गके वातावरणमें निर्विकल्प समाधिका लाभ हो सकता है। इस ही कारण इन लिङ्गोको व्यवहारनयसे मोक्षमार्ग बताया है किन्तु निश्चयनयसे तो इनको मोक्षमार्ग नहीं माना।

द्रव्यलिंगकी अपरमार्थताके दो हेतु—द्रव्यलिङ्गके सम्बन्धमें दो बातें ज्ञातव्य हैं। एक तो देहमें ऐसा हो जाना कि नग्न हैं अथवा कोपीन आदिक चिह्न हैं तो यह सब पुद्गलोंकी अवस्था है। वह मोक्षमार्ग क्या कहलायेगा और इन चिह्नोंमें यह मैं निर्ग्रन्थलिङ्गी हूं, यह मैं लंगोटीका धारक हूं, मैं साधु हूं, मैं क्षुल्लक हूं, मैं अन्य ब्रह्मचारी आदिक हूं, इस प्रकार का मनमें द्रव्यलिङ्गका विकल्प करना अथवा मैं गृहस्थ हूं, मैं गृहस्थ धर्म का पालनहार हूं, इस प्रकारका विकल्प अपनाना है। कहनेकी बात अलग है लेकिन मनमें श्रद्धाकी बात अलग है तो जिसके मनमें इस देहके वेष-भूषामें ही अपने कल्याणकी और स्वरूपकी श्रद्धा बनती है उनक यह परमार्थ सत्य भगवान कारणसमयसार आत्मदेव अत्यन्त दूर है। ज्ञानी-जन जैसे रागादिक विकल्पोंको नहीं चाहते हैं इस ही प्रकार इन भेषोंके विकल्पोंको भी नहीं चाहते हैं क्योंकि वे ज्ञानी संत स्वयमेव निर्विकल्प-समाधिके स्वभाव वाले हैं। उन्हें एक निर्विकल्प समाधि ही सुहाती है। बाहरमें क्या होता है? कहने वाले दसों प्रकारके लोग हैं, उनका उनमें ही परिणमन है, उनका कुछ भी प्रवेश इस ज्ञानस्वभावके रुचिया संतमें नहीं होता। वे निर्विकल्प समाधि के ही यत्नमें अपनी वृत्ति रखते हैं।

भावलिंगरहित द्रव्यलिंगका प्रतिषेध—भैया! यहां ऐसा न जानना कि द्रव्यलिंगका निषेध ही किया गया हो। साधु भेष न करना चाहिए, ऐसा मना नहीं किया जा रहा है किन्तु जो निश्चयतत्त्वसे अनभिज्ञ हैं, निर्विकल्प समाधिरूप भावलिङ्ग जिसके नहीं है, जिन्हें अपने ठौर ठिकानेका पता नहीं है ऐसे साधुजनोंको सम्बोधन किया गया है कि हे तपस्वीजनों! द्रव्यलिंगमात्रसे संतोष मत करो, किन्तु द्रव्यलिंगके आधारसे एक निश्चय-रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप परमार्थ सत् ज्ञानकी भावना करो। या यों स्पष्ट समझलो कि जो भावलिङ्गरहित द्रव्यलिंगका निषेध किया है यह कार्यकारी नहीं है। भावलिंग सहित वह समस्त व्यवहार धर्म निषेधा नहीं गया अथवा यों समझ लीजिए कि साधुके शरीरके आश्रय जो निर्ग्रन्थ लिंग हुआ है, उसमें ममताका निषेध किया गया है यह मेरी चीज है।

यह मैं हूं, इस प्रकार उसमें अहं बुद्धि और मम बुद्धिका त्याग कराया गया है।

विडम्बनाओंका कारण परमार्थकी अनभिज्ञता—बहुतसे धर्मस्थलोंमें जो विवाद और क्रोधादिक वातावरण हो जाते हैं वे साधुजनोंके आश्रय हैं। उसका मूल कारण भी यही अज्ञान दशा है कि अपने आपमें ऐसी श्रद्धा वना ली है कि मैं साधु हूं, मैं अमुक हूं, और इसका भान ही नहीं है कि मैं ज्ञानमात्र हूं और इसका भान ही नहीं है कि मैं सबमें समाया हुआ हूं जिस स्वरूपकी दृष्टिसे सर्वजीव एक समान हैं, ऐसी अपने आपकी समताकी दृष्टि ही नहीं जगती। और जैसा चाहा तैसी मनमानी क्रियाका प्रसार करना, ये सब वातें इस अज्ञानदशा पर हो जाती हैं और इसमें केवल साधुजनोंकी अज्ञानदशा कारण नहीं है किन्तु जाननहार श्रावकजनों के भी अज्ञानदशा वनती है।

साधुवोंका व गृहस्थोंका कैसा अनमेल—भला वतलावो कि जो साधु-वृत्ति एकत्वकी मुद्राका संकेत करने वाली होनी चाहिए। एक शुद्ध शांत निरारम्भ निष्परिग्रह उपदेश जहां होना चाहिये, वहाँ निवृत्तिमय क्रिया हो ऐसी वृत्तिका पद लिया हो और धर्ममार्गमें कहो अथवा मन वहलावामें कहो वहुत आरंभ रखे हों जितना कि गृहस्थजन नहीं कर पाते हैं तव इसका और क्या कारण कहा जा सकता है? सिवाय एक अपने आपके पर्यायकी ममता और अहंबुद्धिके। पूजा पाठ कितनी शुद्धता और निवृत्तिके साथ होना चाहिए, इसके लिए तो गृहस्थोंकी रीति ठीक है। प्रभुकी भक्ति वाह्य आडम्वरोंसेकी जाय, फूलोंकी माला वनाकर की जाय, इस प्रकारके अनेक प्रकारके शिथिलाचारोंसे दूर रहना चाहिए। और कोई साधु भेष रखकर एक इसका ही उपदेश अपने जीवनमें करता फिरे और जीवनमें यह ही लक्ष्य रखे तो यह श्रावकोंका और साधुवोंका कितना वेमेल काम है? लेकिन जहाँ निर्विकल्प समाधि उसका कर्तव्य है ऐसी जव भावना नहीं रहती है तो अनेक उलझनें आ पड़ती हैं, अव श्रावक जन कहां सीखें, क्या सीखें, किसे आदर्श देखें, ऐसी स्थिति अव इस कलियुगमें हो रही है।

आचार्यदेवका व्यावहारिक अन्तिम संदेश— यह पंचमकालका ही लिखा ग्रन्थ है। कुन्दकुन्दाचार्य स्वामी समयसार की समाप्तिके समय अंतिम गाथामें इस समस्याको स्पष्ट कह रहे हैं। यह समयसारकी अंतिमगाथा है। इसके वाद समयसार ग्रन्थके सम्वन्धमें अंतिम आशय वताने वाली गाथा आयेगी। तो यह द्विचरम गाथा है अंतिमसे पहिलेकी, मगर समय-सारके विषयको वतानेकी यह अंतिम गाथा है। साधुलिंग गृहस्थलिंग इन दोनोंको मोक्षमार्ग वताने वाला केवल व्यवहारनय है। निश्चयनय हो इन

सर्व लिंगोंकी मोक्षमार्गमें रंच भी इच्छा नहीं करता।

पदार्थका यथार्थ निर्णय विना मोक्षमार्गकी अप्राप्ति—भैया ! मैं क्या हूं, इसका निर्णय किए बिना मोक्षका मार्ग ध्यानमें नहीं आ सकता। मैं केवल ज्ञानमात्र स्वतंत्र सत् हूं, जिसका किसी भी परद्रव्यसे परमाणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। यह प्रभु अपने आपके प्रदेशमें ही विराजमान् हुआ अशुद्धभावोंकी लीला करके इन समस्त भवसृष्टियोंका कारण बन रहा है। यह किसी भी परद्रव्यमें जा जा कर सृष्टियां नहीं करता। यदि ऐसा करे तो उसमें प्रभुता ही क्या रही अथवा वस्तुस्वरूप ही ऐसा नहीं है कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमें प्रवेश करके अपनी बात लोपे। यह अपने आप में ही विराजमान् रहता हुआ अशुद्धभाव करके अपनी अशुद्ध सृष्टियां करता जा रहा है और इस चालमें इसको अपने आपकी चेतना नहीं रही, किन्तु बाह्य पदार्थोंमें ही सुख व ज्ञानकी कल्पना हो गयी।

अचेतनसे ज्ञानका अप्रादुर्भाव—ब्राह्मी बूटी आती है उसे रगड़ कर पियो तो ज्ञान बढ़ जायेगा ऐसी बुद्धि अज्ञानमें बनती है। अरे उस ब्राह्मी बूटीमें कहीं ज्ञानतत्त्व भरा है क्या, भले ही यह बात बन जाय कि शरीरके जो अवयव हैं मस्तक आदिक इन साधनोंका कुछ दृढ़ीकरणका कारण बन जांय। अभी भोजन न खायें तो यह शरीर मुरझा जाता है और आत्मा को ज्ञानमार्गमें बढ़नेसे रुकावट हो जाती है, परन्तु ब्राह्मीमें से ज्ञान निकले और फिर ब्राह्मी पास करादे, ऐसी बात तो नहीं है। यह तो ब्राह्मीकी बात कही है। आचार्यदेव ने तो शास्त्रकी बात लिखी है। ज्ञान शास्त्रसे नहीं निकलता। शास्त्रसे ज्ञान प्रकट नहीं होता है, ब्राह्मी तो बहुत दूरकी बात है। शास्त्र, श्रुत, अक्षर आदिक जो साधन हैं ये अचेतन ही हैं। तो अपने आपका जब तक सही परिचय नहीं होता तब तक मोक्षका मार्ग क्या है ? यह निर्णय नहीं किया जा सकता है।

निजस्वरूपके ज्ञान बिना बीभत्स भ्रमण—मैं ज्ञानानन्द स्वभावमात्र स्वतंत्र सर्वसे विविक्त परिपूर्ण एक चैतन्यतत्त्व हूं, जब इसकी आराधना नहीं रहती है तब यह जीव गरीब होकर, दीन बनकर बाह्यपदार्थोंका आश्रय किया करता है। इस जगतमें जो कुछ मिला है इससे भी करोड़ों गुना अनेक भवोंमें मिला होगा। जब वह भी नहीं रहा तो वर्तमानमें जो मिला हुआ है वह क्या रहेगा ? क्यों इतनी ममता की जा रही है और अपने आपके स्वरूपका आवरण किया जा रहा है। अरे उस ओर किसी क्षण विकल्प तक भी न रहना चाहिए। ऐसी आत्मतत्त्वरताके साथ जिसके ज्ञानभावना चल रही है उसके क्षण सफल हैं। इस अंधेरनगरीमें स्वयं भी अंध बनकर बाह्य विषयोंमें अपने आपको लगा बैठें और ज्ञानमात्र निज

तत्त्वकी सुध भूल जायें तो यह तो संसारमें रुलते रहने का साधन ही किया जा रहा है।

मनुष्यभवका लाभ—भैया ! मिला है मनुष्यभव और मिला है यह जैन दर्शन, यदि इससे लाभ न लूटा जाय और असार, भिन्न, अहित, पौद्गलिक, मायारूप परद्रव्योंके खातिर अपने आपका घात किया जाय तो यों ही कहना चाहिए कि मनुष्य हुए न हुए एक समान बात है। ये विषयोंकी बातें क्या पशु पक्षी बनकर न की जा सकती थीं, अनेक विकलत्रय, स्थावर इन भवोंमें जितना जो कुछ साधन मिला है, क्या विषय साधनकी बात न की जा सकती थी ? फिर इस मनुष्यभवका कुछ सदुपयोग ही क्या रहा, जो पूर्ववत् विषयोंकी ही धुनिमें रहे। सर्व प्रयत्न करके इन बाह्य विकल्पोंसे, वासनावोंसे ममतावोंसे हटकर अंतःप्रकाशमान इस शुद्ध ज्ञानस्वरूपका ही अनुभव करो।

व्यवहारको परमार्थरूप अनुभवनेमें अलाभ—जो प्राणी व्यवहारको ही परमार्थकी बुद्धिसे अनुभवते हैं वे समयसारका अनुभवन नहीं कर सकते। जैसे जो धानके छिलकोंको ही यही उपादेयभूत सारकी चीज है, ऐसा समझते हैं वे चावलके फलको प्राप्त नहीं कर सकते। जो वर्तमान मनुष्यादिक पर्यायोंको ही आत्मरूपसे अनुभव करते हैं वे आत्मतत्त्वके दर्शन नहीं कर सकते हैं। जो इस शरीरके भेषको ही 'यह मोक्षमार्ग है' ऐसा अनुभवन करते हैं वे मोक्षमार्गमें प्रवेश नहीं कर सकते हैं। जो जीव परमार्थको ही परमार्थभूतसे अनुभवते हैं वे ही समयसारका संचेतन करते हैं। इस मायामयी दुनियामें इन मायामय लोगोंमें, मायामय प्रशंसाकी मायामय चाह करने वाले परमार्थसे मोक्ष मार्गसे, आत्महितसे अत्यन्त दूर हैं। संसार और मोक्ष इनमें से कोई एकका उपाय बना लो। संसारका उपाय करते हुए मोक्षमार्गके स्वप्न देखना यह एक स्वप्न ही है। चलें तो संसारमार्गमें और मोक्षकी बात मनमें जानें तो वह धोखा ही है।

मुक्तस्वरूप आत्मतत्त्वकी प्रतीतिकी प्राथमिकता - मुक्त होना किसे है, पहिले उसे ही तो समझलो। और यह मुक्त हो भी सकता है या नहीं इसे भी जान लो तब ही मोक्षमार्गकी बात निभ सकेगी। किसे मुक्त होना है और मुक्त यों हुआ जा सकता है, यह मर्म हो न देखा और अपनी कल्पना के अनुसार बाह्य घटनावोंमें कुछ कल्पना बनाले तो उससे मोक्षमार्ग नहीं मिलता है। मुक्त होना है इस मुक्त आत्माको, इस मनुष्यको नहीं। क्यों इस मुक्त आत्माको मुक्त होना है ? जो यह आत्मा अपने स्वरूपसे अपने स्वभाव मात्र है। यह क्या मुक्त हो सकता है ? हां हो सकता है क्योंकि इसका मुक्त स्वरूप ही है।

भावकर्ममें द्रव्यकर्मकी अनुसारिता—यह आत्मा परद्रव्योंसे अत्यन्त भिन्न है, इसमें किसी भी परद्रव्यका प्रवेश नहीं है। रागादिक भाव इसमें उदित हो जाते हैं, सो वे भी निमित्तके साथ ऐसे जुड़े होते हैं जैसे कि दर्पणके सामने हाथ करो तो प्रतिबिम्ब हो गया, हाथ हिलावो तो प्रतिबिम्ब हिल गया, जैसी क्रिया हुई तैसा ही दर्पणमें प्रतिबिम्ब हुआ। तो जैसे यह प्रतिबिम्ब इस निमित्तभूत परपदार्थका बड़ा आज्ञाकारी है और उसमें ही गठा बँधासा है इसी तरह ये रागादिक विभाव इस निमित्तभूत पदार्थसे ऐसा गठा बँधासा है, वह मेरा कुछ नहीं है। मुझमें परभावों का भी प्रवेश नहीं है, स्थिरतासे रह सके विभाव तो उसकी कुछ कला समझो, पर उदयानुसार आता है क्षणमात्रको और निकल जाता है। निकलनेका ही नाम उदय है। द्रव्यकर्म निकलते हैं तो ये भावकर्म भी निकलते हैं। द्रव्यकर्म ठहरते हैं उदयकी अवस्थामें भावकर्म ठहरते हैं अभ्युदयकी अवस्थामें इस कारण ये विभाव भी मेरे कुछ नहीं हैं। मैं तो सवरसमय टंकोत्कीर्णवत् एक ज्ञायक स्वभावमात्र हूं।

परमार्थको परमार्थरूपसे संचेतनेका प्रभाव—यह मैं मुक्त हो सकता हूं क्योंकि मेरे स्वरूपमें ही मुक्तस्वभाव पाया जा रहा है। हम अपने उपयोग को परद्रव्योंसे अपने में बाँधे हुए हैं और उनका निमित्त पाकर ये द्रव्य कर्म भी एकक्षेत्रावगाह बंधनको प्राप्त हुए हैं, इतने पर भी यह मैं आत्मा मुक्तस्वभाव ही हूं। किसीसे बिगड़ता नहीं। अपने स्वभावरूप ही मैं बना रहूं तो मुक्त हो सकता हूं। मुझमें ऐसा स्वभाव पड़ा है, इतनी श्रद्धा हुए बिना मोक्षमार्ग कहाँ विराजेगा! जो जीव परमार्थको ही परमार्थ बुद्धिसे अनुभवते हैं वे ही इस समयसारको अनुभवा करते हैं। शरीरके सम्बन्ध में व शरीरके भेषके सम्बन्धमें पहिले कुछ कहा गया है। परसे विविक्त इस अध्यात्मके निरूपण करने वाले वर्णनमें यह सब मार्गदर्शक वर्णन है।

ग्रन्थमें सुयुक्त वर्णन—भैया! इस ग्रन्थमें ४१४ गाथावोंमें बड़ी प्रामाणिकतासे अन्तस्तत्त्वका विषय आया है, नयचक्र जो अत्यन्त दुस्तर है, गम्भीर है अथवा यह नयोंका वन जो जीवको जरा भी असावधानी हो तो भुलाने और भटकाने वाला है ऐसे भी नयोंके द्वारा इस सम्बन्धका विशद स्वरूप कहा है। निश्चयनयके बिना व्यवहारनय भी प्रतिष्ठित नहीं है, व्यवहारनयके बिना निश्चयनय भी प्रतिष्ठित नहीं है, फिर भी निश्चयकी मुख्यतामें वस्तुगत स्वरूप दिखता है और व्यवहारकी मुख्यता में अगलबगल ऊपरका सबवातावरण नजर आता है। दोनों नयोंके प्रयोगसे यथा समय सारी बातें समझने वाला सावधान होकर यह मुमुक्षु मोह सेनाको परास्त कर देता है। उसही समयसारका इतने वर्णनके बाद

इतना स्वरूप जाननेके बाद अब और ज्यादा कहना व्यर्थसा हो जाता है।

वर्णनका असली जामा—तत्त्वके सम्बन्धमें पर्याप्त हो चुका है। वर्णन अब ज्यादा क्या कहा जाय? बहुत विकल्पोंके करनेसे क्या फायदा है? अब तो परमार्थभूत एक इस समयसारका ही संचेतन करो। जब भोजन बनाते हैं ना तो बाल बच्चे सब मिलकर खुश होते जाते हैं। अच्छा बना अब यह काम करो, अमुक चीज लावो, पानी लावो, ठीक बन रहा है, बड़ा अच्छा बन रहा है, खुश हो रहे हैं। बन भी गया भोजन, सामने आ गया, फिर भी कहते हैं कि बड़ा अच्छा बना, तुम्हारी हिम्मत थी, बड़ा काम किया, इसने बड़ा काम किया। भारी बातें करते हैं। कोई चतुर कहता है कि अब बातें करना छोड़ दो, अब तो खानेका मजा लो। हो चुका सब कुछ। समयसारका वर्णन शुरूसे खूब चल रहा है। बहुत चर्चाएँ हुईं। नयोंकी प्रमुखताका वर्णन चला। उस ही गोष्ठीके लोग आपसमें कहते हैं कि खूब वर्णन हुआ, अब विकल्पोंसे क्या फायदा है? एक परमार्थभूत इस समयसारका अब तो अनुभवन करो, अन्य विकल्प करना भूल जावो। अपने पास जो बैठे हैं, जो तुम्हारी इस धर्म चर्चामें भी सहायता करने वाले अध्ययन ज्ञापन सबमें जो सहयोगी हुआ है ठीक है। अब क्षणमात्रको सबको भूलकर सब विकल्प त्यागकर एक परमार्थभूत आत्माका संचेतन करो।

अलभ्य लब्धसे लभ्य लाभ—भैया! भोजन बनानेमें तो बड़ी खटपटें करीं और खानेके समय लड़ाई हुई तो भोजनको कूड़ेमें डालकर अपने अपने घर चले गए, ऐसा कोई करे तो उसे कोई बुद्धिमान् न कहेगा। इस प्रकार चर्चावों द्वारा, अध्ययनों द्वारा ये सब व्यवस्थायें बनायीं, तत्त्व मर्म समझा, अब समझे हुए मर्मका पुरातन वासनावोंके संस्कारवश यों ही विस्मरणके कूड़ेमें फेंक दे तो इसे कौन बुद्धिमान् कहेगा? बहुत मुश्किलसे चीज हाथ आये और उसे यों ही फेंक दे। जैसे कहीं बड़ा कीमती रत्न मिले और उसे समुद्रके कूड़ेमें फेंक दे तो उसे कौन बुद्धिमान् कहेगा? एक इस समयसारका संचेतन करो।

स्वकीय परमार्थ शरण—यह समयसार अपने ज्ञानरस करि भरा हुआ अपने ज्ञानानन्दघन स्वरूपको लिए हुए जो एक अन्तरका स्फुरण है वह ही तो एक समयसार है। उस समयसारसे उत्कृष्ट इस लोकमें अन्य कुछ तत्त्व नहीं है। जावो तुम कहाँ जाते हो, किसकी शरण गहते हो? घर अच्छा बना लिया, कब तक रहेगा घरमें। छोड़ना ही तो पड़ेगा। पुत्रोंके पास रह लो, कब तक रहोगे, कहां शरणमें जाते हो, कब तक रहेंगे वे? और जब तक हैं भी तब तक भी उनके कारण कोई बाधा न आए, इसका

भी कुछ जुम्मा नहीं है। जब स्वयंमें कषाय भरी हुई है तो दूसरोंका उठना बैठना ही देखकर कल्पनामें यह अर्थ लगा सकते हैं कि इसको मेरा कुछ ख्याल नहीं। यह अपमान भरी चालसे चलता है। जब स्वयंका उपादान अयोग्य है तो बाहरके पदार्थोंमें कुछ भी कल्पना करके अपने आपको दुःखी किया जा सकता है। जावो कहां जावोगे शरण? जैसे घरके बिगड़े हुए बच्चेको बाप कहता है, कि तू छोड़कर जाता है चला जा, जहां जाता हो। अब बालक को कहां शरण है? सो यहां वहां घूम घामकर फिर अपने ही घर आता है। इस उपयोगको कहां शरण है बाहर? ढूँढ लो, कहीं कोई शरण होता हो तो बतलावो। अरे यह देह भी तो शरण नहीं है। यह भी तो अचानक धोखा दे जाने वाला है। किसकी शरण पकड़ते हो और देखो एक अन्तरमें नित्य प्रकाशमान ज्ञानस्वभावमें उपयोग बना रहे तो इस स्थितिमें इस द्रव्य और पर्यायकी ऐसी एकरसता हो जायेगी व परमार्थ और व्यवहारमें ऐसा संगम हो जायेगा कि प्रेक्टिकल सर्व सिद्धि और आनन्द इसके प्रकट होगा। इस समयसारसे उत्कृष्ट इस लोकमें अन्य कुछ नहीं है।

ज्ञानभावनामें द्रव्यलिङ्गका मूल्य—इस प्रकरणमें ज्ञानभावनाका उपदेश किया जा रहा है, जिस ज्ञानभावनाके बिना बड़ा व्रत तप संयम साधुपद निर्ग्रन्थलिङ्ग उपसर्ग कष्ट ये सब सार्थक नहीं होते हैं। भावलिङ्गरहित द्रव्यलिङ्गका ऋषि संतोंने निषेध किया है अर्थात् ये मोक्षके मार्ग नहीं हैं। भावलिङ्गसहित द्रव्यलिङ्गके निषेधकी बात नहीं जानना। भावलिङ्ग सहित द्रव्यलिङ्ग होनेका अर्थ ही यह है कि उसकी श्रद्धामें यह बैठा है कि यह द्रव्यलिङ्ग मोक्षका मार्ग नहीं है यह निर्विकल्पसमाधिरूप भावलिङ्ग मोक्षमार्ग है। ऐसे भावलिङ्गसहित द्रव्यलिङ्ग तो उपयुक्त है। यहां तो द्रव्यलिङ्गके आधारभूत जो देह है उसकी ममताका निषेध है। देहके आधारभूत जो देहकी परिस्थिति है, भेष है उसमें मोक्षमार्ग माननेका अर्थात् ममता करनेका निषेध किया है। देखो पहिले भी जिनने दीक्षा ली थी, उन्होंने सर्वसंगका परित्याग किया। प्रमत्त गुणस्थानमें होने वाला प्रमाद प्रशंसाकी बात नहीं है, किन्तु दोषकी बात है और प्रमत्तअवस्थामें होने वाली व्यवहारचर्या निर्दोष ढंगसे चलना व्रत, तप आदिकी साधना करना, इनमें विकल्प करना, इनकी चेष्टा करना, यह प्रमादमें शामिल किया गया है। विषय कषायोंकी बात करना यह प्रमत्त गुणस्थानका प्रमाद नहीं है। यह तो अविरत पुरुषका प्रमाद है। जहाँ इस निर्दोष व्यवहारधर्मके पालनरूप प्रमादसे भी निवृत्त होनेकी भावना रखी जाती है वहाँ किसी प्रवृत्तिको मोक्षमार्ग जानना, यह बात ज्ञानीके कहाँ विराजेगी?

विरागतामें आत्महित—ज्ञानी संत ने दीक्षा कालमें सर्व संगोंका

परित्याग ही कर दिया। देह भी तो परिग्रह है, उसका त्याग नहीं कर पाया। अन्तरकी भावनामें इसका भी त्याग है। कहां जाय देह, किन्तु यह देह भिन्न है, मैं आत्मा भिन्न हूं, मेरा काम मेरी आत्मासे होगा, मेरी आत्मामें होगा। देहमें रहता हुआ भी यह आत्मा स्वरूपमें परिपूर्ण स्वतंत्र सत् है, ऐसी दृष्टि हुई है तो देह भी परिग्रह नहीं रहा, पर वह स्थिति ऐसी है कि देहको कहाँ छोड़ दो। सो देहका त्याग नहीं हो सका। कहते हैं कि कर दें वे त्याग। कैसे कर दें? फांसी लगा लें, तो यह कोई साधनाकी बात नहीं है, वहाँ तो और संक्लेश हैं, आत्महत्या है, संसारमें रुलना है, कहाँ छोड़ा जायेगा यह देह और फिर इस प्रकार इस देहको त्याग देने से मर जाने से देह छूटेगा नहीं। अगले भवमें फिर देह मिलेगा। इसे तो देह इस ढंगसे छोड़ना है कि फिर यह देह कभी न मिले। इस ढंगसे छोड़ने का उपाय क्या है? वह उपाय यही है कि देह है तो रहने दो, ज्ञाताद्रष्टा रहो और समय-समय पर इस देहको खिला दो, भोजन करा दो जिससे जिन्दा बना रहे और अपने ध्यान ज्ञानका पूरा काम करो।

विकल्पपरिहारके परमार्थतः त्यागपना—यह देह अन्य परिग्रहोंकी भांति जुदा नहीं किया जा सकता, लेकिन देहसम्बन्धी ममता, यह मेरा देह है, यह मैं साधु हूं, यह मेरा भेष है ऐसा विकल्प तो व्यवहारसे भी न करना चाहिए अर्थात् निश्चयमें तो ज्ञायकस्वरूप आत्माकी निगाह रखना ही है और कोशिश जितनी करो, यत्न जितना करो वह ज्ञायक-स्वरूपके अनुकूल मेरा उपयोग बना रहे, ऐसी कोशिश करो। यही हुआ व्यवहार। तो देह नहीं छूटता है पर 'मैं देह हूं' इस प्रकारकी भावना प्रतीति विकल्प मत रखो। अभी यहीं आप देख लो, शरीर पर कितने कपड़े पहिने हो और उन कपड़ोंके भीतर जेब होंगी, उन जेबोंमें कुछ रखे भी होंगे और फिर एक यह देह ही बड़ा आवरण है फिर भी जब आपकी दृष्टि अपने आपके अंतस्तत्त्वकी ओर मुड़ेगी तब इन कपड़ोंका भी परिहार करके, रखी हुई चीजोंका भी परिहार करके, चमड़ी, हड्डी खून मांस इन सबका भी परिहार करके यह उपयोग अपने ध्येयभूत इस निज ज्ञायक स्वभावमात्रमें मिल जाती है। भले ही कुछ ही क्षण रह पाती हैं, पर सब को छोड़कर आखिर स्पर्श तो कर लेती है ना कोई। देहका परिहार करके आत्मतत्त्वमें स्पर्श बनाये रहना, यह साधुजनके बहुत काल तक चलता है। थोड़ा बीचमें छूटता है तुरन्त आ जाता है।

प्रमत्त व अप्रमत्त गुणस्थानमें साधुका विहार—प्रमत्त गुणस्थान और अप्रमत्त गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्त है। साधुकी ऐसी स्थिति होती है कि कुछ सेकिण्ड बाद उसे आत्माकी ओर चले जाना चाहिए। उस

आत्मासे फिर यह विलग होता है उपयोग द्वारा तो कुछ सेकिण्डों ही विलग रहना चाहिए, फिर आत्मामें चले जाना चाहिए। इस अन्तर्मुहूर्त का काल मिनट दो मिनट भी नहीं हो पाता, शीघ्र ही अपने आपमें स्पर्श करे, इस तरहकी परिणति चलती हो तो वहां साधुता विराजती है। कदाचित् आध पौन घंटा लगातार साधुको चलना भी पड़े वहां भी वह कुछ सेकिण्डों बाद अपने आत्माका स्पर्श कर रहा है। और किसी कारण से किसी शिष्य पर थोड़ा उनके रोष भी आ जाय तो कुछ क्षणों बाद रोष शांत हो जाता है और वह अपने आपका स्पर्श करने लगता है, ऐसी विशुद्ध परिणति है तब उनका नाम साधु परमेष्ठी है।

अष्टप्रवचनमातृका—इस अंतःसंयमकी रक्षाके लिए पंचसमितियों और तीन गुप्तियोंका पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। बताया गया है कि अष्टप्रवचनमातृका का भी जिन्हें सुबोध है, सुबोधके मायने युधिष्ठिर की तरह पाठ याद होना, जिन्हें अष्टप्रवचनमातृकाका सुपरिज्ञान है उनके इस अष्टप्रवचनमातृकाके परिज्ञानरूप चिन्गारीके बलसे अनगिनते भवोंके संचित कर्मोंका क्षय हो जाता है। अष्टप्रवचनमातृका ये हैं—(१) ईर्यासमिति, (२) भाषासमिति, (३) एषणासमिति, (४) आदाननिक्षेपण समिति, (५) प्रतिष्ठापनासमिति, (६) मनोगुप्ति, (७) वचनगुप्ति, (८) कायगुप्ति। इनमें प्रथम पांच समिति हैं व अन्तिम तीन गुप्ति हैं।

ईर्यासमिति--शुद्ध भावोंसे चार हाथ आगे जमीन निरखते हुए चलना इसका नाम है ईर्यासमिति। चार हाथ आगे जमीन भी देखे और किसीसे लड़नेके इरादेसे जाय तो वह ईर्यासमिति नहीं है। चार हाथ आगे जमीन देख कर भी चले और मंदिरके लिए भी जाय, पर परस्परमें रागद्वेष की बातें करता हुआ जाय अथवा अपने भावोंमें कलुषता रखकर जाय तो वह ईर्यासमिति नहीं है। ईर्यासमितिमें चार बातें होनी आवश्यक हैं—अच्छे कामके लिए, अच्छे भावों सहित जाय, दिनमें जाय और चार हाथ आगे जमीन निरखता हुआ जाय, यह है ईर्यासमिति।

भाषा, एषणा व आदाननिक्षेपण समिति—भाषासमिति क्या है? हित मित प्रिय वचन बोलना सो भाषासमिति है। जो दूसरोंका हित करें, दूसरोंके प्यारे लगें ऐसे वचन साधुजनोंको बोलना चाहिए। परिमित वचन बोले, अधिक न बोले। हितकारी वचन बोले व प्रियवचन बोले यही है भाषासमिति। एषणा समिति शुद्ध निर्दोष अतरायरहित विधिपूर्वक जो मिला आहार उसमें ही संतुष्ट हो और वह आहार भी धर्मसाधन में चूँकि क्षुधाशांतिकी भी आवश्यकता है सो क्षुधाशांतिके प्रयोजनके अर्थ जैसे गड्ढा भरा ऐसे ही प्रयोजनके अर्थ शुद्ध आहार कर लेना इसका

नाम एषाणासमिति है। चीजके धरने उठानेमें किसी जीवको बाधा न हो इसको आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं। किनका धरना, उठाना—पिछी, कमण्डल, पुस्तक आदिका, न कि गृहस्थोंकी नाई ईंट, पत्थर, चूना वगैरह का। अपने संयमकी साधनामें उपयोगमें आने वाली चीजोंका ठीक प्रकारसे धरना उठाना, जिससे किसी जीवको बाधा न हो सो आदान-निक्षेपण समिति है।

प्रतिष्ठापना समिति—भैया! कोई अष्टप्रवचनमातृकाका निर्दोष अभ्यासी है, निर्दोष आचरण वाला हो, किन्तु वह जानता अधिक न हो, फिर भी वह श्रुतकेवली बनकर और केवलज्ञानी बनकर अंतमें निर्वाणको भी प्राप्त कर लेता है। प्रतिष्ठापना समिति शुद्ध निर्जन्तु जमीन देखकर वहां मल मूत्र थूक आदि करना सो प्रतिष्ठापना समिति है। कोई बहुत बढ़िया जगह देखकर मान लो यह पूजाकी छत है, बड़ा अच्छा मैदान है, जहां मनुष्य बैठते हैं, गोष्ठी करते हैं और अपनेको धर्मात्मा मानकर कि इससे निर्दोष और बढ़िया जगह क्या होगी, एक चींटी भी नहीं है, वहां मल मूत्र कर दे तो प्रतिष्ठापना समिति नहीं है। केवल रूढ़िवश कोई अन्तस्तत्त्व न जानकर धर्मात्मापनेका आचरण करे तो वह खुदगर्जीमें शामिल है, धर्मपालनमें शामिल नहीं है। इन सब बातोंका शास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक वर्णन है।

गुप्तियां—अब तीन गुप्ति क्या हैं? मनको वश करना, वचनको वश करना और कायको वश करना। किसी भी प्रसंगमें कुछ मन बिगड़ता हो तुरन्त मनको बिगाड़से रोक लेना और अपने शुद्ध तत्त्वमें लेना, सो मनोगुप्ति है। ऐसे ही कैसी ही घटनावोंमें वचनोंको अयोग्य व्यवहारमें न लेना, वश कर लेना, वचनगुप्ति है। उपद्रव होने पर भी शरीरका दुष्प्रयोग न करना, शरीर भी वश कर लेना, सो कायगुप्ति है।

विशुद्ध अष्टप्रवचनमातृकाका प्रभाव—ऐसे अष्टप्रवचनमातृका का पालन साधुजन करते हैं और उस निर्दोष व्यवहारसे उनमें इतनी विशुद्धि बनती है, धर्मध्यान बने, शुक्ल ध्यान बने, श्रुतकेवली बन जाय, केवली बन जाय, निर्वाणको भी प्राप्त हो जाय, वहाँ पर भी भावलिङ्ग पड़ा है तो भावलिङ्ग सहित द्रव्यलिङ्ग तो मोक्षमार्ग मुक्ति है, पर ज्ञानभावनाको छोड़कर कोई भी लिङ्ग मोक्षका मार्ग नहीं है।

साधुकृत कर्म—भैया! प्रथम तो यह निर्णय करना चाहिए कि साधु ने द्रव्यलिङ्ग धारण किया या अन्दरमें कोई भावना ज्ञानकी बढ़ी जिससे कि द्रव्यलिङ्गकी स्थिति बन गयी। परमार्थ बात यह है कि इस चिदानन्द स्वरूप भगवान आत्माने अपने आपके सहजस्वरूपका भान करके इसही

स्वरूपमें ऐसी लगन लगायी जिसके फलस्वरूप सारा आरम्भ और परिग्रह छूट गया, ऐसा जानकर उपभोगसहित ज्ञानी प्रवृत्त होता है तो अन्तरज्ञान की उपासनामें प्रवृत्त होता है और ऐसे इस ज्ञानी संतको जब व्यवहार-क्रिया करनी होती है तो वह ऐसी सावधानीसे हुआ करती है। देखो तभी अरहंत देवने दर्शन ज्ञान चारित्रकी सेवा की और द्रव्यलिङ्गमें ममताका परिहार किया।

बहिःतुषत्यागपूर्वक अन्तस्तुषत्याग— बात यद्यपि ऐसी है कि जैसे बाहर छिलका रहने पर अन्दरके चावलकी स्वच्छता नहीं प्रकट होती है और जिसके अन्तरङ्गकी मलिनता दूर हुई है, भीतरके चावलकी ललाई दूर हुई है तो वहाँ यह तो समझा ही जाता है कि यहाँ बहिरङ्ग छिलकोंका त्याग नियमसे हुआ है, इस नीतिसे समस्त परिग्रहोंका त्यागरूप बहिरङ्ग द्रव्य-लिङ्ग होने पर भी भावलिङ्ग हो अथवा न हो वहाँ कोई नियम नहीं है। किन्तु जिसके भावलिङ्ग होता है, ज्ञानकी ऐसी प्रबल स्थिति और अनुभूति होती है उसके सर्वपरित्यागरूप द्रव्यलिङ्ग होता ही है।

अन्तर्नैर्ग्रन्थ्य—कदाचित कोई स्थिति ऐसी हो, कोई तपस्वी ध्याना-रूढ़ बैठा हुआ है, उस पर किसी दुष्ट पुरुषने वस्त्रादिक डाल दिया या अन्य किसी आभूषण आदिकका शृङ्गार बना दिया तो भी वह साधु तो निर्ग्रन्थ ही है। सकल पदार्थोंमें ममताका न होना और सबसे विविक्त ज्ञानस्वरूप आत्माकी अनुरक्तता होना, यह सर्वोत्कृष्ट अलौकिक वैभव है। इसके स्वाद और आनन्दकी उपमा तीन लोकके किन्हीं भी वैभवोंके प्रसंगसे नहीं दी जा सकती है। इन साधुजनोंको जानकर ऐसा उपसर्ग किया, वस्त्रादिक डाल दिया, आवरण आदिक पहिना दिया फिर भी वे निर्ग्रन्थ ही हैं और उसही स्थितिमें वे मोक्ष भी गए हैं।

विपत्तिका वरदान—पाण्डवोंका दृष्टांत बहुत प्रसिद्ध है कि उनके दुश्मनोंने अकेला असहाय पाकर कि ये निःशस्त्र हैं, निष्परिग्रह हैं, निरारम्भ हैं, ये कुछ करने को तो हैं नहीं, पाषाण की तरह खड़े रहनेका ही इनका संकल्प हुआ है, ऐसे अवसरको देख कर शत्रुवोंने उनको गरम लोहेके आभूषण पहिनाए, किन्तु वे निज आनन्दमें ही मग्न रहे। कभी-कभी यह विपत्ति वरदान बन जाती है। रागकी नींदमें सोये हुएको जगाने वाली कोई समर्थ घटना है तो वह विपत्तिकी घटना है। जहाँ विपत्ति नहीं आती है, जिस भवमें विरक्तिका समागम नहीं होता है उस भवके जीव तुच्छ रहते हैं।

भोगवासियोंकी स्थिति—भोगभूमियांके स्त्री पुरुषोंकी क्या जिन्दगी? उन्हें ही कमाना धमाना नहीं पड़ता, माना कि तीव्र कषायोंका प्रसंग नहीं

आ रहा है, पर उन्हें मंदकषाय कहा जाय अथवा तीव्र कषाय कहा जाय, कैसी ही दृष्टि बनालो, पर ऊपरकी तीव्र कषाय न होनेमें वे अधिक दुर्गति में नहीं जाते और अन्तरमें तीव्र कषाय रहनेसे विषयों की वाञ्छा आकांक्षा अनुरक्तिके कारण वे विशेष ऊपर भी नहीं जाते। उनका उत्पाद देवगतिमें अधिकसे अधिक दूसरे स्वर्ग तक माना गया है। स्वर्गोंके देवोंकी बात देखो—वैसे तो यह नियम ही है कि उन्हें नीचे आकर जन्म लेना पड़ता है क्षेत्रकी अपेक्षा अथवा लोक दृष्टिकी अपेक्षा। देव पुनः देव नहीं बन सकते। यह सब क्या है, एक विपत्ति और सम्पत्तिका नाटक है। रागकी नींदमें सोये हुए पुरुषोंको जगानेमें समर्थ एक विपत्ति ही है। देखो गजकुमार, सुकौशल, पाण्डव आदि अनेक महापुरुष इन विपत्तियोंसे ही बहुत जल्दी शिवपुर पहुंच गए या उत्कृष्ट वैकुण्ठमें पहुंच गए। वैकुण्ठ मायने हैं कल्पातीत देवोंके स्थान। तो ऐसा अनुरूप और वस्त्राभरण अलंकार आदिक कोई डाल दिया जाय तो भी वह साधु अन्तरमें निर्ग्रन्थ ही रहता है।

भावलिङ्गमें द्रव्यलिङ्गका सहयोग—कहीं कहीं ग्रन्थोंमें ऐसा भी लिखा मिलता है कि जैसे भरत जी ने अन्तर्मुहूर्तमें ही मोक्ष पाया और किसी कारण कोई-कोई लोग तो यह भी नहीं जानते कि भरत जी ने भी निर्ग्रन्थ धर्म ग्रहण किया। उस स्थितिमें अन्तरमें आत्मस्वरूपकी उपासना की तब मुक्त हुए क्योंकि थोड़े ही कालमें उनके निर्वाण हुआ है। भावलिङ्गरहित पुरुषको द्रव्यलिङ्ग मोक्षका कारण नहीं है, यह बात सत्य है और यह भी सत्य है कि भावलिङ्गसहित पुरुषको यह द्रव्यलिङ्ग सहकारी कारण होता है। क्या कोई ऐसा भी सुना गया है कि ज्ञान-ज्ञानकी उपासनासे ही गृहस्थी में रहते हुए आभरण वस्त्रोंके बीच भी मुक्त हो गए हों, किन्तु यह बात सही है कि द्रव्यलिङ्ग भी धारण करे, परन्तु जिसकी बुद्धि द्रव्यलिङ्गमें अटक गयी है, मैं साधु हूं, मेरेको यों चलना चाहिए, यों बैठना चाहिए, लोगोंमें यों रहना चाहिए और मेरा लोग इस तरहका सम्मान करें, ऐसी ही उनकी स्थिति है और मैं इस तरह माना जाऊँ, यह मेरा पद है ऐसी जिनको द्रव्यलिङ्गमें ममता जगी है उनके लिए कहा जा रहा है कि यह द्रव्यलिङ्ग मोक्षका मार्ग नहीं है। वस्तुस्वरूपके विशुद्ध जो पुरुष हठ बनाए हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं किन्तु मिथ्या वासनासे रंगे हुए हैं।

मुक्तिमार्गमें शुद्ध तत्त्वके आश्रयकी मुख्यतापर एक जिज्ञासा—भैया! इन सब विवरणोंका सार यह है कि जीव शुद्ध आत्मतत्त्वका आश्रय करे तो मुक्त होता है। अशुद्ध तत्त्वका, परद्रव्यका, परभावका आश्रय करे तो वहां मुक्ति नहीं होती है। यहां शंका यह हो सकती है कि छद्मस्थ जीव

ही तो मोक्षमार्गमें लगा करते हैं और छद्मस्थ हैं अशुद्ध, तो वह शुद्धतत्त्व कहां से ले आएँ जिसकी वे उपासना करें? परमात्मा परद्रव्य है इस कारण इनके लिए अशुद्ध तत्त्व है। परद्रव्यरूप अशुद्ध तत्त्वकी उपासनासे मुक्ति नहीं बतायी है। हाँ, वस्तुकी शुद्धिके अनुरूप अथवा अपने स्वभावकी स्मृतिके लिए आदर्शरूप प्रभु भगवंत है, अतः स्तवन तो युक्त है, किन्तु परद्रव्य और परभाव इस मुमुक्षुके लिए अशुद्ध तत्त्व हैं शुद्ध तत्त्व। तो इस मुमुक्षुमें अपने अन्तरमें बसा हुआ है। उसका ध्यान न लेकर जिज्ञासु शंका करता है कि छद्मस्थ जीव ही तो मोक्षके मार्गमें लगता है और छद्मस्थ है वर्तमानमें अशुद्ध, शुद्ध पर्याय तो उसके नहीं है, राग है, द्वेष है, कषाय है, सभी तो चल रहे हैं, फिर उनको अवकाश कैसे मिले कि वे मुक्तिको पा सकें।

मुक्तिमार्गमें शुद्धतत्त्वके आश्रयकी मुख्यताका समर्थन — उक्त जिज्ञासाका समाधान तीन प्रकारसे किया जा सकता है। पहिला तो यह कि छद्मस्थ जीव कथञ्चित् शुद्ध है, कथञ्चित् अशुद्ध है। यह छद्मस्थ जीव यद्यपि केवल ज्ञानादिक शुद्धिके चरम विकासकी अपेक्षा शुद्ध नहीं है तो भी मिथ्या मोह विपरीत आशय इनके दूर होनेसे और सम्यक्चारित्रकी वृत्ति बनाने से यह शुद्ध है—एक बात।

शुद्ध तत्त्वके आश्रयकी द्वितीय दृष्टि—दूसरी बात यह है कि छद्मस्थों का भी जो भेदविज्ञान है, आत्मज्ञान है वह अभेदनयसे आत्मस्वरूप ही तो है। इस कारण एक देश प्रकट हुए आत्मज्ञानके बलसे इसकी सकल देश व्यक्त होने वाले केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है। छोटी ही आगकी चिनगारीसे तो बड़े-बड़े ढेर जल जाया करते हैं। कोई यों कहे कि अरे यह तो बहुत बड़ा ढेर है, इतने ढेरके बराबरके ढेरमें आग मिले तो यह जले, तो अब ढूंढो उतने ढेरकी आग। अरे आगकी छोटी चिनगारी ही इतने बड़े ढेरको आगरूप बनानेमें समर्थ है, क्योंकि जो चीज बनायी जाती है उसकी ही जातिकी यह चिनगारी है। इसी प्रकार जो केवलज्ञान बनता है, केवल शुद्ध निर्दोष ज्ञान, उसकी ही जातिका यह शुद्ध सहजज्ञान यहां दृष्टिमें आया है और यह ही आत्मस्वरूप उस सकल विमल केवलज्ञान को प्रकट करनेमें समर्थ है।

शुद्ध तत्त्वके आश्रयकी तृतीय दृष्टि—तीसरी बात यहाँ यह जानिए कि जो यह उपदेश दिया गया है कि शुद्ध तत्त्वका आश्रय करने में मुक्ति होती है, वह शुद्ध तत्त्व न तो परद्रव्यरूप है, न परभावरूप है किन्तु अपने आपका जो सहजस्वभाव है चैतन्यभाव, वह है शुद्ध तत्त्व। अशुद्ध अवस्था होने पर भी यह शुद्धतत्त्व स्वभावतः सहज ही आत्मामें प्रकाशमान है,

उसका आश्रय करनेसे उस शुद्धपर्यायकी उत्पत्ति होती है। यदि यह ही एक हठ किया जाय कि क्षायोपशमिक ज्ञान तो आवरण सहित है, वह शुद्ध नहीं है तब फिर कदाचित् मुक्ति हो भी नहीं सकती।

मुक्तिसाधक भाव—देखिए जीवके ५ भावोंमें से औदयिक भाव तो मोक्षका कारण है ही नहीं, क्योंकि वह तो कर्मविपाकका परिणाम है, वह तो संसारस्वरूप ही है। पारिणामिक भाव भी मोक्षका कारण नहीं है, क्योंकि पारिणामिक भाव समस्त जीवोंमें शाश्वत विराजमान् है, फिर क्यों नहीं यह शुरूसे मुक्त रह गया, अब तक क्यों यह संसारमें पड़ा हुआ है ? अब रहे तीन भाव, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव। यह भाव चूँकि सम्यग्दर्शन सहित है और उस पारिणामिक भावकी दृष्टिको लिए हुए है। इस कारण इन तीन भावोंसे मोक्ष होता है अर्थात् ये तीन भाव मोक्षके कारण हैं। शेष दो भावोंमें औदयिक भाव बंधका कारण है और पारिणामिक भाव निष्क्रिय है, वह किसी भी बातका कारण नहीं है।

भावश्रुतकी महिमा—यद्यपि वहां भी यह तथ्य है कि ये औपशमिक, क्षायोपशमिक व क्षायिकभाव एक पारिणामिक भाव शुद्ध चेतनस्वभावका आलम्बन करनेके कारण मोक्षके कारण हैं, फिर भी पारिणामिक भाव तो स्वयं कारणकार्यके विकल्पोंसे दूर है। वह तो अनादि अनन्त अहेतुक सर्वथा अंतःप्रकाशमान् है। इससे यह ही जान लेना कि क्षायोपशमिक होने पर भी यह श्रुतज्ञान मोक्षका कारण होता है। यह भावश्रुत ही मोक्ष का मार्ग है। भावश्रुतज्ञान निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्वका परिज्ञान करता है, परिच्छेदन करता है। ज्ञान ही का नाम परिच्छेदन है, परन्तु परिच्छेदन में यह मर्म पड़ा हुआ है कि अन्य हेय तत्त्वोंको जुदा करके उपादेय तत्त्वमें लेनेकी कला वाला यह परिज्ञान है। और वीतराग सम्यक्चारित्र के साथ रहने वाला शुद्ध आत्मतत्त्वरूप जो भाव श्रुत ज्ञान है, वह मोक्षका कारण है। पारिणामिक भाव तो ध्येयरूप है, ध्यानरूप नहीं है। इस कारण वह कार्यकारण भेदसे रहित है।

तत्त्वसार—भैया ! बहुत विकल्पोंके करनेसे क्या लाभ है ? अब तो एक ही पारिणामिक भावस्वरूप चित्स्वभाव मात्र आत्मतत्त्वका परिज्ञान करो। इस आत्मतत्त्वको छोड़कर जगतमें और कुछ उत्कृष्ट नहीं है। किसकी शरणमें जावोगे, जगतमें सब धोखा मिलेगा। अमृतचन्द्र जी सूरि इस समयसार की समाप्तिके बाद अंतमें एक गाथा और कहेंगे। वह है अंतिम भावकी सूचना देने वाली गाथा। समयसार ग्रन्थ तो यहां ही पूर्ण हो रहा है। इस समय अमृतचन्द्रसूरि एक श्लोकमें समाप्तिके समय कुछ

प्रशंसा और कुछ विशादको प्रकट करने वाला आशय दिखा रहे हैं। अच्छी चीज जब समाप्त होनेको होती है तो मनमें विशाद होता है। जो अच्छी बात अब समाप्त हो गयी है। ऐसी मानो विषादकी सूचना दे रहे हों और इसहीके मर्ममें इसको महत्ताको भी बता देने वाली हो, ऐसी शिक्षा रूप बात इस श्लोकमें कह रहे हैं।

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नय त्॥

लोकनेत्रसमयसार—अब विज्ञानघन आनन्दमय स्वरूपको प्रत्यक्ष प्रकट कराते हुए यह जगत्‌की आँख जो कि अक्षय है अब पूर्णताको प्राप्त होती है। यह समयसार ग्रन्थ भव्य लोगोंके लिए आंखकी तरह है। जैसे आँख वाला पुरुष देखकर अपनी योग्य प्रवृत्ति करके कार्यको सिद्ध कर लेता है, इसही प्रकार इस समयसारके वाच्यको उपयोगमें उतारने वाले पारमार्थिक आंखों वाला पुरुष अपने अन्तरमें ज्ञानवृत्तियोंको प्रकट करता हुआ आनन्दमय सर्व सिद्धि प्राप्त कर लेता है। आज यह पूर्ण हो रहा है, इस का अर्थ यह है कि अब आचार्यदेव इस ग्रन्थपर लिखनेका विराम कर रहे हैं, अब यह ग्रन्थ पूर्ण कर रहे हैं।

अभीष्टसमापनपर विषाद—शायद थालीमें जब अच्छे रसगुल्ले परोसे जा रहे हों और वे तीन चार हैं मानो, जब वह चौथा भी खाने लगते हैं तो समाप्त ही तो हो रहा है। शायद थोड़ा विषाद करने लगते हों कि अब खानेको नहीं बचा। जिसे जो चीज अच्छी लगती है वह समाप्त हो जाय तो मनमें कुछ खेद तो आना होगा। आचार्यदेवको खेद आया हो अथवा न आया हो, यह मैं नहीं जानता हूं, किन्तु मुझे तो ऐसा मौका आया। करीब ३२ वर्ष पहिले की बात है जब शुरू-शुरूमें समयसार ग्रन्थको पढ़ने का मौका आया तो इस ग्रन्थकी समाप्तिमें दो आंसू निकल ही आए, क्यों कि इस ग्रन्थको पढ़नेसे रात दिन प्रसन्नता रहा करे। अब यह ग्रन्थपूर्ण हो रहा है। भले ही पूर्ण होनेके बाद इसी ग्रन्थको फिर शुरू किया जा सकता है। पर जो रुचि पहिले पढ़नेमें होती है उतनी रुचि, उतना उस प्रकारका रस दुबारा पढ़नेमें नहीं रहता। जैसे गरम तवेको एक बार चूल्हेसे उठा कर नीचे रख देते हैं तो वह तवा फिर दुबारा चूल्हेमें रखें तो तुरन्त ही उसमें ताव नहीं आता।

समयसारकी लोकनेत्रता व भव्यप्रयोजकता—यह जगतकी आँख जो कि अक्षय है यह यों ही पूर्णताको नहीं प्राप्त हो रही है, किन्तु विज्ञानघन आनन्दस्वरूप अपने आत्मतत्त्वको यों प्रकट दिखाते हुए पूर्णताको प्राप्त होती है। यह समयसार कैसे तो जगतकी आँख है और कैसे यह ज्ञानघन

आनन्दमय निज तत्त्वको प्रत्यक्ष प्रकट करता हुआ अपना विरद रखता है, इस मर्मको भी बतानेके लिए और इस समयसार ग्रन्थका जो मनोयोग पूर्वक अध्ययन करे उसको कैसा फल मिलता है ? इस फलको बतानेके लिए भी अब आचार्यदेव अंतिम गाथामें प्रशस्तिरूप अपना आशय व्यक्त करते हैं।

जो समयपाहुडमिणं पडिऊणं अत्थतच्चदो णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो पावदि उत्तमं सोक्खं ॥४१६॥

समयसारके परिज्ञानका फल—जो भव्य पुरुष इस समयसार ग्रन्थको अच्छे भावोंसे पढ़कर जानकर इसके अर्थरूप ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्वमें ठहरेगा उस भव्य आत्माके उत्तम सुख होगा। यह फलात्मक, आशीर्वादात्मक और भव्यात्मक वर्णन अंतिम प्रशस्तिमें किया जा रहा है। यह समयसार-भूत भगवान परमात्माका प्रकाशक है। इस भगवान परमात्मतत्त्वके समस्त मर्मका प्रकाशक होनेसे यह समयसार ग्रन्थ स्वयं शब्द ब्रह्मस्वरूप है। कारणसमयसार तो अर्थब्रह्म है और यह समयसार ग्रन्थ शब्दब्रह्म है और इसका जाननहार पुरुष ज्ञानब्रह्म है। ऐसे इस शब्दब्रह्मकी तरह आचरण करने वाले इस समयसार ग्रन्थका अध्ययन करके समस्त विश्वके प्रकाशनेमें समर्थ परमार्थभूत चित्प्रकाशरूप परमात्माका निश्चय करते हुए अर्थको और तत्त्वको जानकर इस ही एक अर्थभूत एक विज्ञानघन परमब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मामें जो सर्व उपयोग करके ठहरेगा वह शीघ्र उत्तम सुखको प्राप्त होगा।

तत्त्वबोधकला—वह उत्तम सुख अनाकुलतास्वरूप है। वह अनाकुलता परमानन्दरूप है। आकुलता न होना इतना ही मात्र वहाँ सुख नहीं है किन्तु परमानन्दसे भरपूर ऐसा वहाँ उत्तम सुख है। जो जानेगा इस कारणसमयसारको तो उसके ज्ञानमें ही ऐसी कला है कि साक्षात् उसी क्षण से वह चैतन्यैकरस बढ़ता हुआ जाता है अर्थात् उपयोगमें चैतन्यरसका स्वाद वृद्धिंगत होता जाता है। उस एक चित्स्वभाव करि निर्भर निज स्वभावकी स्थिति निराकुल आत्मरूप होनेसे वह भगवान आत्मा परमानंद भावको स्वयमेव प्राप्त होगा।

समयप्राभृतकी अन्वर्थता—इस ग्रन्थका नाम है समयप्राभृत। अर्थात् समय नामक राजासे भेंट करनेके लिए उपहारका काम देने वाला यह ग्रन्थराज है अथवा उस समय नामक आत्मतत्त्वसे भेंट करा देने वाला यह ग्रन्थराज है। समय नाम है सर्वद्रव्योंका। उसमें जो सारभूत है वह है आत्मतत्त्व, उसका नाम समयसार है और उस आत्माके समस्त वर्णनमें व्यापे हुए समयविस्तारमें यह जो सारभूत है उसका नाम है समयसार

अथवा समय नाम स्वयं आत्माका है। सम और अय अर्थात् जो एक साथ स्वगुणपर्यायोंसे एकताके रूपसे जाने, परिणमे उसे समय कहते हैं।

आत्मबलका उपयोग—जगतके प्राणियोंने अपने आपके बलका अब तक दुरुपयोग ही किया। यह बल क्या कम बल है? व्यवस्थाएँ बनाना, भोग भोगना, इतने विकल्प मचाना, ऐसे विभाव कर लेना, यह क्या आत्मबलकी निशानी नहीं है, पर इसने आत्मबलका दुरुपयोग ही किया। विषयोंके भावोंसे हटकर अपने आपके स्वभावरसमें उपयोगी होता तो आत्मबलका भी सदुपयोग कहा जा सकता था। उस दुरुपयोगमें अब तक जीवका कोई ठौर ठिकाना नहीं बन सका। यहां का भटका वहाँ पहुंचता है और भटक-भटक कर जहाँ जन्म लेता है वहाँ ही उस समागमका अनुरागी बनकर अपने आपका विस्मरण करके हैरान होता है। इसकी हैरानी मिटानेका यदि कोई उपाय है तो वह यही स्वाधीन उपाय है कि स्वयं सुरक्षित, परिपूर्ण निजतत्त्वका दर्शन करले तो सर्व भय मिट जायेंगे, सर्वसंकट टल जायेंगे, पर ऐसा मोहमें यह प्राणी कर नहीं पाता।

आत्मधर्म—आचार्यदेव कहते हैं कि इस समयसारको अर्थसे जान कर, पढ़कर और तत्त्वसे जानकर समयसारमें स्थित करो। केवल पाठ मात्रसे यह आत्मज्योति नहीं जगती। हां पाठ करनेसे केवल श्रद्धा पुष्ट होती है और श्रद्धाके कारण ही पाठ करते हैं। वहां पुण्यबंध हो जाता है पर धर्मभाव तो निज सहजस्वभावका स्पर्श हुए बिना जगता नहीं है। संसारसे उद्धार होनेका उपाय धर्मका पालन है। यह धर्म प्रथम तो ऐसा स्वरूप रखता है जो केवल आदर्श की चीज अथवा दर्शनका तत्त्व रहता है। वस्तु के स्वभावको धर्म कहते हैं और आत्माके स्वभाव को आत्मधर्म कहते हैं। वह धर्म है चित् स्वभाव। पर कर्तृत्व भोक्तृत्वकी कल्पनासे रहित, बंधकी दशावोंसे रहित अपने ही स्वरूपके कारण अपने ही स्वभावरूप यह है समयसार, कारणसमयसार चित्स्वभाव वह धर्म है। ऐसी धर्मकी दृष्टि करनेका भी नाम धर्म है। निश्चयसे धर्म चित्स्वभाव है, और उस चित् स्वभावकी दृष्टि करना व्यवहार धर्म है और उस चित् स्वभावकी दृष्टिका लक्ष्य रखते हुए कमजोर अवस्थामें अन्य धार्मिक क्रियाएँ करना यह व्यवहार धर्मका व्यवहार धर्म है। उन धार्मिक क्रियावोंके करते हुएमें इस चित्स्वभाव धर्मकी याद न हो, इसका लक्ष्य न हो, केवल क्रियाकाण्डों पर दृष्टि रखकर उसने धर्म कर लिया, उसे व्यवहारधर्म भी नहीं कहते हैं। ऐसे पथसे यह मुमुक्षु निर्बाध मोक्षमार्गमें चलता है। इसका वर्णन इस समयसार अध्यात्म ग्रन्थराजमें भली प्रकार वर्णन किया गया है।

आचार्यदेवका परमोपकार—आचार्यदेवका हम सब पर यह कितना

बड़ा परोपकार है, जिन्होंने अपना अनुभव करके ऐसा अमूल्य भाव दिया है, तत्त्व लिखे हैं, जिनका अध्ययन और मनन करके आज भी अनेक मुमुक्षु अपने उद्धारमें लग रहे हैं। अन्य प्रकार उपकार करने वाले तो बहुतसे हैं, यहाँसे उठाया वहां पटका, वहांसे उठाया यहां पटका इस तरह के उपकार करने वाले तो लोकमें भरे हुए हैं, पर ऐसा महोपकार, जो उठाए उठाए ही रहे, पटकनेका कहीं नाम नहीं है, जो एक मुक्तिके ही मार्ग में ले जाय, ऐसा महोपकार कुन्दकुन्दाचार्यदेवके द्वारा जो हुआ है हम उसका क्या अनुराग बता सकते हैं और उनका ऋण चुकानेकी बात तो दूर ही रहो।

संतप्रवर कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी सरलता—कुन्दकुन्दाचार्य देव ने अपनी प्रस्तावनामें इतने हित मित प्रिय वचनोंसे सरलता प्रकटकी है कि देखो मैं उस एकत्वविभक्त आत्माको दिखाऊँगा, किन्तु यदि दिखा दूं तो अपने ही प्रमाणसे प्रमाण करना और यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना कि आत्मा फात्मा कुछ नहीं है, कुछ आगे भी प्रयत्न करना। कुन्दकुन्दाचार्य देव समझानेमें क्या चूक सकते हैं ? यदि समझने वाला योग्य नहीं है तो समझानेमें चूक ही जाएँगे। पर इस चूकमें समझाने वालेकी चूक मानी जाय या समझने वालेकी मानी जाय। परंतु बड़े पुरुष अपने मुँह अपनी बड़ी बात नहीं किया करते। अब भी बड़े पुरुष किसी मामलेमें किसीको कुछ समझा रहे हों और वह न मानता हो, हठ करता हो, वह विरुद्ध बात ही पेश करता हो तो वह समझाने वाला कहता है कि भाई क्या करें ? हम आपको बात बतानेमें असमर्थ हैं, हम समझा नहीं सके आपको और कोई अनुदार पुरुष यों न कहेगा। वह तो यों कहेगा कि तुम्हारी समझमें ही नहीं आता और ज्यादा अनुदार होगा तो यह कहेगा कि हम क्या करें, तुम्हारे दिमागमें भुस भरा है। यहाँ आचार्यदेवने यह कहा है कि यदि मैं समझानेमें चूक जाऊँ तो छल ग्रहण न करना। समझानेमें शब्द चूक सकते हैं, कुन्दकुन्दाचार्य देवका ज्ञान नहीं चूक सकता है।

परमोपकारी श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी परमार्थतः भक्ति—कुन्दकुन्दाचार्य देवने कैसी पद्धतिसे बताया है, कैसी अनादिकालीन मोह रोगके रोगीकी सुकुमार क्रिया की है, इन सब बातोंको देखकर हम उन्हें अपने रक्षक बापू कहें, परमपिता कहें, जिन चाहे शब्दोंसे कह लें, उनका हम जीवोंपर अपार दया भाव था और हम हैं उनकी संतान जो ज्ञानके नामपर, शास्त्रके नाम पर, विद्याके नाम पर अपनी चिढ़ रखते हैं। हम धर्म करनेमें बढ़ेंगे तो मात्र इतनेमें कि इतना महल खड़ा करदे अथवा इतना उछाह बना दे, इतना बड़ा मेला बना दें, बस हमने धर्म कर लिया। कुन्दकुन्दाचार्य देवकी

हमने कहाँ भक्ति की, जिनका नाम हम मूर्तियोंमें खोदा करते हैं, कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाये और स्वाध्यायके नाम पर चाहे कोई ग्रन्थको पढ़ें तो वहां भी कुन्दकुन्दाचार्य इस रूपसे नामस्मरण कर लेते हैं, पर कुन्दकुन्दाचार्यदेव की आम्नाय क्या यह है कि ज्ञानकी ओरसे आंख मींचे रहना और उनके नाम पर नहीं किन्तु अपने ही नामके लिए बड़ा श्रम करना। जो प्रभुको नहीं जानता वह प्रभुका भक्त कैसा ? जो ज्ञानकी परख नहीं करता वह ज्ञानका भक्त कैसा ?

शरणका चुनाव—भैया ! ध्यानमें लावो, इस जगतमें कोई भी उद्धारक नहीं है। एक निजकी सहज दृष्टि हो जाय तो यही उद्धार करने वाली प्रज्ञा भगवती है, एक निर्णय रखो मनमें। ये छोटे-छोटे बालक जिन्हें कि स्वयं ज्ञान नहीं है, ये अन्य मोही जन जो विषय कषायोंके पीछे मरे जा रहे हैं इनसे उद्धारकी आशा रखे हुए हैं। जो कुछ तन है, शरीरका श्रम है वह इन मोहीजनोंके लिए है इसका अर्थ क्या है ? जितने विचार हैं कभी अधनींदमें भी पडे हैं, कहीं पड़े हैं तो उन परिजनों और बच्चोंका ही ख्याल है, इसका अर्थ क्या ? जितना प्रेमका वचन है, नम्रताका वचन है, नम जाना है वह परिजन और बच्चोंके लिए ही हो, गम खाना, दो बातें सुन लेना, औरोंकी बात तो सूई जैसी चुभे, चाहे वह किसी भी हितरूप हो और स्वयके परिजन चाहे विपत्ति पर विपत्ति ढायें, फिर भी गम खाना, धैर्य रखना, नम्रता करना, प्रेम वचन बोलना, इन सबका अर्थ क्या ? जितना धन कमाया है वह परिजनके लिए ही खर्च हो, उसे मानते हैं कि यह मेरे धनका सदुपयोग है। उसका तो अन्य जीवोंके लिए या अन्य धार्मिक उपकारके लिए कुछ भी चित्त नहीं चाहता, इसका अर्थ क्या ? बात स्पष्ट है कि मोहके रंगमें इतने गहरे रंगे हुए हैं कि मोही जीवोंको ही शरण माना है। इसने भले मुखसे कहते जाते कि मुझे देव, शास्त्र, गुरु शरण हैं ये सब ऊपरी बातें हैं। भीतरकी बात तो यह है और अन्तरमें शरण उसे माना है जिसके लिए अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व समर्पण किया जाय।

कुन्दकुन्दप्रभुका आशीर्वाद—भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देव बड़े खानदानेके पुरुष थे। समस्त समागम ऐश्वर्यसे भरपूर थे; किन्तु बचपनसे ही इन संगोंमें प्रेम नहीं जमा। और सुना जाता है कि ११-१२ सालकी ही आयुमें उन्होंने निर्ग्रन्थ दीक्षा ली और बड़ी आत्मसाधना की थे। इस ग्रन्थ की अंतिम प्रशस्तिमें कह रहे हैं। जो पुरुष इस समयसारको पढ़कर समय को जानकर इसके अर्थमें ठहरेगा उसको सच्चा सुख होगा, अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होगा।

अतीन्द्रियसुखका दिग्दर्शन--कोई मनमें शंका करे कि अतीन्द्रिय सुख भी हुआ करता है क्या, तो इस लोकमें ही देख लो-कोई पुरुष चिंता शब्दों से अलग होकर कहीं एकांतमें बैठा है। वह न किसी विषयमें प्रवृत्ति करता है, न किसीका स्मरण कर रहा है उसके पास जाकर कोई पूछता है कि तुम सुखसे तो बैठे हो ना ? तो वह यही बोलता है कि हाँ खूब सुखसे बैठे हैं। तो यह अतीन्द्रिय सुख है। किसी भी विषयको वह नहीं भोग रहा है फिर भी सुखकी झलक होती है। वहां इन्द्रियजन्य सांसारिक सुख नहीं है। सांसारिक सुख विषयोंके व्यापारके भावमें ही देखा जाता है और पंचेन्द्रिय के व्यापारसे रहित सुखको अतीन्द्रिय सुख कहते हैं। उन परमयोगीजनों को अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है और मुक्त आत्मावोंका जो अतीन्द्रिय आनन्द है वह अनुमानगम्य है तथा आगमगम्य है। होता है अतीन्द्रिय सुख, पर स्वयंमें अतीन्द्रिय सुखकी पद्धतिका आनन्द कोई जान सके तो उसे स्पष्ट ज्ञान हो सकता है कि है अतीन्द्रिय सुख।

अतीन्द्रिय आनन्दकी निरुपमता—भैया ! अतीन्द्रिय सुखकी उपमा भी क्या दी जाय ? अधिकसे अधिक यह कह सकेंगे कि जितने लोकमें उत्तम देव और मनुष्य हैं, जितने पहिले हुए थे, जितने आगे होंगे, इन पंचेन्द्रियके सुखके भोगने वाले जितने जीव हैं उन सबका मिलाकर जो सुख हो सकता हो उससे भी अनन्तगुणा सुख वह अतीन्द्रिय स्वाभाविक सुख है। यह भी कहना पड़ा है या कह दिया जाता है। जिसकी जाति भी न्यारी है उसे अतीन्द्रिय सुखका गुणा देकर उसकी बात करना कोई युक्त नहीं है, पर यह जतानेके लिए कि तीन लोकके पुण्यवंतोंका जितना भी सुख है इन्द्रिय-गम्य और जितना अनन्त कालमें हुआ है और भावी अनन्त कालमें जितने होंगे, इन सर्वसुखोंको मिला जुलाकर भी उस आनन्द की सीमाको नहीं पा सकते हैं। ऐसे अतीन्द्रिय सुखका कारणभूत यह समयसार ग्रन्थका अध्ययन और ज्ञान है।

ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी भावना—भैया ! नयोंका वर्णन करके उसके आधारसे इस आत्मतत्त्वको जानकर फिर व्यवहारनयको छोड़कर निश्चय नयका आलम्बन करके फिर निश्चयनयको भी छोड़कर केवल अर्थानुभवन रूप वृत्तिसे यह परमात्मतत्त्व दृष्ट होता है। ज्ञानानुभूति ही सर्वसंकटोंसे मुक्ति पानेका उपाय है, ऐसा जानकर हम सब इस ग्रन्थराजके अध्ययन में ज्ञानमें और मर्मके चिंतनमें लगें और उन्हीं क्रियावोंके बीच विकल्प तोड़कर निर्विकल्प चिदानंदस्वरूप इस अंतस्तत्त्वके दर्शनका आनन्द भोगा करें। इस प्रकार यह समयसार ग्रन्थ अब पूर्ण होने को है। उसके अंतमें अब अमृतचंद्र जी सूरि इस समयसारमें जो कुछ वर्णन किया गया है

उसको एक शब्दमें कहते हैं। इस प्रकार आत्माका तत्त्व ज्ञानमात्र अवस्थित हुआ। ज्ञानमात्रकी पद्धतिसे दर्शन करो तो आत्मदर्शन होता है। यह ज्ञानमात्र तत्त्व अखण्ड है, एक है, अचल है, और अपने ही ज्ञानभाव द्वारा सम्वेदनमें आने वाला है, सर्वप्रकारकी बाधाओंसे रहित है, ऐसे इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वकी ही निरन्तर सेवा करो।

अहंप्रत्यय—प्रत्येक जीव अपने आपको किसी न किसी रूपमें अनुभव कर रहा है। चाहे स्थावर भी हो, हम नहीं बता सकते हैं उनके बारेमें कि वे अपने आपको किस रूप अनुभव करते हैं, पर करते हैं क्यों कि अहंप्रत्ययरूपसे यदि अनुभव न हो, उनके वचनोंसे नहीं, किन्तु भावोंसे तो उन्हें दुःख हो ही नहीं सकता। कीड़े मकौड़े ये भी अपनेको किसी न किसी रूप माननेका अनुभव रखते हैं। मनुष्योंमें तो बात बिलकुल स्पष्ट है कि मनुष्य अपनेको कुछ न कुछ रूप मान रहे हैं। नींदमें सोये हुए किन्हीं का नाम लेकर पुकारें तो वे जल्दी बोल देते हैं। दूसरे का नाम लेकर पुकारें तो इतनी जल्दी नहीं जग पाते हैं। कुछ ऐसी प्राकृतिकता है कि यह जीव अपनेको किसी न किसी रूप अनुभव किए है। सुख और दुःख का फैसला इस ही बुनियाद पर है। हम अपनेको किस रूप माना करें कि दुःखी होते रहें और किस रूप माना करें कि आनन्द आता रहे? केवल अपनेको किसी रूप मानने पर ही यह सुख दुःख आनन्दका निर्णय है।

ज्ञानकलापर सुख, दुःख व आनन्दकी निर्भरता—भैया! आनन्द पाना कितना सस्ता है और दुःख भोगना भी कितना सस्ता है? न बाह्य पदार्थोंके आधीन दुःख है और न बाह्य पदार्थोंके आधीन आनन्द है। बैठे ही बैठे बिना कुछ श्रम किए केवल अन्तरमें अपने आपको मानने भरका ही काम है कि दुःखके अनुकूल मानते हो तो तुरन्त वही दुःख ले लो और आनन्दके अनुरूप मानना हो तो तुरन्त वहां आनन्द ले लो। धर्मके लिए बड़ी-बड़ी साधनाएँ करनी होती हैं। सारा जीवन साधनामें व्यतीत हो जाता है। उस साधनामें करना क्या है, इतना ही भर काम है। मैं अपनेको किस रूप मानूँ कि आनन्द मिले और उस ही रूप मानते रहें, जानते रहें तो आनन्द प्राप्त हो।

सामान्य तत्त्वकी महिमा—लोकमें विशेष तत्त्वकी बड़ी महिमा है और धर्ममें सामान्य तत्त्वकी बड़ी महिमा है। लौकिक परिस्थितियोंमें जो जितना विशिष्ट है वह उतना लोकमें काम चलाने वाला होता है। लोग भी विशिष्टता बतलाकर उसकी प्रशंसा किया करते हैं—यह डाक्टर है, यह दार्शनिक है, यह ज्योतिषी है, यह एम० ए० पास है, यह मिनिस्टर है, ऐसी विशेषता जाननेसे उनके लौकिक कार्य बनते हैं और धर्ममार्गमें

जितनी विशेषताता की होली कर दी जाय और सामान्यमें घुल मिलकर न कुछ जैसा रह जाय, समझो उतनी ही अधिक धर्ममें प्रगति है। अपने को किस रूप मानें कि आनन्द हो, इस विषयको कहा जा रहा है।

विशेष और सामान्यरूप अनुभवके परिणाम—कुछ अनुभवसे भी देखलो कि कुटुम्ब वाले वैभव वाले, अनेक प्रकारसे अपनेको मानने पर आनन्द हुआ क्या ? यह जीव माननेके सिवाय करता कुछ नहीं है। माननेके बाद फिर जो कुछ होता है वह सब निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धपूर्वक होता है। विशेषरूपसे अपनेको मानने पर अवश्य वहां क्षोभ होता है। विशेषरूपसे हटकर एक स्वभाव सामान्य पर पहुंचे तो वहां आकुलता नहीं रहती।

विशेषरूप अनुभवनेमें आकुलताकी प्राकृतिकता—जैसे यह माना कि मैं गृहस्थ हूं, इतने बाल बच्चों वाला हूं, तो ऐसी मान्यतामें करना क्या पड़ेगा ? उनकी खुशामद, पालन, आजीविका व रागद्वेषके अनेक प्रसंग। किसी ने माना कि मैं तो मनुष्य हूं, तो मनुष्य मानने पर करना क्या पड़ेगा ? मनुष्य जैसा व्यवहार। उसमें भी अनेक उलझनें हैं। इसकी खबर लो उसके दुःखमें शामिल हो, इसको समझावो, यहां प्रेम करो, झगड़ा शांत करावो, पचासों विडम्बनाएं करनी पड़ती हैं और कोई माने कि मैं साधु हूं तो वहां भी क्या करना पड़ेगा ? पचासों विडम्बनाएँ। ये लोग गृहस्थ हैं, हम साधु हैं, ये पूजने वाले हैं, हम पुजने वाले हैं, ये कमी क्यों रखते हैं ? हमारा आर्डर ये क्यों नहीं स्वीकार करते ? लो विकल्पोंके मारे पचासों आफतें ले लीं जब तक अपनेको किसी न किसी विशेषरूप अनुभव किया जायेगा तब तक आकुलता होना प्राकृतिक बात है।

सामान्यरूप अनुभवनेमें सहज अनाकुलता—अच्छा लो अन्तरमें साधुकी मान्यता अपनेमें नहीं रही कि मैं साधु हूं, मुझे केवल आत्मसाधना ही करनी है, ठीक है, पर साधुत्वकी श्रद्धा है तो वहां अंतःसाधना नहीं बनी। वह भी विशेष तत्त्व है। अपने को विशेषरूप जब तक अनुभवेगा यह आत्मा, तब तक क्षोभ रहेगा इसको। तब फिर और गहरे चलो। न अपनेको गृहस्थ मानना, न अपनेको मनुष्य मानना, न अपनेको साधु मानना, न अपने को किसी का साधक मानना। जब इससे और गहरे उतरते हैं तो यह अपनेको ज्ञानमात्र अनुभवते हैं। मैं केवल जाननस्वरूप हूं। आत्माका सहजस्वरूप है, बेलाग—बेदाग। अपने ही स्वभावसे जो कुछ भी आत्मस्वरूप है उस स्वरूपकी दृष्टि रखकर मात्र ज्ञानमात्र चित् स्वभावमय अपनेको अनुभवे तो वहाँ कोई आकुलता नहीं रहती है।

किसी रूपकी स्वीकारतामें अन्य स्वरूपका विस्मरण—बच्चे लोग खेल खेलमें घोड़ा बनते फिरते, अच्छा लो बन गये घोड़े। अब एक लड़का

घुटना और पैर जमीन पर रखते हुए बाहरसे आ रहा है एक बाहरको जा रहा है। किन्हीं लड़कोंने मान लिया कि मैं घोड़ा हूं और इतने अधिक आशयमें आ गए कि वे भूल गए कि हम लड़के हैं। पासमें आए, मुँहमें मुँह मिलाया, हिनहिनाया, टाप मारा या काट खाया और आपसमें बड़ी लड़ाई हो गयी। भो भैया! जब जिस रूप अपनेको माननेमें लग गये तब फिर दूसरा ध्यानमें नहीं रहता है।

भावस्वीकारताके अनुरूप प्रवृत्ति—ब्रह्मगुलालने जब सिंहका रूप धारण किया तब कैसे ही बना हो पर यह भाव तो रखना ही होगा कि मैं सिंह हूं, उस कल्पनामें ब्रह्मगुलाल हूं ऐसा भूल गया होगा। जब राजपुत्रने जो थोड़ासा अपशब्द बोला कि एकदम पंजा मारकर गिरा दिया। यहीं देख लो। मान लो कल तक बच्चीकी शादी नहीं हुई, रातको ही भांवर पड़ी तो सुबह देखो तो सब लट उसे अपने आप आ गए। घूँघट मारकर चले, सिर नीचा करके चले, सिमिट-सिमिट कर चलती, छुप-छुपकर चलती, स्वसुर दिख गया तो किवाड़में छिप जाय तो उसने अपने को मान लिया कि मैं वधू हूं। इस मान्यतासे ही ये लटके उसे अपने आप आ गए। सो आप भी सोचो कि अपनेको कैसा माना जाय कि मैं आनन्दस्वरूप रहूं।

यथार्थ आत्मभावनाका प्रसाद—भैया! यह बतानेकी तो जरूरत है नहीं कि अपनेको कैसा माना जाय कि मैं दुःखी होऊँ। वह तो सब विदित है, मान ही रहा है। अपनेको ज्ञानमात्र ही स्मरण रखे तो वहाँ आनन्द प्रकट होगा। इस ज्ञानमात्रकी मान्यतामें देहका ध्यान न रहेगा, और कोई पंचेन्द्रियको संयत करके विश्रामसे बैठ जाय तो कुछ काल तो आपको भी यह पता न रहेगा कि यह शरीर भी है क्या? अच्छा जावो आंखें मींच कर न पैर पर पैर छूते हुएकी मुद्रामें हो, न हाथपर हाथ रखे हो, पैर भी छुट्टा हाथ भी छुट्टा और आँखें मींचकर बैठे हो तो आपको भी पता न रहेगा कि देह भी है यह और जिसकी अन्तरमें आत्मसाधना चलती है उसको तो एक आत्मभावना ही रहती है। केवल एक ज्ञान ज्योति जानन ही जाननमात्र है।

जाननके जाननमें एकरसता—उपासक जाननके जाननमें ऐसा घुल जाता है जैसा पानीमें नमककी डली पड़जाय तो नमककी डली स्वतंत्र वहीं नहीं रह पाती है। पानीमें घुलकर एकरस हो जाती है। यों ही यह डलीके माफिक उपयोग जो बाह्य जगहोंमें रहता है तो डलीके माफिक जुदा-जुदा बना रहता है। जैसे कि नमककी डली तेलमें डाल दो तो नहीं घुलती है, ज्योंकी त्यों बनी रहती है, यों ही यह उपयोग बाह्य पदार्थोंको जानता है

तो वहां भी उपयोग घुलता नहीं है, न्यारी डलीके माफिक वहीं पड़ा रहता है। जब यह उपयोग ज्ञानस्वरूप जलनिधिमें प्रवेश करे तो उस ज्ञानस्वरूपमें ऐसा घुल जाता है कि वहाँ ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान की पृथक् स्थिति नहीं रहती है।

विशेषपरिहार और सामान्योपादान— सुख प्राप्त करने के लिए इस जीवने अनेक यत्न किये, मगर वे सब विपरीत हुए। इन अनन्त जीवोंमें से दो चार जीवोंको छांट लिये कि ये मेरे हैं और तन, मन, धन, वचन सब कुछ केवल चार जीवोंके लिए ही है, ऐसा निर्णय बनाए रखना और ऐसा ही करना, यह क्या आप पर कम विपत्ति है ? जो लोग संयोगमें हर्ष मानते हैं, फूले नहीं समाते हैं, अपनेको पुण्यवान समझते हैं वियोग तो उनका नियमसे होगा ही। वियोग होने पर जो २० वर्ष सुख भोगा है उसकी कसर ५ मिनटमें निकल जाती है। क्या समागम मिला ? कोई अपूर्व चीज है क्या ? मायामय जीव पदार्थ जिसका कुछ सम्बन्ध नहीं, जिस पर कुछ अधिकार नहीं उसमें अपना स्वामित्व माना जा रहा है। फल तो खुदको ही भोगना होगा। सर्व विशेष रूप अनुभवका परित्याग करके अपने आप को एक ज्ञान सामान्यरूप अनुभव करना है।

मैं क्या हूं ?— किसीने पूछा कि तुम कौन हो, तो उसका उत्तर क्या निकलेगा ? क्या निकलना चाहिए ? उत्तर देनेकी भी जरूरत नहीं है। अपने आपमें अपनेको उत्तर दे देना चाहिए। तुम कौन हो ? कोई कहेगा कि मैं अमुक चंद हूं, कोई कहेगा कि मैं गृहस्थ हूं, प्रोफेसर हूं, डाक्टर हूं, मिनिस्टर हूं, कोई कहेगा कि मैं धर्मात्मा हूं। पचासों तरहके उत्तर मिलेंगे पर यह भी उत्तर मिले किसीका तो देख लीजिए। मैं वह हूं जो सब हैं, मैं हूं एक चित्स्वभावमात्र चैतन्यपदार्थ। यों अपने आपमें सामान्यरूप अनुभव हो तो वहाँ आकुलताका क्या काम है ?

> जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम। विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ॥
> राग त्यागि पहुंचू निज धाम। आकुलताका फिर क्या काम ॥

आत्माके ये नाम हैं— जिन— जो कर्म शत्रुको जीत ले, शिव— जो स्वभावतः कल्याणमय और आनन्दघन है। ईश्वर—जो अपने सहज ऐश्वर्य का स्वामी है। ब्रह्मा—जो अपनी समस्त सृष्टियां रचने वाला हो। राम— जिस स्वरूपमें बड़े योगीजन रमण किया करते हैं। विष्णु— जो लोक और अलोकमें सर्वत्र व्यापता है अथवा व्यापनेकी प्रकृति रखता है। बुद्ध— जो ज्ञानके रस हैं। हरि— जो पापकर्मोंको हर लेता है, दूर कर देता है। हर— जो भाव कर्म जैसे अन्तरमलको भी धो डालता है, ऐसे ये जिस आत्माके नाम हैं, यदि मैं अन्यविषयक राग छोड़कर इस

अपने स्थानमें तेजमें पहुंच जाऊँ, तो फिर वहां आकुलताका क्या काम रह सकता है ?

धर्मपालनकी शीघ्रता—भैया ! मोह ममतामें पूरा कभी न पड़ेगा, अर्थात् अमूल्य दिन रात क्षण ये बिल्कुल व्यर्थ ही गुजर रहे हैं। मरकर छोड़ दिया तो क्या छोड़ा, जीवनमें ही उनको छोड़ दे तो सही पूरा पड़े। विपत्ति आने पर धर्मकी कसम खायी तो क्या खायी ? अरे जब बल है, रोगने नहीं घेरा है, बुढ़ापा नहीं आया है तब तक धर्म करलें। जिसने अपनी युवावस्थामें धर्मसाधनमें चित्त दिया है उसकी वृद्धावस्था भी सुवासित रह सकती है। धर्म वह यही है कि अपनेको अन्यरूप न मानकर ज्ञानमात्र अनुभव करना।

आत्मतत्त्वकी अखण्डता—कैसा है यह ज्ञानमात्र निज अंतस्तत्व ? अखण्ड है, न द्रव्यदृष्टिसे इसका खण्डन है, न क्षेत्रदृष्टिसे इसका खण्डन है, न कालदृष्टिसे और न भावदृष्टिसे इसका खण्डन है। यह तो एक निज सहजस्वरूप मात्र है, अखण्ड ज्ञानमात्र है। हम आप जो ज्ञान किया करते हैं, घर जान लिया, दुकान जान लिया, इतिहास भूगोल ये सब ज्ञान खण्ड ज्ञान हैं, अखण्ड ज्ञान नहीं हैं, और इसी कारण ये विवादके कारण बन जाते हैं। ज्ञानस्वभावमात्र अपनेको अनुभवना, यहाँ अखण्ड पद्धतिसे ही अनुभव किया, वहाँ अखण्ड जो ज्ञानमात्र ज्ञात हुई दशामें यह ज्ञानमात्र हूं और एक हूं, मैं नाना नहीं। गिरगिटकी तरह रंग नहीं बदलता हूं। अनादि अनन्त एक चित्स्वभावमात्र हूं, ऐसा अपने आपको अनुभव करे वहां क्लेश काहेका ?

आत्मतत्त्वकी अचलता—यह मैं ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व अचल हूं। पर्यायमुखेन बड़ी चलायमानता है, इतने पर भी पर्यायकी सेनाके भीतर उस सेनाको चीरफाड़ कर वेगपूर्वक अन्तरगृहमें प्रवेश करे तो इसे विदित होगा, अहो यह तो मैं अचल हूं, न कभी इस चित्स्वभावसे चलित हो सका और न हो सकूंगा। द्रव्यका स्वरूप ही ऐसा है। यदि कोई कभी स्वरूपसे चलित हो जाता तो आज यह दुनिया देखनेको न मिलती। इस का लोप हो जाता, शून्य हो जाता। है सब कुछ, यही इस बातका प्रमाण है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावको नहीं छोड़ता है, मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं और अचल हूं।

अन्तस्तत्त्वकी स्वसंवेद्यता—यह मैं ज्ञानमात्र इस ज्ञानमात्र स्वके द्वारा ही ज्ञानमें आ सकने वाला हूं। जानने वाला भी ज्ञान और जाननेका साधन भी ज्ञान और जो जाना जाने वाला है वह भी ज्ञान और किसलिए जानना है वह प्रयोजन भी ज्ञान और कहाँ जानना है वह भी ज्ञान, ऐसा

जहां ज्ञान ही ज्ञानका चारों ओर उजेला हो, ऐसे ज्ञानमात्र अनुभवकी दशा में इस जीवको भी अलौकिक आनन्द प्रकट होता है जो भव-भवके संचित कर्मोंको क्षणमात्रमें ध्वस्त कर देता है। अपने जीवनका एक निर्णय बनाओ मोहमें जिन्दगी नहीं बिताना है। मोहसे अब तक छलते आए, इसमें सार तत्त्व कुछ न निकलेगा। मोहरहित, रागद्वेषरहित सर्वविकल्प चिंताजालों से परे ज्ञानमात्र निज सहज स्वरूपमात्र अपने आपको अनुभवना, यही है सर्वसंकटोंसे दूर होनेका उपाय।

अन्तस्तत्त्वकी अबाधितता—यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा स्वसम्वेद्य हूं और अबाधित हूं, दियाकी ज्योति हवा चलनेसे बुझ जायेगी बुझ जावे। मैं दियाकी ज्योतिकी तरह लचड़ ज्योति वाला नहीं हूं, यह मैं ज्ञानमात्र अबाधित हूं। अनन्त कार्माणवर्गणाएँ इसमें धावा बोलें तब भी इस स्वरूप में बाधा नहीं आती। यह जीव यद्यपि बड़े वेगसे यत्र तत्र जन्म मरण करता रहता है, इतने पर भी इस आत्मामें वह स्वभाव अबाधित है। इस अबाधित स्वभावको जो संभाल पाया, वह अब परिणतिमें भी अबाधित बन जाता है।

'अखण्ड, अचल, स्वसंवेद्य, अबाधित यह मैं ज्ञानज्योतिमात्र हूं।' ऐसा अनुभव करना, सो धर्मका पालन है। इस धर्मके प्रतापसे सर्व संकटों से मुक्ति मिलेगी, मोक्ष प्राप्त होगा।

❀ इति समयसारप्रवचन पन्द्रहवां भाग समाप्त ❀